अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष

This book is the Hindi translation of the first edition (1961) of the original English book entitled—*THE CRISIS IN PSYCHIATRY AND RELIGION*—by O Hobart Mowrer and published by D VAN NOSTRAND COMPANY, INC NEW YORK, U S A The translation rights were obtained by the Commission for Scientific and Technical Terminology It has been brought out under the Scheme of Production of University Level Books sponsored by Government of India, Ministry of Education & Social Welfare

मूल्य बारह रुपये
प्रथम हिन्दी सस्करण मई 1972
मुद्रित प्रतिया 2200

प्रिंट्समैन, डोरीनालान, रोहतक

प्रस्तावना

राष्ट्रभाषा हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को विश्वविद्यालयो मे सर्वोच्च स्तर तक शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रयत्नो की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि इन भाषाओ मे ज्ञान विज्ञान की विविध शाखाओ के पर्याप्त ग्रन्थ उपलब्ध हो।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत सरकार के शिक्षा एव समाज कल्याण मन्त्रालय द्वारा एक विशेष योजना परिचालित की गई है। इस योजना के अनुसार इन भाषाओ मे मौलिक मानक ग्रन्थो की रचना करवाई जा रही है तथा अग्रेजी आदि भाषाओ मे उपलब्ध छात्रोपयोगी साहित्य के अधिकृत अनुवाद भी सुलभ किए जा रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को कम-से-कम समय मे सम्पन्न करने के लिए भारत सरकार की प्रेरणा और आर्थिक सहायता से सभी राज्यो मे स्वायत्तशासी सस्थाओ की स्थापना की गई है। इन सस्थाओ की स्थापना से भारतीय भाषाओ मे पुस्तक निर्माण के कार्य को बडा प्रोत्साहन मिलने लगा है और आशा की जाती है कि छात्रो को भारतीय भाषाओ मे सम्बन्धित विषयो की वे प्रामाणिक पुस्तके, जो उन्हे अब तक सामान्यत बाजार मे उपलब्ध नही थी, यथाशीघ्र सुलभ होगी।

हरियाणा मे पुस्तक निर्माण का यह कार्य हरियाणा हिन्दी-ग्रन्थ अकादमी के माध्यम से करवाया जा रहा है। यह हर्ष का विषय है कि प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक इस कार्य मे अकादमी को अपना हार्दिक सहयोग देने लगे है।

"मनोविकार विज्ञान और धर्म मे व्याप्त सकट" अकादमी द्वारा इस योजना के अन्तर्गत प्रकाशित किए जाने वाला छटा प्रकाशन है। इसके अनुवादक राजकीय कालेज, कुरुक्षेत्र के दर्शन विभाग के वरिष्ठ लेक्चरर एव अध्यक्ष डॉ० बाँके लाल शर्मा, एम० ए०, शास्त्री, पी०-एच० डी० है। पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डॉ० मनमोहन सहगल ने किया है।

प्रस्तुत पुस्तक डी० वॉन नास्ट्रैण्ड कम्पनी, इनकार्पोरेटिड प्रिस्टन, न्यू जर्सी द्वारा अग्रेजी मे प्रकाशित प्रो० हौबार्ट मौरर कृत "दि क्राइसिस इन

साइकैटरी एण्ड रिलीजन" का हिन्दी अनुवाद है जिसे वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के तत्त्वावधान मे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय द्वारा तैयार किया गया था। इसका सम्पादन, सशोधन एव रूप-सज्जा-सयोजन अकादमी के प्रकाशन अनुभाग ने किया है।

पुस्तक मे भारत सरकार द्वारा तैयार की गई शब्दावली का प्रयोग किया गया है, ताकि देश की सभी सस्थाओ मे छात्रो की सुविधा के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके। प्रस्तुत प्रकाशन हिन्दी माध्यम से मनोविकार-चिकित्सा-धर्म का विषय पढने वाले स्नातक कक्षाओ के छात्रो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

निदेशक,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

मुख्य मन्त्री, हरियाणा,
एव अध्यक्ष,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्राक्कथन

जब यह पुस्तक तैयार हो रही थी तब मैं एक दिन एक विद्यार्थी के साथ बातचीत कर रहा था। उसने बिना किसी विशेष जिज्ञासा के सीधे स्वभाव में पूछा कि क्या मनोविकार-चिकित्सा-धर्म के क्षेत्र में यह पहली पुस्तक होगी। उत्तर में मैंने पास की मेज पर लगभग दो फुट ऊंचे पुस्तकों के दो ढेर की ओर इशारा किया और कहा कि जरा इनके शीर्षकों पर नजर डालें। मैंने उससे यह भी कहा कि यह तो मेरा निजी चयन है और ऐसी अन्य अनेक पुस्तकें हैं जो मेरे पास नहीं हैं।

इसलिए, जो प्रश्न अधिक आनुषंगिक है वह यह है कि मैं या अन्य कोई और इस क्षेत्र में एक और पुस्तक क्यों लिखे? भावी पाठक के लिए मेरा इसका उत्तर यह है कि यह अन्य पुस्तकों से एक विशेष दृष्टि से भिन्न है जिसे अपरिमार्जित ढंग से तत्काल व्यक्त किया जा सकता है। मनोविकार-चिकित्सा-धर्म पर जो पुस्तकें हैं वे सामान्यतः स्पष्ट अथवा अस्पष्ट शब्दों में पाठक के लिए "मानसिक शान्ति" प्रदान करने का दावा करती हैं और उनका यह दावा इस मूलधारणा पर आधारित है कि मनोविकार विज्ञान अद्भुत है, धर्म अद्भुत है और इन दोनों का मेल और भी अद्भुत है। वर्तमान स्थिति की तुलना हम उन दो वृद्ध प्रेमियों से कर सकते हैं जिन्होंने एक दूसरे को "सम्पन्न" समझकर विवाह किया हो और जो सम्पन्नता कभी प्रकट न हुई हो, केवल कल्पना में ही रही हो। पत्रों और भाषणों के इस संग्रह के पीछे यह आधारभूत सिद्धांत है कि सुहाग-रात अब समाप्त होने वाली है और जो स्थिति पैदा हुई है उसे संकट की स्थिति कह सकते हैं न कि दाम्पत्य आनन्द की।

इसलिए, सुपरिचित सूत्रों के अनुसार "चिन्ता के जो नुस्खे" बताए जाते हैं वे इसमें नहीं हैं। यहां हम इस मान्यता के आधार पर विचार करेंगे कि इस क्षेत्र में हमारी जो समस्या है वह "वैयक्तिक" ही नहीं है बल्कि इसके सामाजिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और व्यावसायिक आयाम भी हैं। इस प्रकार यहां पाठक के लिए जो निमन्त्रण है वह एक ऐसी खोज और समझौते में शामिल होने के लिए है जो तत्काल तो 'चिन्ता हर' न हो लेकिन अन्त में जो प्रचुरता से

प्रस्तुत किए जाने वाले वैयक्तिक उपागमो की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रद हो। समाज-शास्त्री सी० राइट मिल्स के द्वारा किए गए भेद का अनुसरण करते हुए दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि सुलभ उपचार वाले अत्यधिक विशेषीकृत कष्टो की अपेक्षा हमारे सामने आज अधिक व्यापक और अधिक जटिल समस्याए है जिनकी ओर हमे निस्सकोच भाव से और सच्चाई के साथ ध्यान देना चाहिए और उनका उपचार ढूंढना चाहिए।

एक सदी पहले तक, साधारण व्यक्ति तथा शिक्षाविद् दोनो ही मनोविज्ञान, दर्शन-शास्त्र और धर्म को एक ही अनुशासन समझते थे। लेकिन इसके बाद, कल्पनामूलक सिद्धातो को अनुभवमूलक सिद्धान्तो से, दूसरे शब्दो मे, तत्त्वविद्या के सिद्धान्तो को वैज्ञानिक सिद्धान्तो से पृथक् करने के उद्देश्य से मनोविज्ञान और इसके चिकित्सा सम्बन्धी पहलू मनोविकारविज्ञान ने स्वतन्त्र उद्यम के रूप मे अपने आपको स्थापित करने के लिए सशक्त प्रयत्न किए।

कुछ सीमित दृष्टिकोणो से यह पृथकीकरण, अथवा विभाजन सफल रहा है, लेकिन कुछ अन्य तथा महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोणो से इस विभाजन के फलस्वरूप गम्भीर समस्याए पैदा हो गई है। मानव, चाहे रुग्णावस्था मे हो चाहे स्वस्थावस्था मे, उन्हे साफ-साफ मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और धार्मिक इकाइयो मे नही बाटा जा सकता। और भिन्न-भिन्न व्यवसायो मे मानव की आवश्यकताओ को समझने और उनकी पूर्ति करने के लिए जो प्रयत्न किए गए हैं वे उतने सफल नही रहे जितने हम चाहते हैं। इस स्थिति के प्रकाश मे, इस बात को समझ सकते हैं कि पिछले कुछ वर्षों मे मनोविकारविज्ञान और धर्म की एक दूसरे के निकट आने की प्रवृत्ति क्यो रही है। इस विचारधारा का समर्थन करने का हमारे पास निश्चित आधार है। लेकिन इस क्षेत्र मे कुछ जटिलताए भी है जिन्होने सकट का रूप ले लिया है और इसी सकट के लिए यह पुस्तक लिखी गई है।

परम्परागत ढग से यह माना गया है कि मानव प्रधानत एक सामाजिक प्राणी—अथवा, धर्म शास्त्र के शब्दो मे "ईश्वर का बच्चा" है। मगर, धर्म से अपने विच्छेद को दृढ करने के उद्देश्य से नैदानिक-मनोविज्ञान और मनोविकारविज्ञान का झुकाव मानव की मूल आकाक्षाओ, सामाजिक और नैतिक प्रवृत्तियो की ओर न होकर फ्रॉयड के मनोविश्लेषणवाद द्वारा प्रतिपादित जैविक प्रवृत्तियो की ओर अधिक रहा है। इस क्षेत्र मे, हाल ही मे मूल्यो के प्रति नई रुचि के बारे मे बहुत कुछ सुनने मे आया है। सक्षेप मे, इसे हम शुभ अथवा मूल्यवान के अपने प्रत्यय मे ही परिवर्तन कहेंगे। मनोविश्लेषणवाद का अपना एक "मूल्य-तन्त्र" (कम से कम गुप्त रूप मे) अवश्य रहा है, और इस मूल्य-तन्त्र "मे' युवक के लैंगिक काम-सम्बन्धो" (विपरीत लिंग सम्बन्धो मे काम-सुख की क्षमता) और

अबाधिक्तस्वाग्रह (assertiveness) (जो प्राय स्पष्ट विद्वेष और आक्रामक प्रवृत्ति मे अभिव्यक्त होता है) सर्वोच्च महत्त्व का स्थान रखते है।

मनोविकारविज्ञान और नैदानिक मनोविज्ञान मे जब यह समझा जाने लगा है कि इस प्रकारकी कपटपूर्ण अनैतिकता व्यक्तित्व के विचलन और विकार का उपचार होने की जगह उनका कारण ही अधिक है। लेकिन विरोधाभास यह है कि चिकित्सा से सम्बन्धित धर्म-निरपेक्ष व्यवसायो मे यह पुनर्जागरण धर्म के साथ उनके सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायक होने की अपेक्षा बाधक अधिक है, क्योकि उत्तरोक्त भी इसी कपटपूर्ण नीति के रग मे रगा हुआ है और इससे छुटकारा पाना उसके लिए कठिन हो गया है। हाल ही मे प्रकाशित पत्रो और भाषणो के इस सग्रह का प्रधान उद्देश्य मोहभग की क्रिया को प्रोत्साहित करना है और इस प्रकार धर्म को, स्वतन्त्र रूप मे तथा मनोविज्ञान और मनोविकार-विज्ञान के साथ मे अधिक ठोस कार्यो के लिए मुक्त करना है, इसके साथ-साथ मनोविज्ञान और मनोविकार-विज्ञान, चाहे उनका धर्म के साथ सम्बन्ध किसी रूप मे हो, को भी अधिक उपयोगी और आशाप्रद दिशाओ की ओर अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहित करना है।

इसलिए यह पुस्तक एक ओर तो मनोवैज्ञानिको और मनोरोग वैज्ञानिको के लिए है तो दूसरी ओर धर्म-शास्त्रियो और पादरियो के लिए है, लेकिन साथ ही यह ऐसे बीच के व्यवसायो के लिए भी है जैसे शिक्षा, समाज-कार्य और कानून। यह तो स्पष्ट है कि यह एक पाठ्यपुस्तक नही है, लेकिन दो अवसरो पर इसका एक लघु सस्करण इस रूप मे प्रयुक्त हो चुका है। इस वर्ष के वसन्त-ऋतु के शिक्षा-सत्र में, इस सामग्री को अपने ध्यान का केन्द्र बनाते हुए, मैंने और लन्दन के डॉ० मैरी ने "अपराध के स्वरूप और उसके प्रबन्ध" पर एक गोष्ठी आयोजित की और ग्रीष्म काल के सत्र में अध्यापको के लिए मानसिक स्वास्थ्य पर एक पाठ्यक्रम में इसी सामग्री का प्रयोग किया गया। लेकिन शिक्षा-क्षेत्र में इस पुस्तक का सबसे अधिक लाभ एक सहायक पुस्तक के रूप मे, और विभिन्न प्रकार के विषयो पर विशेष विचार-विमर्श के आधार के रूप में होगा।

मगर, इसका यह अर्थ नही है कि जिस दृष्टिकोण से यह पुस्तक लिखी गई है, उसी दृष्टिकोण से इससे भी अधिक सुव्यवस्थित अन्य पुस्तके नही लिखी जाएगी। इसमे सदेह नही है कि व्यक्तित्व के सिद्धान्त के रूप मे तथा भावी चिकित्सा-प्रणाली के रूप मे मनोविश्लेषणवाद को हम अब छोडने लगे हैं और धर्म-शास्त्र के जिन रूपो पर इसका दूषित प्रभाव है उन्हे भी छोड रहे हैं। जिस सीमा तक यह पुस्तक इस कार्य को आगे बढाने मे सहायक है, उस सीमा तक इसका रूप "निषेधात्मक" अथवा "विध्वसक" है। लेकिन मनोरोग-चिकित्सा की उत्पत्ति और उसके सुधार के सामाजिक आधार को भी स्पष्ट शब्दो मे प्रकट

किया गया है इस प्रकार इसमे इस क्षेत्र की हमारी समस्याओ पर एक व्यापक और शक्ति-गर्भित अभियान करने का आधार भी प्रस्तुत किया गया है।

मैं इस बात की कल्पना कर सकता हू कि कुछ पाठको को मेरा यह उपागम सत्तावाद (Existentialism) कुछ अव्यवस्थित किन्तु सशक्त प्रवृत्ति के समान प्रतीत हो। कालविनीय धर्म-शास्त्र, फ्रॉयडीय मनोविश्लेषणवाद और शास्त्रीय व्यवहारवाद ने मानवीय उत्तरदायित्व का जो निषेध किया है उसका विरोध जिस सीमा तक सत्तावाद करता है, उस सीमा तक मेरा यह उपागम उसके समान है। लेकिन "सत्तावाद" के विभिन्न रूपो के साथ पन्थ की प्रवृत्ति और रहस्यवाद का जो रूप जुडा रहता है, वह इसमे नही मिलेगा यहा पर मेरा उद्देश्य सामान्य अनुभव और वैज्ञानिक विचार की सीमाओ मे ही अपने आपको रखना है, लेकिन साथ-साथ मानवीय उद्यमो के व्यापक रूप को भी अपनाना है जिससे 'नीति' और 'धर्म' के अश भी इसमे शामिल हो सकें। विभिन्न व्यवसायो के लोगो और जनसाधारण ने मेरे इन लेखो और भाषणो मे जो रुचि दिखाई है है उसी से इन्हे पुस्तक का रूप देने की प्रेरणा मिली है। ये प्रतिक्रियाए उत्साह-वर्धक होने के साथ-साथ चुनौतिया भी है, और मैं इनका कृतज्ञ हू। प्रत्येक अध्याय के शीर्षक के नीचे एक पाद-टिप्पणी दी गई है जो उसके मूल स्रोत को यदि एक अध्याय मूल रूप मे लेख है तो उसके पूर्व प्रकाशन के स्थान के और यदि वह एक भाषण है तो उसकी परिस्थिति को, प्रकट करनी है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ मे उसकी भूमिका भी दी गई है। जिसमे इस पुस्तक के मुख्य तर्क पर प्रकाश डालने के साथ-साथ उसका आगे-पीछे के अध्यायो के साथ सम्बन्ध भी बताया गया है। जहा मैं धर्म के प्रशान्तीय स्कूल (Pacific School of Religion) का हृदय से धन्यवाद देना चाहता हू जिसने 1960 मे मुझे ई० टी० अर्ल भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया था। और नौर्थ पार्क कालेज और धर्म-विद्यामन्दिर का भी मैं आभार प्रकट करता हू जिसने मुझे 1960 मे डेविड नीवल भाषण देने का समान अवसर प्रदान किया। ये भाषण यहा क्रमश 8, 9 और 10 अध्याय तथा 11 और 12 अध्याय के रूप मे उद्धृत किए गए है। उत्तरोक्त भाषण ल्यूसविले, केन्टकी के दक्षिणी बपतिस्मा-दाता धर्म-विद्या-मन्दिर मे इस शिक्षा-सत्र के सितम्बर मास मे गीन्स भाषणों के रूप मे प्रस्तुत किए गए। इन अवसरो पर मेरा जो सम्मान किया गया और मेरे भाषणों पर जो आशाप्रद टिप्पणियां और समालोचनाए प्रस्तुत की गईं उनकी सुखद स्मृति मैं दीर्घकाल तक सजोए रखूंगा।

मैं अन्य पुस्तको के उन लेखको और प्रकाशकों का भी कृतज्ञ हू जिन्होने अपनी कृतियों मे उद्धरण देने की अनुमति प्रदान की। कुमारी लिओना टी० पैंडिगो, और श्रीमती डोनल्ड, डब्ल्यू कीफर का भी कृतज्ञ हू जिन्होने इस पुस्तक

की अनुक्रमणिका तैयार करने और प्रूफ पढने का कार्य बडी योग्यता के साथ किया।

यहा पर प्रस्तुत सामग्री यद्यपि प्रारम्भ मे विशेषज्ञो—मनश्चिकित्सको मनोवैज्ञानिको, शिक्षा-शास्त्रियो और धर्म-शास्त्रियो के लिए लिखी गई थी, लेकिन इसकी भाषा तकनीकी नही है और रुचि रखने वाला कोई भी साधारण व्यक्ति इसे समझ सकता है। और यहा प्रस्तुत समस्याए हमारे लिए, व्यक्तिगत दृष्टि से तथा राष्ट्र की दृष्टि से, इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इनमे बहुत से साधारण व्यक्तियो तथा विशेषज्ञो की रुचि होगी। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर जान-बूझकर पुस्तक का आकार छोटा और मूल्य थोडा रखा गया है।

ओ० एच०, एम०

परवना, इलिनाइस,
दिसम्बर, 1960

विषय-सूची

मनोविकार-विज्ञान और धर्म में व्याप्त संकट

1

मनोवैज्ञानिक परामर्श में कुछ दार्शनिक समस्याएं*

यह पत्र मनोविकारविज्ञान और धर्म मे व्याप्त सकट के सास्कृतिक आयामो पर केन्द्रित है। शास्त्रीय मनोविज्ञान (विशेष तौर पर यहा, अमरीका मे) और फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद (जो यूरोप की देशीय विचारधारा है) दोनो डार्विन के जैविक विकास सिद्धान्त से, जिसके अनुसार मन आवश्यक रूप मे अनुकूलन का आधार है, अत्यधिक प्रभावित थे। इस प्रकार की प्रक्रिया कुछ बातो मे बहुत ही लाभप्रद रही है। मगर, आज मनोविकारविज्ञान और मनोविज्ञान दोनो मे ही तीव्र असतोष के चिह्न हैं। वैयक्तिक विघटन और मनोरोग विज्ञान हमारे समय मे बडी समस्याए ही बने हुए हैं, और यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि जैविक अनुकूलन और अतिजीवन के नियम और कारण आवश्यक रूप से वह ज्ञान नहीं देते जो मानसिक अतिजीवन के लिए आवश्यक हैं। मानव केवल शरीर, जीव या शारीरिक सत्ताधारी ही नहीं हैं, वे व्यक्ति भी हैं। और ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व को ठीक-ठीक समझना और उस का मूल्याकन करना सामाजिकता अर्थात् अन्तर्वैयक्तिक और नैतिक मूल्यो की व्यवस्थाओ के रूप मे सम्भव हो सकता है।

---

* यह पत्र परामर्श सम्बन्धी मनोविज्ञान पत्रिका के 1957 के अक 4 में पहले प्रकाशित हो चुका है, और उत्तरी लिटल रौक अर्कन्सस में ज्ञान-वृद्धों के प्रशासन के तत्वावधान में आयोजित मनोरोगविज्ञान और तन्त्रिका-विज्ञान के आठवें वार्षिक सस्थान में (मार्च, 1956) एक भिन्न शीर्षक "मनस्-काम सम्बन्ध का एक व्यावहारिक आधुनिक पहलू" से पढा जा चुका है। इस पत्र के मूल-प्रकाशन से लेकर अब तक लेखक के ध्यान में अनेक उपयोगी आनुषगिक लेख आए हैं जो पाठक के लिए नीचे दिए गए हैं ब्लैक (1955), फ़िगरैट (1955), गालधर (1956), हाब्स, (1956), लिफ्टन (1953), मास्लो (1956), राबर्ट्स (1956), शैल्डरमैन (1954) शोवन (1955, 1956), वाल्टर्स (1955), ह्वाइट (1952), और विलियमसन (1956)। इस सूची के साथ एक टिप्पणी भी जोड दी गई थी, "यद्यपि ये सभी पत्र वह पक्ष नहीं अपनाते जो वर्तमान लेखक का है, लेकिन ये सभी इस बात में एक मत हैं कि वर्तमान मनोरोग-चिकित्सा, परामर्श और यहा तक निदान भी जिन दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित हैं उनके पुनर्मूल्याकन की आवश्यकता है।"

वस्तुत, धर्म का व्यक्ति और व्यक्तित्व के रूप मे मानव से गहरा सम्बन्ध है। और मानव—एक शरीर से मानव—एक व्यक्ति की ओर बदलते हुए मानव के अवलोकन मे मनोविज्ञान और मनोरोगचिकित्सा दोनो को ही यह दिखाई देता है कि उनकी दृष्टि, पुनरुत्पन्न रुचि और आदर के साथ धार्मिक उपदेश और धार्मिक अनुष्ठानो की ओर लगी है। तत्व-ज्ञान के क्षेत्र मे धर्म और धर्म-निरपेक्ष अनुशासनो मे कितना भी असामजस्य क्यो न हो, यहा, सामाजिक और नैतिक आयामो के सम्बन्ध मे व्यक्तित्व के अध्ययन मे इनका स्वाभाविक और अनुकूल मिलन-स्थान है। यद्यपि इस समय इस बात का पूर्वाभास असम्भव है कि व्यापक दृष्टि से सोचा हुआ धर्म और मनोविकार-चिकित्सा का यह मेल अन्तत कितनी दूर तक जाएगा, तथापि इसका प्रारम्भ यहीं से होना है।

क्या मन शरीर की सेवा के लिए बना है या शरीर मन की सेवा के लिए ? गत अर्ध शताब्दी मे मनोवैज्ञानिको ने इतने विश्वव्यापी रूप में पहले पक्ष का समर्थन किया है कि ऐसा लगता है जैसे उन्होने दूसरे विकल्प पर शायद विचार ही नही किया हो।

लेकिन इस बात के लक्षण है कि विज्ञान या व्यवसाय के रूप मे मनोविज्ञान का जो रूप है वह सब ठीक नही है, और हमने अपनी मूल मान्यताओ पर फिर से विचार करना है। नमूने के तौर पर मेधावी युवा मनोविकार-चिकित्सको के कुछ प्रतिनिधियो से, जिन्होने गत चार-पाच वर्षो मे हमारे श्रेष्ठ विश्वविद्यालयो से डाक्टरी की उपाधिया प्राप्त की हैं और जो तब से मनश्चिकित्सा के निकटतम सपर्क मे रहे हैं, पूछिए कि अपनी शिक्षा से प्राप्त ज्ञान के प्रयोग के प्रकाश मे वे अपने प्रशिक्षण के बारे मे क्या सोचते है। कटु-भाव, आत्म-ग्लानि या अवाछित निराशा के भावो के बिना वे गम्भीर और दूरगामी सदेह प्रकट करते हैं। वे निदान के लक्षणो और उपकरणो दोनो के ही बारे मे शकाए उठाते है। वे महसूस करते है कि मनोरोगचिकित्सा के सैद्धान्तिक आधार और परिणाम तथा परामर्श अनिश्चित हैं, और विज्ञान के रूप मे मनोविज्ञान की नवीन उपलब्धियो के महत्व का मूल्याकन करते समय उनमे बहुत मतभेद रहते है।

या, इस सम्बन्ध मे हमारे वरिष्ठ राजमर्मज्ञ जो कहते हैं उसे सुनिए। 1955 मे अमरीकी मनोविकार-चिकित्सक-सघ ने मनोरोगचिकित्सा पर मनोविकार-चिकित्सको और मनोवैज्ञानिको का परिसवाद आयोजित किया जो बाद मे पुस्तकाकार रूप मे "प्रोग्रेस इन साइकोलॉजी" नाम से प्रकाशित हुआ (फ्रोम-रीशमन एण्ड मोरेनो 1956)। इस अवसर पर दी गई कुछ टिप्पणिया इस प्रकार हैं

"रोगो से मुक्ति पाने की विधि को स्पष्ट रूप से तर्क-पूर्वक समझने के लिए मनोविकारविज्ञान की बहुत आवश्यकता है । हमारे पास प्राक्कल्पनाए तो है, लेकिन उनमे किसी को भी इतनी प्रामाणिकता नही प्राप्त हुई कि चिकित्सा-विज्ञान मे सुस्थापित सिद्धान्त के रूप मे उसे सामान्य मान्यता प्राप्त हो सके (ह्वाइटहार्न, पृ० 62) ।"

"मनोविश्लेषण से भी अधिक विभिन्नताए मनोरोग चिकित्सा की है और मनोविश्लेषण क्या है, या क्या नही है, इससे भी अधिक अस्पष्ट यह है कि क्या मनोरोगचिकित्सा है और क्या मनोरोगचिकित्सा नही है ? वह समय आ गया है जब विभिन्नताओ की नही अपितु समानताओ की खोज करनी है और विभिन्न विधियो और क्रिया-विधियो की भयावह व्यूह-रचना मे से सार्वहरो को सूत्रित करना है (होश, पृ० 72-73) ।"

"यह असतोष ही है जिसके कारण मैं अपनी पद्धति से इस समस्या की ओर प्रेरित रहा हू । कुछ ही वर्ष पहले (यद्यपि मनोविश्लेषणवादी के रूप मे मेरे जीवन मे यह समय बहुत लम्बा नही है) मैं यह सुखद आशा लिए हुए था कि विश्लेषण की बढती हुई प्रवीणता और अनुभव से चिकित्सा की सफलताओ की प्रतिशतता बढेगी । मेरा अनिच्छित अनुभव यह है कि मेरी यह आशा पूर्ण नही हुई है (पृ० 87) । किसी भी दृष्टिकोण से इस समस्या पर प्रचार की दृष्टि से विचार करना मुझे सहन नही है । इस क्षेत्र मे किसी भी बात के पक्ष या विपक्ष मे होने का हमे अधिकार नही है । हमे केवल पूर्ण विनम्रता का अधिकार है—ऐसी विनम्रता का जो बताती है कि तन्त्रिकारोग के निदान और चिकित्सा के बहुत से महत्वपूर्ण तत्वो के बारे मे हमे अब भी वास्तव मे कुछ नही आता (क्यूबी, पृ० 101) ।"

"मनोरोग-चिकित्सा आज अव्यवस्थित हालत मे है, बिलकुल वैसे ही जैसे दो सौ वर्ष पहले थी (पृ० 108) । इस अवस्था मे सैद्धान्तिक उच्चासन प्राप्त करने के लिए हम एक दूसरे से विवाद करते हुए प्रतीत होते है, और प्राय भूल जाते है कि यह उच्चासन उतना ही गिराऊ है जितनी तीन टागो की कुर्सी (जिलबुर्ग, पृ० 110) ।"

या, और भी दूसरी तरह का यह प्रमाण लें कि हम इस सम्बन्ध मे व्यक्त सामाजिक माग की पूर्ति करने मे असफल रहे है । मानव-पटल पर जो नई अद्भुत और आशातीत बातें विकसित हुई है उनमे से एक धार्मिक नेताओ द्वारा व्यक्तित्व-विकार की समस्या पर विचार करने और सक्रिय रूप से उसके हल के लिए उनके काम की सीमा है । धर्म और आध्यात्मिक परामर्शो पर पुस्तको का प्रकाशन अपूर्व गति से हो रहा है, और यदि कोई इनका अध्ययन करने का कष्ट

करे तो उसे पता चलेगा कि वे कही-कही काफी गम्भीर, नव-ज्ञान-सम्पन्न और रचनात्मक हैं। "मानसिक स्वास्थ्य" व्याख्यानो का सामान्य विपय है, और "पाप और मुक्ति" के जुडवा प्रत्ययो मे "और स्वस्थचित्तता" और जोड दी जाती है। इससे भी जो महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि मनोरोगचिकित्सा के व्यवसायी भी मानसिक स्वास्थ्य और रोग के सम्बन्ध मे धर्म के कार्य के वारे मे नये ढग से सोचने लगे है, विआना के विक्टर फैंकल और अग्रेज मनोरोग चिकित्सक अर्नेस्टह्वाइट की हाल मे ही प्रकाशित पुस्तको को देखें। इस देश मे इसी प्रकार की प्रवृत्ति के वारे मे "दी चर्च एण्ड मैटल हैल्थ" (पाव्स 1953) और "मिनिस्टरी एण्ड मैडिसन इन ह्यूमन रिलेशन्स" (गारडस्टन, 1955) को देखें। और यही प्रवृत्ति "प्रोग्रेस इन साइकोथिरेपी" (फ्राम-रीशमन एण्ड मोरेनो, 1956) मे भी स्पष्ट है।

तव, मनोविज्ञान के दु खदर्द की वास्तविकता को स्वीकार करने पर इसका ठीक-ठीक निदान और उपचार क्या है ?

अमरीकी मनोविज्ञान का "जीवविज्ञानीकरण"

"विकासवाद के सिद्धान्त का अमरीकी मनोवैज्ञानिक विचारधारा पर प्रभाव" शीर्षक बोरिंग का एक पत्र (1950) लेखक ने हाल ही मे पढा। यह वहुत अर्थगर्भित और विचारोत्तेजक था। इस पत्र का प्रारम्भ बोरिंग ने इस विरोधाभास के कथन से किया है कि उन्नीसवी सदी के अन्तिम भाग मे, जहाँ अमरीकी मनोवैज्ञानिक जर्मनी से एक प्रकार के मनोविज्ञान का आयात करने मे तथा प्रकटरूप से उसका अनुकरण करने मे लगे हुए थे, वहा वे अनजाने मे भिन्न ही प्रकार के मनोविज्ञान की रचना कर रहे थे। यह प्रारम्भ मे कृत्यवाद (Functionalism) था और बाद मे व्यवहारवाद (Behaviourism)। इस सम्बन्ध मे डार्विनीय सिद्धान्त कसौटी था। वोरिंग कहते है

> "डिवी ने मनोविज्ञान सम्बन्धी अपने चिन्तन मे मानसिक वृत्तियो के लिए कृत्यपरक प्रयोग (Functional use) का प्रत्यय और उससे सम्बन्धित कृत्यपरक क्रिया (Functional activity) का प्रत्यय लागू किया। इसे दूसरे शब्दो मे प्रकट करने का ढग यह कहना है कि चेतनता और शारीरिक क्रिया, दोनो ही जीव के लिए होती हैं—चेतनता का कार्य क्रिया को पैदा करना है जिससे जीव की 'रक्षा होती है"। डिवी ने जिस कृत्यवादी मनोविज्ञान (Functional Psychology) के सम्प्रदाय की स्थापना की और जिसे एजिल ने आगे चलाया उसका यही मूल सिद्धान्त था। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार, शारीरिक क्रिया

> और मानसिक वृत्तिया आपस मे ओत-प्रोत होती है। इसका कारण किसी स्वभावगत समानता के आधार पर उनका सगठन नही है बल्कि इस आधार पर उनका सगठन है कि उन सब का समानरूप से जीव की रक्षा उद्देश्य होता है (पृ० 277)।"

बोरिंग फिर यह कहते है कि उनके विचार मे (वाटसन के मत के विपरीत) व्यवहारवाद "डिवी के कृत्यवाद और कैटल के क्षमता मनोविज्ञान (Capacity Psychology) का सीधा फल है । वाटसन का मत मूलरूप मे अमरीकी था, अर्थात् यह ऐसा मनोविज्ञान था जिसकी सगति जीवन के लिए सघर्ष की आवश्यकता मे (मार्गदर्शक तथा प्रजातान्त्रीय) विश्वास के साथ थी (पृ० 288)।"

अतिवादी व्यवहारवाद तो अब दो कारणो से पुराना पड गया है। (क) इसका अनुसरण करनेवाले, अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए, "मध्यस्थ चरो" (intervening variables) का प्रयोग करना आवश्यक समझते है, और (ख) नैदानिक मनोविज्ञान मे रुचि के प्रसार के कारण, हमारी रुचि शरीर की अपेक्षा मन पर, जैविक अनुकूलन के प्रश्नो की अपेक्षा चेतनता के विक्षोभ पर केन्द्रित हो गई है। जैसा कि बोरिंग लिखते हैं

> "व्यवहारवाद इतना सुसस्कृत नही था कि वह जीवित रह सकता। इसका स्थान अब वस्तुनिष्ठावाद (Positivism) या व्यापारवाद (Operationism) नवीनतम मनोवैज्ञानिक वस्तुपरकवाद को जिस भी अन्य नाम से पुकारें, ने ले लिया है। व्यापारवादी (Operationist) यह तर्क देते हैं कि मनोविज्ञान के सभी प्रदत्तो, जिनमे चेतनता के प्रदत्त भी शामिल है, की परिभाषा उन व्यापारो के रूप मे की जानी चाहिए जिनका प्रयोग उनके निरीक्षण के लिए किया जाता है। मन के अस्तित्व के बारे मे जो प्रमाण हम उपलब्ध कर सकते हैं, उनसे अधिक उसके विषय मे हम कुछ नही जान सकते। वियाना के तार्किक वस्तुनिष्ठावाद और पी० डब्ल्यू० ब्रिजमैन की व्यापारपरक भौतिकी ने इस विचारधारा को सुमण्डित रूप प्रदान किया है, लेकिन इस पर विचार करने का यहा स्थान नही है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि व्यवहारवाद तथा कृत्यवादी और क्षमतावादी मनोविज्ञान, जो अमरीकी मनोविज्ञान की आधारभूत निष्ठा है, के मूलभूत विश्वासो मे व्यापारवादी ज्ञानमीमासा निहित थी (पृ० 288)।"

इस पत्र का उद्देश्य यह सकेत देना नही है कि यह निष्ठा, यह "अमरीकी

मनोविज्ञान की मूलभूत निष्ठा," बिल्कुल असगत या पूर्णत निष्फल रही है। सीखने के क्षेत्र मे इस निष्ठा से प्रेरित जो अनुसन्धान और सैद्धान्तिक साहित्य निकला है उसकी समीक्षा करने मे वर्तमान लेखक (मौरर, 1960a) ने गत कई मास बिताए हैं, इसके परिणाम निस्सदेह प्रभावशील रहे है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या यह निष्ठा इतनी व्यापक, इतनी अन्तर्ग्राही और दूरगामी है जितना इसे होना चाहिए।

> "कृत्यवादी मनोविज्ञान जीव की प्रयोगात्मक क्रियाओ का अध्ययन बन जाता है। जीव के सम्बन्ध मे जितने सिद्धान्त अब तक प्रस्तुत हुए हैं उन सब मे से जिस प्रकार डार्विन का सिद्धान्त सबसे अधिक प्रयोगात्मक था, उसी प्रकार कृत्यवादी मनोविज्ञान भी आद्योपान्त पयोगात्मक था (बोरिंग, 1950, पृ० 277)।"

इस प्रकार इस समस्या का मूल प्रश्न यह है क्या यह वास्तव मे सत्य है कि मन की रचना शरीर की सेवा के लिए हुई है (शायद, "प्रयोगात्मकता" का यहाँ यही अर्थ है)? अथवा, इनमे किसी न किसी रूप मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, जिसमे शरीर को मन का आज्ञाकारी और कभी-कभी पूर्ण तावेदार बनना होता है। वैज्ञानिक इस प्रश्न को उठाने मे, इसलिए कतराते हैं कि इसमे स्पष्ट ही पुराणपन्थ की गन्ध आती है। धर्म ने सदा ही इस बात पर बल दिया है कि आत्मा शरीर से अधिक महत्वपूर्ण है और 'मास' को आत्मा का तावेदार होना चाहिए। और "प्राचीन मनोविज्ञान" जिसके विरुद्ध कृत्यवाद और व्यवहारवाद ने विद्रोह के झण्डे खडे किए हुए थे (जो काम आधारहीन नही था), की मान्यतायें भी धर्म-शास्त्र की मान्यताओ के समान ही थी। बोरिंग हमारा ध्यान "डेकार्तेपर सत्रहवी सदी के धर्म-शास्त्र के प्रभाव, जो भाषा से प्रमाणित होता है," की ओर आकर्षित करते हैं। वे इस बात पर ध्यान देते हैं कि फ्रासीसी भाषा मे, *l'ame* का अर्थ मन या आत्मा लगाया जाता है, और यही बात जर्मन शब्द *Seele* के बारे मे भी सत्य है। क्योकि कोई पशुओ मे "आत्मा" नही मानता, इसलिए उन्हे मन (और चेतनता) से वचित करने की प्रवृत्ति देखी गई है।

> "इसके विपरीत डार्विन का सिद्धान्त मनुष्य और पशुओ के बीच निरन्तरता, मानसिक तथा शारीरिक, [प्रत्येक हालत में निरन्तरता, पर बल देता है, क्योकि निरन्तर परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य पशुओ से ही निकला हुआ माना जाता है (बोरिंग, 1950, पृ० 284-285)।"

इसमे कोई सदेह नही है कि डार्विनीय उपागम, यान्त्रिक तथा जैविक उपागम, के आधार पर बहुत कुछ निष्पन्न हुआ है। चेतनता को ही विषय मानने वाले प्राचीन मनोविज्ञान मे जिन बातो का ठीक-ठीक विश्लेषणात्मक ज्ञान नही हो सका था, वे अब वस्तुपरक भाषा मे स्पष्ट और क्रमबद्ध रूप मे समझ मे आ गई हैं। आधुनिक 'सर्वोथ्येरी' (Servotheory) ने जो भौतिक मॉडल तथा विचार-आकृतिया (thought forms) प्रदान की हैं उनके आधार पर जो पद्धति अपनाई गई है उससे जो कुछ नई खोज हो सकती थी और जो समस्याए हल हो सकती थी वह सब नही हुआ है। लेकिन अब अपनी इस 'थीसिस' की ओर मुडना चाहिए कि समकालीन मनोवैज्ञानिक विज्ञान मे जो कुछ हो रहा है वह सब सतोषजनक नही है। स्पष्ट तथ्यो को देखते हुए इसके विपरीत किसी बात की मान्यता स्वीकार करना तो खतरनाक—और विज्ञान के आदर्शों का घातक होगा।

जैविक बनाम मनोवैज्ञानिक सरक्षण

निश्चय ही असुविधाजनक किन्तु अनिवार्य प्रतीत होने वाला एक विशेष तथ्य यह है कि मनुष्य को मानसिक सरक्षण के सघर्ष तथा उसके साथ-साथ भौतिक, जैविक और शारीरिक सरक्षण की चिन्ता करनी ही चाहिए। वास्तव मे उपर्युक्त क्षेत्रो मे तो उसने पहले ही इतनी सफलता प्राप्त कर ली है कि उसकी सफलता ही हमारी एक बडी दुविधा बनी हुई है (घटते हुए प्राकृतिक स्रोत और बढती हुई ससार की जन-सख्या जो प्रतिदिन 75,000 के हिसाब से बढ रही है)। लेकिन मनोवैज्ञानिक सरक्षण के सघर्ष मे हम प्राथमिक सिद्धान्तो को ही टटोल रहे हैं। निरपेक्ष शब्दो मे कहना कि इस देश मे पहले की अपेक्षा अब अधिक "मानसिक रोग" है शायद शकास्पद है, लेकिन सापेक्ष दृष्टि मे, अर्थात् शारीरिक अक्षमता और रोगो की तुलना मे, मनोवैज्ञानिक और सवेगात्मक रोग स्पष्ट रूप से इतने आगे है कि अब इन्हे "राष्ट्र की नम्बर एक स्वास्थ्य समस्या," आधुनिक युग की प्लेग कहना एक पुरानी बात हो गई है।

नैदानिक मनोविज्ञान मे मेधावी युवा पुरुषो की विचारयुक्त सशयालुता और मोह-भग पर हम टिप्पणी कर चुके है। हम यह भी देख चुके हैं कि हमारे कुछ परिपक्व लेखकों ने मनश्चिकित्सा के क्षेत्र मे क्या कहना है। इसके अतिरिक्त, इस बात की कि "कुछ करना ही है" बढती हुई आम माग की अत्यधिक आवश्यकता के कारण लोकन्याम और उत्तरदायित्व की अवस्था के लोगों ने खुले रूप मे घोषित किया है कि यदि मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र मे शीघ्र ही कोई नया "प्रादुर्भाव" नही होता तो वे अपने सामाजिक कर्तव्यो के स्वरूप के कारण ही मनोविकार-विज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान, सामाजिक सेवा और मनोरोग-

उपचारकेमान्यता-प्राप्त क्षेत्रो के बाहर शायद बहुत आस्था के साथ तो नही, बल्कि केवल निराशा के कारण, अनुसन्धान और शिक्षण की सहायता करने लगेंगे ।[1]

उक्त व्यवसायो ने अपनी आशाए, अधिकतर, मनोविश्लेषणवाद पर ही टिकाई हुई हैं । सिद्धान्त और आचरण के इस निकाय की आलोचना की यहा आवश्यकता नही है, घटना-क्रम को देखते हुए केवल शब्दमयी आपत्तिया निरर्थक ही प्रतीत होती हैं । वर्तमान लेखक ने मनोविश्लेषणवाद पर प्रहार करने मे दूसरो का साथ दिया है, किन्तु अब उसमे और अधिक आलोचना का उत्साह नही है । निरन्तर हो रही प्रगति के मार्ग का यदि कोई ठीक-ठीक अर्थ लगा सके तो यह ज्ञात हो जाएगा कि यह विचारधारा असफल रही है, और इसी ओर आगे बढना दयनीय होगा । यदि फ्रायड की बात ठीक ही होती तो समस्याए सरल और आसान होती । लेकिन यदि वास्तविकता वह नही है जो फ्रायड सोचता था तो जितनी जल्दी और पूर्णता के साथ हम उसकी त्रुटियो को पहचान ले उतना ही अच्छा है ।

हमे इस बात की याद दिलाने की आवश्यकता नही है कि जिन शक्तियो ने अमरीका मे "नए मनोविज्ञान" का आकार निश्चित किया, उन्ही से फ्रायड अधिक प्रभावित हुआ था । हम फ्रायड के कथनो से यह जानते है कि उसने अपनी युवावस्था मे डार्विन को पढा और उसकी प्रशसा की, और उसका प्रभाव स्पष्ट ही है । उसके अनुसार स्वाभाविक शारीरिक प्रक्रियाओ (मूलप्रवृत्यात्मक प्रक्रियाओ) मे सास्कृतिक (नैतिक, धार्मिक) बाधा के परिणाम स्वरूप ही स्नायु-रोग होता है । यदि अह अवाछनीय सामाजिक मूल्यो से दबा हो तो वह शरीर की सेवा करना बन्द कर देता है और उसकी क्रियाओ मे बाधा डालता है । शरीर फिर उसका विरोध और प्रतिकार करता है । यही "आधि" है और यही फ्रायड के मनोरोगविज्ञान की जड है । बीसवी सदी की मनुष्य की सबसे भारी समस्या के हल के लिए यहा हमे कृत्यवाद और वैज्ञानिक भौतिकवाद के प्रयोग के दर्शन होते है । क्या वे वास्तव मे इतने व्यावहारिक है ? क्या वे "अब तक प्रस्तुत जीवन के सिद्धान्तो", मे से सबसे महान् हैं ?

हम इन्हे इतना सस्ता समझकर नही छोड सकते । कृत्यवाद और वैज्ञानिक भौतिकवाद के कारण जो बौद्धिक वातावरण और जो आधारभूत सिद्धान्त बने

1—उपर्युक्त लेख के बाद मानसिक स्वास्थ्य के राष्ट्रीय सस्थान (सयुक्त राष्ट्र जन-स्वास्थ्य सेवा से सम्बन्धित) ने मानस-औषध-विज्ञान (Psychopharmacology) तन्त्रिका-शरीर-विज्ञान (Neurophysiology) समाज-शास्त्र, धर्म-शास्त्र और अन्य "परिधिस्थ" व्यवसायों में कार्मिकों के प्रशिक्षण हेतु अनेक "मार्गदर्शी अध्ययन" अनुदानों की स्वीकृति दी है । मानसिक रोग और स्वास्थ्य के लिए अभिनव स्थापित सयुक्त आयोग की कृति भी देखें ।

उनके फलस्वरूप पशु-व्यवहार के क्षेत्र मे अप्रत्याशित उन्नति सम्भव हो सकी जिसमे स्पष्ट रूप से मानवीय समस्याओ, उदाहरण के रूप मे, भाषा सम्बन्धी मनोविज्ञान, पर नई अन्तर्दृष्टि और विश्वास के साथ नए अभियान की नीव पडी (मौरर 1960b)। शायद हममे केवल धैर्य की कमी है। उन्हे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए पर्याप्त समय और अवसर दें। एक परोक्ष रिपोर्ट के अनुसार कुछ शेष बचे उग्र व्यवहारवादियो मे से एक ने अभी बहुत ही परेशान मानसिक रोगियो के बारे मे अनुसन्धान किये और चिकित्सा के जो परिणाम अभी तक उपलब्ध हुए हैं वे उत्कृष्ट है। इस योजना को पूर्ण शक्ति मिले। लेकिन नवीन मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के क्षेत्र मे क्या करेगा, इस सम्बन्ध मे दशाब्दियो पूर्व अप्रत्याशित आशाए व्यक्त की गई थी (एंजिल, 1907)। दु ख से कहना पडता है कि इससे प्रत्याशित फल प्राप्त नही हुए। इस सम्बन्ध मे किसी भी उपकल्पना की उपेक्षा नही की जा सकती। लेकिन, इतिहास अथवा वर्तमान तथ्य इस विश्वास का कोई आधार प्रदान नही करते कि हल, यदि कही है भी, तो किस दिशा मे है।

और दूसरे विकल्प क्या है ?

सच्चे मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान की आवश्यकता

शरीर द्वारा मन की सेवा तथा मन द्वारा शारीरिक सेवा की सम्भावना की खोज करना क्या अनुचित है ? जब कि मन, बोरिंग के अवलोकनानुसार, अनुमानत इसलिए विकसित हुआ है कि यह शरीर की 'रक्षा' करता है, लेकिन ऐसा लगता है कि एक बार विकसित हो चुकने पर अहम् की अपनी विशेष आवश्यकताए, सरक्षित रहने की विशेष परिस्थितिया, अपना ही एक स्वास्थ्यविज्ञान और सस्कार स्थिर हो जाते हैं। और तब हमे यह प्रश्न करना ही चाहिए कि शरीर कैसे और किस अर्थ मे मन की सेवा कर सकता है और उसे "बचा" सकता है ?

इस प्रश्न पर विचार करना मनोवैज्ञानिको के लिए खतरनाक है। क्योकि यदि इसका उत्तर कही हा मे ही मिल जाए—यदि हम इस निर्णय को माने कि शरीर को मन की सेवा करनी ही है, तो इससे हम एकदम ऐसे क्षेत्र मे पहुच जाते हैं, जहा हम कदापि प्रामाणिक न होकर अव्यवसायी मात्र है। धर्म ने, कमजोरी के क्षणो को छोडकर, दृढता से यह कहा है कि आचरण का निर्देशन आत्मा तथा शरीर दोनो की आवश्यकताओ से होना चाहिए। और सभी युगो के कुछ श्रेष्ठ मस्तिष्को ने आचरण के ऐसे प्रतिरूपो और उपदेशो को, जो "पवित्र" (सघटनात्मक, उद्धारक, स्वास्थ्यप्रद, रोगनिवारक) हो, तैयार करने मे अपने को लगाया है। यहा हम मनोवैज्ञानिक लोग केवल अपेक्षाकृत अनभिज्ञ ही

ऐतिहासिक तथ्य है कि इसने प्राचीन ईसाइयो को जीवन के साधारण द्वन्द्वो और तनावो का ही सामना करने का सामर्थ्य नही दिया बल्कि इस पृथ्वी पर घोर राजनीति विरोध के सामने जीवित रहने और अन्त मे उस पर विजय पाने के योग्य बनाया। और हमारे समय मे "मस्तिष्क प्रक्षालन" के वृत्तो से यह मान्यता सबल होती जा रही है कि इसका सफलतापूर्वक सामना धार्मिक आधार पर ही किया जा सकता है (उदाहरण के तौर पर देखो, पर्किन्स, 1956)।

अग्रेज मनोरोग चिकित्सक अर्नेस्ट ह्वाइट, (1955, पृ० 11) इसी मत के है

"प्राय ऐसा प्रतीत होता है कि प्रश्नो के उत्तर न मिलने का कारण यह है कि वे गलत मान्यताओ पर आश्रित होते है। उदाहरण के तौर पर मनोविज्ञान और धर्म पर एक व्याख्यान के समाप्त होने पर एक श्रोता ने प्रश्न किया कि गिरजाघर के बाहर के लोगो की अपेक्षा गिरजाघर के अन्दर के लोगो के अधिक रुग्णतन्त्रिक होने का क्या कारण है ? इस प्रश्न का उत्तर देना तब तक सम्भव नही है जब तक कि विशेष अनुसन्धान द्वारा यह निर्णीत न हो जाए कि वास्तव मे आम जनता की अपेक्षा गिरजाघर जाने वाले लोगो मे अनुपातत रुग्णतन्त्रिक लोग अधिक होते हैं। जहा तक मैं जानता हू, इस प्रकार का कोई अनुसन्धान नही हुआ है।"

इस देश मे इस समस्या पर अनुभव-सिद्ध प्रमाण प्राप्त करने के प्रारम्भिक प्रयत्न हुए हैं जिनका प्रत्यक्षज्ञान सम्भवत गोरो (White)को नही है। उसके परिणाम-स्वरूप गिरजाघर जाने वालो के भावात्मक स्वास्थ्य के बारे मे अपेक्षाकृत कोरा कागज ही हाथ लगा है (लिंक, 1936, अध्याय 1 और पृ० 99)। लेकिन इस समस्या का अनुभव के स्तर पर और भी अधिक खोजपूर्ण अध्ययन करने की स्पष्ट आवश्यकता है। एक दृष्टि से गिरजाघर जानेवाली जनता मे तो कोई भी रुग्णतन्त्रिक नही मिलना चाहिए। यदि धर्म निश्चित रूप से मुक्ति प्रदान करता है तो यह निष्कर्ष स्वयसिद्ध हो जाता है। लेकिन शारीरिक-रोग-चिकित्सा की सस्था के रूप मे अस्पतालो की इसलिए निन्दा करना कि उनमे इतने अधिक रोगी भरे रहते हैं, बेहूदापन ही होगा। धार्मिक सस्थाओ का निवेदन तो बेचारी रुग्ण आत्माओ से होता है और ईसामसीह ने स्वय कहा है कि वह सच्ची आत्मा को पुकारने के लिए नही आया। इसलिए इस तर्क के दोनो पक्षो का वफादारी से जो अध्ययन हो वह नितान्त निष्पक्ष होना चाहिए और उसका अर्थ लगाते हुए सावधानी रखी जानी चाहिए।

> प्रक्रम है। इस प्रक्रम का सार दूसरो की सहायता करने की इच्छा है (पृ० 107)।"

इन दो प्रक्रमो के प्रमुख होने का कारण क्या यह है कि जिन प्रबन्धो का तात्विक-विश्लेपरण किया गया, उनके लेखको का धर्म के प्रति झुकाव था ? या इन लेखको ने निर्लेप भाव या शायद (धर्म के प्रति) सहानुभूति-शून्य भाव लिए हुए अनुभव-जन्य प्रयत्नो से "ससर्ग" श्रौर "सद्भाव" के मानसिक-चिकित्सा-सामर्थ्य की पुन खोज की ?

इस प्रश्न का कोई भी उत्तर क्यो न हो, यह तथ्य तो स्पष्ट है कि सामाजिक श्रान्तर्वैयक्तिक, नैतिक, या, "श्राध्यात्मिक" क्षेत्रो मे व्यक्तित्व के कष्टो का निदान श्रौर उपचार प्राप्त करने की श्राशा मे मनोवैज्ञानिक बढती हुई सख्या मे मनो-रोग-चिकित्सको श्रौर पादरियो से सम्पर्क बढा रहे है। लेकिन हाल मे ही श्रौषधि-चिकित्सा मे जो सत्कार्य तथा उन्नति हुई है उसका क्या होगा ? जैसाकि मैंने समझा है, श्रौषधिया भयकर कष्ट श्रौर उद्वेलन की अवस्था वाले व्यक्तियो के लिए अवश्य उपकारी हैं—किन्तु बचाव श्रौर व्यक्तित्व के पुनर्गठन की समस्या को अछूता ही छोड देती हैं।

समाज-शास्त्रीय दृष्टि से हमारे निकट के अनुशासन मे मन, या 'स्व' को जैविक तथ्य मानने की अपेक्षा सामाजिक मानने की प्रवृत्ति बहुत समय से देखी जाती है। यहा पर मीड (1934) का प्रभाव पहले ही बहुत है, श्रौर उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। इस प्रकार विचारधाराश्रो के जिस सशय का ऊपर जिक्र किया है उसे एक श्रौर सहायक धारा मिल जाती है।

यहा धार्मिक परम्पराश्रो श्रौर व्यवहार का केन्द्रीभूत होना स्पष्ट है। लेकिन इनमे एक प्रकट कठिनाई भी थी। इस पर वैधानिक धर्म के उच्च पद पर श्रासीन व्यक्ति को ही टिप्पणी करनी चाहिए। न्यूयार्क के ब्रह्मनिष्ठ सन्त जोन के धर्म-महामन्दिर (एपिस्कोल कैथेड्रिल) के डीन सम्माननीय जेम्स ए० पाइक (1954) कहते है

> "बाइबल पर लिखने वाले प्राय सिद्धान्त तो सक्षिप्त रूप से प्रकट करते हैं लेकिन मानव परिस्थितियो के बारे मे चिन्ता की विस्तार से चर्चा करते हैं। प्राचीन धर्म-सभा ने इस परम्परा को श्रागे-प्रचलित रखा। अभिमत धर्मों पर लिखे लेख बौद्धिक कल्पनामात्र नही है। वे वैयक्तिक तथा सामूहिक अनुभव की अग्नि मे तप्त ऐसे वचन है, जिनमे ईश्वराधीन मानव-जीवन की दिशा श्रौर प्रकृति को प्रभावित करने वाले नित्य के प्रश्नो का स्थायी समाधान मिलता है (पृष्ठ 6)।"

बाइबल पर लिखने वाले सिद्धान्त पर नही, बल्कि साक्षीकरण पर बल देते हैं। कुछ "निवेश करो," "परीक्षण करो" तथा इसका प्रयोग करके देखो "यही लायड डग्लस के उपन्यासो के पात्र कहते है। अथवा, पाइक के अपने रगीन शब्दो मे, खोजने के लिए तुम्हे अपने जीवन की बाजी लगानी पडेगी। ईश्वरदूत पाल[2] ने कहा है "सब बातो को सिद्ध करके देखो"। शायद मनोवैज्ञानिक विभिन्न उपयोगितावादी विचारो की अधिक प्राकृतिक, सुबुद्ध एव विचारपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर सकते है। यह कार्य प्रथम श्रेणी के महत्व और परिमाण का होगा। लेकिन इससे पहले कि मनोवैज्ञानिक और धर्म-वेत्ता इस प्रकार रचनात्मक कार्य मे सहयोग करें, उन दोनो को अपने पूर्व-रूप मे परिवर्तन करना होगा। वर्तमान कालीन धार्मिक लेखक अब उन गलतियो को अधिक महसूस करने लगे है जिनमे उन्नीसवी सदी का धर्म फस गया था। उनमे एक गलती अगीय विकास के स्पष्ट प्रमाणो को स्वीकार करने की हठ थी। लेकिन शायद इससे भी अधिक गम्भीर त्रुटि विकासवाद से आदिष्ट मानव के मनोवैज्ञानिक रूप को स्वीकार करने की तत्परता मे बहुत आगे बढ जाने की थी। एलेग्जेण्डर मिलर की नवीन पुस्तक "मानव का नवीनीकरण" (The Renewal of Man) की भूमिका मे रेनहोल्ड नीबुर (Reinhold Niebuhr, 1950) ने कहा है

> "ईसाई धर्म ने अपने आपको नवीनता मे ढालने का कदाचित् अत्यधिक दुस्साहसपूर्ण प्रयत्न किया है। अपने इस दुस्साहस के कारण इसने ईसाई धर्म-वार्ता के उन सूत्रो की प्राय आहुति दी है जिनसे उन रहस्यो पर प्रकाश पड सकता, जिन्हे आधुनिक ज्ञान ने अन्धकार मे ही छोड दिया है (पृ० 8)।"
>
> "भले ही आधुनिक युग को इस आस्था के मुख्य वचनो मे श्रद्धा न हो, तथापि यह मुक्ति की अपनी ही योजनाए बनाने वाले पूर्वयुग की अपेक्षा इन्हे अधिक सगत मानने के लिए विवश होगा। हमारे युग को मुक्ति की इन योजनाओ मे निकलने वाली अस्त-व्यस्तता एव विकार परम्परा मे प्राप्त हुए है (पृ० 9)।"

इस लेख मे कथित सकेतो के अतिरिक्त और भी ऐसे बहुत से सकेत है जिन से पता चलता है कि आज मे चार सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब हम धार्मिक

---

2 बार्ट्स (1955) का यह कहना ठीक है कि जहा फ्रायड धर्म की निन्दा करता है वहा वह, यह कहते समय कि मनोविश्लेषण का मूल्याकन या आलोचना कोई तब तक ठीक-ठीक नही कर सकता जब तक उसे इसका अनुभव न हो, स्वय धर्म की स्थिति अपनाता है।

सुधार मे बहुत आगे है। सस्थामय धर्म का प्रवाह रुका पडा है। गत शताब्दी मे विज्ञान ने, विशेपकर जीव-विज्ञान ने, इसके जीवन को ही खतरे मे डाल दिया है। अब धर्म मे जीवन का पुन स्फुरण दिखाई देता है और इसी प्रक्रिया मे इसने नई प्राणशक्ति और शुद्धि प्राप्त की है। घटनाओ के इस अप्रत्याशित मोड का मनोविज्ञान के लिए क्या अर्थ है? चाहे हम इसके उत्तर के विषय मे निश्चित न हो, तो भी हम सतोष का सहारा लिए प्रश्न की उपेक्षा नही कर सकते।

साराश

इस बात के स्पष्ट सकेत हैं कि शताब्दी के विगत तीन-चौथाई अश मे जैविक विकास के सिद्धान्त ने अमरीकी मनोविज्ञान को बहुत गहराई और व्यापकता से प्रभावित किया है। मन को स्वय अध्ययन की वस्तु मानने की अपेक्षा उसे "अनुकूलन" का कारण, "शारीरिक आवश्यकताओ के लिए उपकरण का काम करने वाला शरीराग" माना गया है।

"नवीन मनोविज्ञान' (कृत्यवाद, व्यवहारवाद) की दृढता को धन्यवाद जिसने पहली बार बहुत सी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का क्रम-बद्ध तथा तत्वत वस्तुवादी ज्ञान विकसित करने की सम्भावना को सिद्ध कर दिया है। व्यवहार सिद्धान्त अब अपेक्षाकृत तथ्यो और नियमो का ऐसा सगठित सम्मेलन है जो हर वैज्ञानिक गोष्ठी मे अपने ही बल से आदर प्राप्त करता है।

ऐसा भी नहीं है कि इस देश मे डार्विन के सिद्धान्त का प्रभाव मनोविज्ञान तक ही सीमित हो। इसका उतना ही प्रभाव फ्रायड और उसके स्थापित मनोरोग सम्प्रदाय पर भी था। इसमे सामान्य तथा उत्कट "आधियो" का जन्म इस तथ्य से माना गया कि दुर्भाग्यपूर्ण या गलत निर्देशन युक्त—सामाजिक अनुभव के बहाव मे पडने के परिणामस्वरूप मन शरीर से विमुख हो गया है और उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करने का कार्य इसने बन्द कर दिया है।

लेकिन इस बात के प्रमाण बढते जा रहे हैं कि फ्रायड की मूल रचना अथवा वर्तमान कालीन व्यवहार सिद्धान्त के रूप मे किये गए इसके पुनर्कथन मे मानव की कुछ गम्भीर और अप्रतिम रूप से मानवीय समस्याओ का हल नही मिलता। प्रशस्त और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और भी सम्पन्न जीवन की दिशा खोजने के लिए आज हम भविष्य मे (अनुसन्धानो द्वारा) झाक रहे है और ऐतिहासिक अध्ययनो द्वारा अतीत को टटोल रहे हैं। हमे क्या प्राप्त होता है? इस बात के बढते हुए सकेत प्राप्त है कि मानव मन बहुत पहले गहनतम जटिलता के उस बिन्दु पर पहुच चुका था जहा इसके सरक्षण की अपनी ही दशाए बन चुकी थीं। ऐसी दशाए भौतिक सुख और सम्पन्नता की दशाओ से न केवल भिन्न थी, बल्कि बहुत सी अवस्थाओ मे उनके विपरीत भी थी। नए नए अनुसन्धान तथा

इतिहास, दोनो इसी निष्कर्ष की ओर सकेत करते है कि मानव की विलक्षण मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शताब्दियो मे धार्मिक उपदेशो और कृत्यो का विकास हुआ है और इनमे आचरण के बारे मे वह ज्ञान और नुस्खे हैं जिन पर आधुनिक मानव अपने लाभ के लिए पुनर्विचार कर सकता है।

इस प्रकार का पुनर्विचार मुख्य रूप से धर्म चिन्तको ने, तथा विस्मयजनक सीमा तक मनोविकारविदो ने भी प्रारम्भ कर दिया है। यह स्वाभाविक ही है। सामूहिक मनोरोग चिकित्सा मे बढती हुई रुचि के कारण मनोवैज्ञानिक भी सामाजिक मूल्यो के प्रति नवचेतना दिखा रहे हैं और अनुसन्धान तथा प्रयोग के स्तर पर इस समस्या का सयुक्त सामना करने के लिए अनेक आन्तर्व्यावसायिक वर्ग हाल ही मे बने हैं।

इस पत्र की विशिष्टता यह है कि यदि हम मानव के भौतिक और मनोवैज्ञानिक सरक्षण की आवश्यकताओ मे ठीक-ठीक सम्बन्ध देखने मे सफल हो जाए और यदि इस अन्तर्हित मान्यता, कि मन शरीर का अनुचर है तथा यदि यह अपने स्वामी की भली प्रकार सेवा करता है तो यह स्वय अवश्य ही अपनी उन्नति करता है, से ऊचा उठ जाए तो इस प्रकार के समजन की गति तीव्र हो जाएगी। बहुत पहले हमे इस बात का अनुस्मरण कराया गया था कि मानव केवल रोटी से ही जिन्दा नही रहता। और "इस अतिरिक्त कुछ" को पहचानने तथा और अधिक समझने के लिए ध्यान लगाना कुछ असामयिक भी नही है।

2

अचेतन के बदलते हुए प्रत्यय[*]

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का वह तत्व जिसने शायद अन्य बातो से अधिक इसे एक रहस्य का रूप प्रदान किया तथा जिसे इसके व्यवसायियो ने दिव्य ज्ञान और शक्ति माना, इसका "अचेतन" का सिद्धान्त था। इस अध्याय मे हम यह देखेंगे कि इस सिद्धान्त के मौलिक सशोधन और पुनर्मूल्याकन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है जो साधारण व्यक्ति की भावना और परम्परागत नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों के अधिक अनुकूल है। अब मनोरोग चिकित्सा के इस विकासशील सिद्धान्त के रूप मे साधारण व्यक्ति को इस प्रकार के मामलो के बारे मे कुछ जानकारी रखना ही सम्भव नहीं, बल्कि कुछ करने अर्थात् इनके बचाव और सुधार के लिए पहल करने और उत्तरदायित्व लेने की सम्भावना भी बनी रहती है।

पिछले अध्ययन मे हमने यह मान लिया था कि व्यक्तित्व के विक्षोभो को आन्तर्वैयक्तिक, सामाजिक तथा नैतिक पृष्ठभूमि पर ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है। लेकिन इस विचार को ग्राह्य बनाने के लिए हमे शुद्ध आन्तरिक, अन्तर्मानसिक तथा बाह्य, आन्तर्वैयक्तिक उन तथ्यो की, जो आधि और मनो-विक्षिप्ति के नाम से पुकारी जाने वाली दशाओ से अन्वित होते हैं, व्याख्या करना आवश्यक है। यहा यह गम्भीर विचार ही वह माध्यम है जिसमे अन्तर्विवेक कहा जाने वाला अद्भुत साधन कार्यान्वित होता है। यदि हमारा यह विश्लेषण ठीक है तो व्यक्तित्व का विक्षोभ इतना एक रोग नहीं रह जाता, जितना अचेतन द्वारा व्यक्तित्व मे परिवर्तन और विकास करने का प्रयत्न सिद्ध होता है। क्या यह हो सकता है कि इस क्षेत्र मे प्रचलित चिकित्सा और रोगनिरोध के बहुत से प्रयास इसलिए असफल (हानिप्रद तक भी) रहे हैं कि ये विरोधी मान्यताओ से अनुबद्ध थे?

परिचय

इस क्षेत्र मे जहा विभ्रान्ति और अनिश्चितता का बाहुल्य है, वहाँ एक अटल

---

* यह लेख अमेरिकन परसोनल एण्ड गाइडैंस एसोसियेशन के निमन्त्रण पर तैयार किया गया और, सेंट लुई में, वर्ष 1958 की इसकी बैठक में पढ़ा गया तथा बाद में 'दि जरनल आफ नर्वस एण्ड मेंटल डिजीज़' में (1959, 129, 222—232) प्रकाशित हुआ।

तथ्य यह भी है कि मनोरोगचिकित्सा का प्रमाण-चिह्न मानसिक कष्ट-ग्रस्त व्यक्ति द्वारा यह महसूस करना है कि उसे ऐसे अनुभव होते है जिनकी उसने स्वय योजना नही बनाई होती या जिसका उसने स्वय सकल्प नही किया होता और जिन्हे वह स्वय नही समझता। अत इस निरीक्षण की व्यापकता, इस विचार के सत्य होने की सम्भावना का आधार है कि व्यक्तित्व के कष्ट व्यक्तित्व के अन्दर किसी अन्यदेशीय, असम्वद्ध, अपरिचित, अनिष्टकर शक्ति या शक्तियो के सघात, आधुनिक शब्दावली मे कही जाने वाली अचेतन विधा की उपस्थिति तथा क्रिया के कारण है।

लेकिन इससे आगे अल्प सहमति है। अचेतन मे क्या है? यह उसमे कैसे प्रविष्ट होता है? यह क्या करने की चेष्टा मे रहता है क्या इसकी सहायता करनी चाहिए अथवा इसका विरोध करना चाहिए, ये ऐसे प्रश्न है, जिनका अपने समय मे हमारे पास कोई निश्चित उत्तर नही है। इस पत्र का उद्देश्य इन प्रश्नो पर तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पूर्ण मनोरोग-चिकित्सा की समस्या पर विचार करना है तथा सिद्धान्त और व्यवहार के वर्तमानकालीन असगत व्यूह का आशानुकूल एकीकरण तथा उसके विशिष्ट अर्थ लगाने का प्रचलित स्वरूप प्रस्तुत करना है।

दमन और अचेतन पर फ्रायड के विचार

इस अन्वेपण की दृष्टि से, 1915 का वर्ष बहुत विख्यात था। उस वर्ष फ्रायड ने दो पत्र प्रकाशित किए एक "दमन" पर और दूसरा "अचेतन" पर, जिनमे उसका सैद्धान्तिक दर्शन और तथाकथित "अतिमनोविज्ञान" सग्रहीत है, उनमे उन विचारो का भी प्रतिपादन है जिनका प्रभाव और छाप ससार भर मे अकित है। इनमे से दूसरे पत्र मे फ्रायड प्रवर्त्तक युक्ति देता है कि मन या मानसिक क्रिया का प्रत्यय उन्ही प्रक्रियाओ तक सीमित नही मानना चाहिए जो किसी विशेष क्षण मे चेतन होती है या चेतन हो सकती है, वल्कि इसमे उन शक्तियो या प्रक्रियाओं को भी शामिल करना चाहिए जो अचेतन है और जिनको इसी कारण सुप्त अथवा अनुभव और कर्म निर्धारित करने मे असमर्थ नही समझना चाहिए। उसने कहा

> "मन मे अचेतन-तन्त्र के होने तथा वैज्ञानिक काम के लिए ऐसी मान्यता का प्रयोग करने के बारे मे हमारे तर्को का अनेक क्षेत्रो मे विरोध हुआ है। इसका हम यह प्रत्युत्तर दे सकते है कि अचेतन की सत्ता की मान्यता आवश्यक और सयुक्तक है, तथा हमारे पास अचेतन की सत्ता के अनेक प्रमाण भी है। यह इसलिए आवश्यक है कि चेतना के प्रदत्त बहुत

ही दोषपूर्ण है स्वस्थ तथा रुग्ण दोनो ही प्रकार के व्यक्तियो की मानसिक क्रियाओ की प्राय गति इस प्रकार की होती है कि इसकी व्याख्या अन्य ऐसी क्रियाओ को मान कर ही हो सकती है जिनके बारे मे चेतना मे कोई प्रमाण नही मिलता। इनमे स्वस्थ व्यक्तियो के स्वप्न और प्रत्येक वह बात, जिसे रोगियो मे ग्रस्तता और मानसिक लक्षण कहते है, शामिल नही है। हमारे निकटतम दैनिक अनुभवो मे अचानक ऐसे विचार आते है जिनके स्रोत का हमे ज्ञान नही होता तथा मानसिक क्रियाओ के ऐसे परिणाम भी प्राप्त होते हैं जिन के बारे मे हमे यह ज्ञात नही होता कि उनकी उपलब्धि क्योकर सम्भव हुई। यदि हम यही मानने पर दृढ रहे कि हमारे अन्दर होने वाली प्रत्येक मानसिक क्रिया का चेतन अनुभव होना ही चाहिए तो ये सभी चेतन क्रियाए असम्बद्ध तथा दुर्बोध बनी रहती है। दूसरी ओर यदि हम अनुमान से ज्ञात अचेतन क्रियाओ की कडिया इनमे डाल दे तो ये सिद्धियुक्त शृ खला मे बद्ध हो जाती है। इसलिए हम यह मानने के लिए विवश हो जाते है कि यह आग्रह करना कि मन मे जो भी कुछ होता है उसका चेतना को ज्ञान होना ही चाहिए, अयुक्त तथा दुराग्रहपूर्ण है (1955b, पृ० 99)।"

यद्यपि फ्रायड यह नही मानता था कि अचेतन मन केवल दमन से ही बनता है, वह यह तो मानता ही था कि दमन अचेतन शक्तियो का प्रबल स्रोत और मनोरोग का प्रधान कारण है। क्योकि कोई विचार या प्रवृत्ति चेतना से लुप्त हो गई है, इसीलिए इसका यह अर्थ कदापि नही निकलता कि इसके गतिक गुण समाप्त हो गए हैं, और अपना परिचय देने तथा अपने आप को व्यक्त करने की इसकी निरन्तर चेष्टा, फ्रायड के अनुसार, चिन्ता और अनुस्यूत लक्षण-रचना का प्रधान आधार बनती है। इससे भी अधिक विशेष रूप से फ्रायड का वह विश्वास था कि वे मानसिक प्रक्रियाए जिनका दमन होता है काम तथा विद्वेष की मूलप्रवृत्यात्मक शक्तिया हैं और दमन का प्रकार ऐसा है कि यह तभी होता है जब समाज द्वारा भरे गए नैतिक उपदेशो के बहाव मे 'अहम्' इन प्रवृत्तियो को नही मानता और उन्हे अपनाने से अस्वीकार कर देता है।

दमन के दो प्रकारो अथवा अवस्थाओ मे भेद करना आवश्यक है। सर्व प्रथम, वह दमन आता है जिसे फ्रायड मूलभूत दमन (Primal repression) कहता है, यह दमन की प्रथम अवस्था है जिसमे मूलप्रवृत्ति की चेतना मे मानसिक (विचारात्मक) उपस्थिति होना अस्वीकार किया जाता है (1915a, पृ०86)। लेकिन फ्रायड आगे लिखता है

"दमन मूलप्रवृत्ति की स्थिति के निरन्तर अचेतन मे रहने तथा अपने

से व्युत्पन्न बातो तथा सम्बन्धो को अपने आप मे शामिल करके अपना और भी अधिक गठन करने मे बाधक नही होता (पृ० 87) ।"

दमन की दूसरी अवस्था, वास्तविक दमन का सम्बन्ध दमित मूलप्रवृत्यात्मक-उपस्थिति से व्युत्पन्न मानसिक तत्वो से अथवा ऐसे विचार-सन्तानो (Trains of Thought) से है जिनका जन्म कही और हुआ है लेकिन जिनका इसके साथ सम्बन्ध हो गया है। इस सम्बन्ध के कारण इन विचारो का भी वही हाल होता है जो मूल दमन मे होता है। इसलिए, वास्तविक दमन पश्चात्-बहिष्करण ही है (पृ० 86-87)।"

इसलिए, फ्रायड आगे लिखता है

"दमन की प्रक्रिया को कोई ऐसी चीज नही मानना चाहिए जो एक बार ही घटित होती है, जिसके परिणाम स्थायी है, यथा जिस प्राणी की एक बार हत्या कर दी जाय वह हमेशा के लिए मृत हो जाता है। इसके विपरीत दमन लगातार शक्ति के ह्रास की माग करता है, और यदि यह रुक जाए तो दमन की क्रिया भी छिन्न हो जाती है, इसलिए फिर नए सिरे से दमन की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। हम कल्पना कर सकते है कि जो दमित होता है वह लगातार चेतना की ओर दबाव डालता रहता है। इसलिए इसके विपरीत दृढ दबाव से ही सन्तुलन बना रहता है। अत लगातार रहने वाली दमन की प्रक्रिया के साथ लगातार शक्ति-क्षय अनुबद्ध है और बचत की दृष्टि से इसकी समाप्ति का अर्थ बचत है (पृ०89-90) ।"

इस प्रकार मूलप्रवृत्ति और नैतिक दबाव के द्वन्द्व को दमन द्वारा समाप्त करना अस्थायी है और निर्बल करने वाला है इससे तर्क-सम्मत यह निष्कर्ष निकलता है कि चिकित्सा का प्रधान उद्देश्य दमन को समाप्त करना और काम तथा विद्वेषपूर्ण प्रवृत्तियो को अपनी सतुष्टि का सीधा रास्ता तलाश करने की आजादी देना है। यह एक ऐसा प्रोग्राम था जिसके लिए मनोविश्लेषणवादी को मूल-प्रवृत्तियो का साथ देना तथा उनकी वकालत करना था और व्यक्तित्व मे निहित जो नैतिक अथवा नैतिकता का छद्मवेष धारण करने वाली शक्तिया दमन करती हैं उनका विरोध करना था। आशा है कि इन शक्तियो को रोगी और विश्लेषण कर्त्ता की सम्मिलित शक्ति से पीछे रोका जा सकता है जिससे कि अवरुद्ध मूल-प्रवृत्तियो को उचित अभिव्यक्ति मिल सके। इतना ही नही, यह भी विश्वास किया जाता था कि तथाकथित 'ट्रान्सफरेन्स' आधि (Transference neurosis)

से गुजरते हुए इन शक्तियो (forces) की कठोरता और विवेक-शून्यता (ırr.ıtıonalıty) स्थायी तौर पर कम हो जाए जिससे कि विश्लेषण के बाद व्यक्ति विश्लेषक की लगातार उपस्थिति और सहायता के बिना अधिक स्वाभाविक ढग से तथा अधिक आराम से क्रिया कर सके।

प्रयोगात्मक दृष्टि से फ्रायड का यही पूरा सिद्धान्त है। 1915 के लेखो तक वह चिन्ता को दमित प्रवृत्तियो का सीधा 'रूपान्तरण' मानता था, इस मत मे उसने कुछ सशोधन-चिन्ता के अपने द्वितीय सिद्धान्त' मे करना था। इसमे 'पराहम्' शब्द भी जोडना था, यद्यपि वह सेन्सरकार्य की बात तो पहले करते ही थे (1915b, पृ० 105)। लेकिन सिद्धान्त की रूपरेखा पहले ही बन चुकी थी और पहले ही सिद्धान्त पूर्ण हो चुका था बाद मे तो इसमे छोटे-छोटे सशोधन करने थे। लेखा चित्रीय उपमाओ के अपने प्राकृतिक गुण का प्रयोग करते हुए दमन के अपने विवेचन का सक्षेप वे इस प्रकार देते हैं

> "सामान्य रूप से एक मूल-प्रवृत्ति के दमन का परिणाम यह होता है कि यदि मूल-प्रवृत्ति पहले चेतना मे आ चुकी होती है तो वह चेतना से गायब हो जाती है, और यदि मूल-प्रवृत्ति चेतना मे आने वाली होती है तो इसे पीछे ही रोक लिया जाता है। आखिरकार इनमे भेद ही क्या है। इनका भेद तो ऐसा ही है जैसे कि अवाछित अतिथि को अपनी बैठक या सामने के हाल से बाहर निकालने की आज्ञा देने और उसे एक बार पहचान लेने पर अपनी देहली पार न करने देने का भेद (1915a, पृ० 91)।"

इसमे सिर्फ इतना और जोड देना चाहिए कि यह अवाछित अतिथि बाहर निकाले जाने के बाद चुप-चाप चला नही जाता, वल्कि उलटा पुन प्रवेश पाने के लिए और रास्ते ढूंढता है, मानो वह कोई बेचैन प्रेतात्मा हो और जिस निवास स्थान पर अपना उचित अधिकार समझता है उसमे रहने वाले प्रमुख लोगो को त्रास और पराभव देने के लिए उस पर मडरा रहा हो।

स्टेकल (Stekel), वौइसन और अन्य लोगो का पक्षान्तर

अभिनव प्रकाशित तीन जिल्दो की अपनी जीवनी मे अरनेस्ट जोन्स फ्रायड पर किए गए इस दोपारोपण का कि 'वह ऐसा व्यक्ति था जिसके साथ चलन कठिन था' प्रतिवाद करते हैं और तर्क देते है कि जो प्रारम्भ मे तो आकर्पित हुए और जल्दी या देर मे उसके विरुद्ध हो गए, वे स्वय वेपेंदी के थे और उनका अपना चरित्र सदेहास्पद था। दूसरी तरफ, ईरा प्रोग्रोफ अपनी पुस्तक 'द डैथ

वाणी का अश दिखाई देता है। "टैक्नीक आव एनलेटिकल साइकोथिरेपी" मे एक उत्कृष्ट अध्याय है जिसका शीर्षक "अन्त करण के रोग" है। इस अध्याय मे जो कहा गया है वह अप्रत्याशित है। फ्रायड ने अपने प्रारम्भिक लेखो मे अस्पष्ट रूप से और बाद के लेखो मे स्पष्ट रूप से यह माना है कि रोग-जनक दमन की क्रिया इस लिए होती है कि व्यक्ति का अन्त करण अथवा पराहम् बहुत कठोर, अवास्तविक तथा विवेक शून्य होता है। इस लिए स्टेकल जब "अन्त करण के रोग" की चर्चा करता है तब उसके मन मे भी वही मान्यताए होगी जो फ्रायड के तथाकथित आधि के प्रत्यय के पीछे थी।

इसके विपरीत, अन्त करण के प्रति स्टेकल का दृष्टिकोण सम्मानपूर्ण और भावात्मक है, और उसके "अन्त करण के रोग" लेख से एकदम स्पष्ट हो जाता है कि उसका अर्थ ऐसे रोगो अथवा परेशानियो से है जो अत करण और उसकी पुकार के उपेक्षापूर्ण तिरस्कार अथवा सचेष्ट विरोध के कारण उत्पन्न होते हैं। वे लिखते है

> "मनोरोग चिकित्सक के रूप मे अपने अनुभवो से मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि बहुत से तन्त्रिका-विकार 'अन्त करण के रोग हैं'। मगर अन्त करण जितने रूप बदल सकता है उन्हे पहचानना सरल नही है। ऐसे भी स्थिर ढग है जिनसे अन्त करण के छल को प्रकाश मे लाने और पराभावुक (parapaths) के दिखावे को—क्योकि कई बार ये लोग अपने आपको यह मानने के लिए विवश करते हैं कि उनका कोई अन्त करण नही है और आत्मग्लानि से बचने के लिए कृत्रिम शारीरिक रोग की शरण ले लेते है—समझने मे सहायता मिलती है।"
>
> "ऐसे रोगी को विश्लेषण के दिनो मे कभी—बुरा 'अन्त करण का दौरा' पडता है जिसमे वह फूट-फूटकर रोने लगता है और यह दशा शमनकारक स्वीकृति से पहले आधे घटे तक रह सकती है (पृ॰320)।"

स्टेकल फिर अपनी लेखन-शैली के अनुसार बहुत ही रोचक तथा नाटकीय रोगवृत्तो मे डूब जाता है, जिनकी यहा समीक्षा नही हो सकती लेकिन सक्षेप मे वे कहते है

> "इन सभी वृत्तो से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड के मत का अवलम्बन करने वाले जो लोग इस एकागी मत के हैं कि मनोजात कष्टो का एक मात्र कारण काम-वासना की सतुष्टि न होना है, उनके मत को यदि हम अपनाते हैं तो कितनी गम्भीर गलती करते हैं। 69वें, 70वें और

71वें वृत्तों में काम प्रवृत्ति को खुली छूट थी और उनकी सतुष्टि भी होती थी लेकिन फिर भी अदम्य रोग अकस्मात् उभर आता था, जब कि सनन के दिनों मे रोग के लक्षण लुप्त हो जाते थे क्योंकि द्वन्द्व को जन्मदेने वाले सम्बन्ध टूट जाते थे और अन्त करण शान्त होता था (पृ० 324)।"

"इस प्रकार के बहुत से वृत्त मेरे पास हैं लेकिन यहा मैंने यह दिखाने के लिए कि पराभावात्मक विकार (parapathic disorders) ही अन्त करण के रोग हो सकते हैं, कुछ ही वृत्त चुने है। रोगी अपने पश्चात्ताप को दबाता है, अन्त करण की आवाज को डुबाने का प्रयत्न करता है और मुक्ति की मिथ्या अनुभूति करने लगता है। प्रकृति बदला लेती है (पृ० 327)।"

जब तक फ्रायडवाद का बोलबाला था स्टेकल के विचारो का अज्ञात तथा प्रभावरहित पडे रहना कोई आश्चर्य की बात नही थी। लेकिन 1956 मे 'प्रोग्रेस इन साइकोथिरेपी" शीर्षक एक पुस्तक (अमरीकी मनोवैज्ञानिक सघ के अर्द्ध-सरकारी तत्त्वावधान मे) प्रकाशित हुई, जिसमे चालीस विभिन्न लेखको ने परम्परानिष्ठ मनोविश्लेपण के प्रति गम्भीर शका और निराशा व्यक्त की और जिसमे लोवी और गुथैल द्वारा लिखित एक अध्याय है, उसमे स्टेकल की मनोरोगचिकित्सा के प्रति "सचेष्ट विश्लेपणात्मक" उपागम की व्याख्या और वकालत की है। इस सम्बन्ध मे लेखक कहते हैं

"एक स्वतन्त्र मनोविश्लेपणात्मक तकनीक के जन्मदाता के रूप मे स्टेकल का सर्वप्रथम आगमन उनकी इस थीसिस से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक आधि-या 'पैरापेथी' जैसा कि इसे वे कहते हैं—नैतिक नियमो और वफादारी और इनके विपरीत कामनाओ और प्रवृत्तियो मे द्वन्द्व पर आधारित होती है। चिकित्सा के मार्ग मे विकसित हुआ यह सरल सूत्र उस समय इतना स्वय-सिद्ध नही लगता था जितना कि बाद मे बन गया "

"यद्यपि स्टेकल प्रधान रूप मे व्यवसायी थे, लेकिन मनोविश्लेपण के सिद्धान्त के लिए उनकी कुछ महत्वपूर्ण देन है। फ्रायड की पराहम् की खोज से पहले स्टेकल ने आधि के मनोजात होने का एक कारण 'नैतिक अहम्' को बनाया था। वे यह मानते थे कि आधिमय प्रतिक्रिया नैतिक प्रवृत्तियो के दमन से ही नि सृत नही होती, कई अवस्थाओ मे जब व्यक्ति अपनी अनैतिक तथा असामाजिक इच्छाओ के सामने घुटने टेकता दिखाई देता है तो रोगी के सकल्प के विरुद्ध नैतिक तत्व भी प्रबल हो उठते हैं।

> वह (स्टेकल) एक ऐसे यात्री विक्रेता (travelling salesman) का उद्धरण देते है जो अपनी पत्नी के साथ सम्भोग मे हमेशा सबल रहता था, लेकिन दूसरी औरतो के साथ नपुसकता अनुभव करता था। इस प्रकार के वृत्तो को इस बात का प्रमाण पाया गया कि आधि-लक्षण रोगी की अचेतन नैतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करते है, अर्थात् वे व्यक्ति की नैतिकता के सरक्षक होते हैं (पृ० 136)।"

जैसा कि पहले उद्धृत पुस्तक मे प्रोगोफ ने कहा है कि ऐडलर, युग और रैङ्क ने प्राचीन मनोविश्लेपण को छोडते समय, आधि के कारणो के रूप मे सामाजिक, नैतिक अथवा "आध्यात्मिक" तत्वो पर अधिक बल दिया है, किन्तु, जैसा कि ऊपर दिए उद्धरण से विदित होता है, इस प्रकार की विचारधारा स्टेकल मे ही प्रमुख थी।

और, लगभग उसी समय, लेकिन स्टेकल के साथ किसी प्रकार के सम्पर्क से अलग, आटन टी० बौइसन नाम के एक अमरीकी लेखक स्वतन्त्र रूप से ऐसे ही दृष्टिकोण की रचना कर रहे थे। मानसिक चिकित्सक के रूप मे स्वय अपने अल्पकालीन अनुभव तथा बाद मे वोरचैस्टर (मैसाचुसैट्स) के राजकीय हस्पताल मे राकफैलर की महायता से किए गए अन्तराबन्ध (Schizophrenia) के अध्ययन मे भाग लेने से बौइसन का यह पूर्ण विश्वास हो गया कि मनोविक्षिप्ति चरित्र-सकट का प्रकाशन है, जिससे एक व्यक्ति अधिक गिरावट की ओर अथवा नैतिक तथा सामाजिक उच्चस्तर पर अपने पुनर्गठन की ओर जा सकता है। सरल, मृदु-भापी तथा निर्विवाद बौइसन का स्वभाव स्टेकल के स्वभाव से बिल्कुल भिन्न था, लेकिन मनोरोग चिकित्सा के बारे मे उनके विचार एक थे। अपनी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्तर्जगत् का मन्थन' (The Exploration of the Inner World, 1936) मे उन्होने जो विचार प्रकट किए हैं, वे नीचे के उद्धरण मे सग्रहीत है। वे लिखते है

> "मनोरोग-चिकित्सा का जो रूप अब सबसे अधिक लोगो की नजरो मे है वह मनोविश्लेपण है। अपने उद्देश्य मे यह धर्म-निष्ठ-चिकित्सा (Faith healing) के ठीक विपरीत है। इसके प्रवर्त्तको ने इसकी तुलना शल्य-क्रिया, उसमे भी वृहत् शल्य-क्रिया से की है। जिन काम प्रवृत्तियो और इच्छाओ को अपनाया नही गया और जो चेतन 'स्व' से लुप्त हो गई और जो आधि-लक्षणो के लिए उत्तरदायी हैं उन्हे नग्न करके स्पष्ट चेतना मे लाना इसका उद्देश्य है। जिस अन्त करण तथा जिन नैतिक मानदण्डो के कारण काम-प्रवृत्तियो को अपना अग स्वीकार नही किया

जाता उन्हे दबाना इसका उद्देश्य है जिससे कि इन प्रवृत्तियो को व्यक्तित्व मे सग्रहीत समझा जा सके। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनोविश्लेषणकर्त्ता रोगी के विगत प्रारम्भिक अनुभवो को पुन जागृत करता है। इस सम्पूर्ण विधि का उद्देश्य रोगी को उन तत्वो से विमुख करना है जिनमे वह पूर्वकाल मे श्रद्धा रखता था और एक ऐसा नया जीवनदर्शन बनाने मे सहायता देना है जिसमे विघटित काम प्रवृत्तियो को उचित स्थान मिला हो (पृ० 243-244)।"

"(अस्पताल के एक पुरोहित तथा चिकित्सक के रूप मे) अपने सभी प्रयोगो मे मैं एक सरल नियम पर निर्भर रहा हू, जिसे मैंने अपने धार्मिक शिक्षण से प्राप्त किया है और मेरे विचार मे जिसे बहुत कम समझा गया है, मेरा सकेत इस मत की ओर है कि मानसिक विकृति की असली बुराई मानसिक द्वन्द्व मे नही है बल्कि असग और स्नेह-विच्छेद के भाव मे है। यह भय और पाप का भाव ही है जो जीवन मे किसी ऐसे तत्व की उपस्थिति के कारण पैदा है जिसे बताने मे डर लगता है।[2] इस कारण द्वन्द्व से छुटकारा पाने के लिए मै अन्त करण को गिराना आवश्यक नही समझता। आवश्यकता क्षमा तथा ईश्वर के नाम से पुकारे जाने वाले सामाजिक तत्व के प्रति सख्यभाव की है (पृ० 267-268)।"

"मैं तो यह भी सुझाव दूगा कि हमारी उपलब्धियो से यह सकेत मिलता है कि पाप और आत्म-निन्दा के भाव तथा भावात्मक विकृति जो उनके साथ चलती है, स्वय कोई बुराई न होकर चिकित्सा के लिए चेष्टाए हैं। वास्तविक बुराई तो विकास की विशेष अवस्था मे आवश्यक समायोजना प्राप्त करने की असफलता तथा हीन तुष्टि मे जीवनी-शक्ति को नष्ट करने मे है (पृ० 281)।"

उसी ग्रथ मे अन्यत्र स्टेकल की सी शब्दावली का प्रयोग करते हुए बोइसन तीव्र आधि अथवा मनोविक्षिप्ति मे पीडित एक व्यक्ति के वर्णन मे लिखते है

"वह अपने कष्टदायी अन्त करण को दबाने के लिए तब तक सतोषजनक सरक्षा के उपायो को अपनाता रहा जब तक कि तनाव टूटने की अवस्था तक न पहुचा और एक आकस्मिक झटके से अचानक हृत प्राप्त न हो गया (पृ० 78)।"

दसियो वर्ष तक फ्रायड का मत मानते रहने के बाद 1947 मे जब बौइसन और स्टेकल के नामो से तो कुछ परिचय था, लेकिन उनकी कृतियो की विस्तृत जानकारी नही थी, वर्तमान लेखक ने निम्नलिखित अवस्था अपनाई थी

"पुनरावृत्ति के तौर पर यहा यह कहा जा सकता है कि हम यहा लक्षण-रचना (Symptom formation) की प्रकृति के बारे मे फ्रायड के मूलभूत सिद्धात को (अर्थात् तथाकथित आधि-लक्षण एक स्वभाव है जो चिन्ता को तो समाप्त कर देता है लेकिन जो बुनियादी तथा यथार्थ-मयी समस्या चिन्ता मे व्यक्त होती है उसे कम नहीं करता) पूर्ण रूप से स्वीकार करते है और हम फ्रायड के इस विचार से भी पूर्ण रूप से सहमत हैं कि चिन्ता की सतोषजनक व्याख्या करने के लिए दमन आवश्यक है। इस प्रत्यय के बिना चिन्ता की सतोषजनक व्याख्या वस्तुत असम्भव है। लेकिन अर्थ-क्रियावादी तथा तार्किक दोनो वर्गो की ही दृष्टि से अब ऐसा प्रतीत होता है कि फ्रायड को चिन्ता की प्रकृति समझने मे कभी सफलता नही मिली।"

"जिस प्रमाण पर यह कथन आधारित है उसे यहा पूर्ण रूप से देना सम्भव नही है। लेकिन जिस दिशा मे फ्रायड के विश्लेषण के सिद्धान्त मे सुधार होना चाहिए उसका कुछ सकेत यहा दिया जा सकता है। फ्रायड के सिद्धान्त का सार यह है कि चिन्ता का कारण दूषित अभि-लाषाए है, ऐसे कर्म है जिन्हे करने का यदि व्यक्ति को साहस होता तो वह अवश्य करता। विकल्प रूप मे जो मत यहा प्रस्तुत किया गया है वह यह है कि चिन्ता का कारण वे कर्म नही हैं जिन्हे साहस होने पर व्यक्ति जरूर करता, बल्कि वे कर्म हैं जिन्हे व्यक्ति कर चुका होता है लेकिन सोचता है कि यदि वह उन कर्मो को न करता तो अच्छा होता। दूसरे शब्दो मे यह चिन्ता का 'अपराधमूलक सिद्धान्त' है, न कि 'प्रवृत्ति-मूलक सिद्धान्त'।"

"बहुत ही सक्षिप्त लेकिन अमूर्त्तरूप मे व्यक्त किए जाने पर इन दोनो मतो का भेद यह है कि एक तो यह मानता है कि चिन्ता का कारण इद (Id) का दमन है, जबकि दूसरा यह मानता है कि चिन्ता पराहम् या अन्त करण के दमन के कारण उत्पन्न होती है (पृ० 537)।"

जैसा स्वाभाविक है लेखक के लिए स्टेकल और बौइसन की पूर्वानुवर्ती रचनाओ की खोज तथा बौइमन के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क बहुत ही आत्म-तुष्टि का कारण रहे हैं। लेकिन यहा और वर्तमान कालीन साहित्य मे अन्यत्र

इससे इन मामलो के सम्बन्ध मे मेरी पुरानी स्थिति को ठीक-ठीक प्रकट नही किया गया, मैंने यह कभी नही कहा कि चिकित्सा का उद्देश्य अन्त करण को दृढ बनाना है या उसकी कठोरता को बढाना है, यद्यपि मेरे सिद्धान्त के बारे मे यह गलत धारणा आम रही है। मैंने जो कहा है वह तो केवल यह है कि रुग्णतन्त्रिक की एक बडी आवश्यकता अपने अन्त करण को मुक्त देखने की होती है, जैसे फ्रायड के अनुसार चेतना मे आने के लिए तथा व्यवहार के नियमन मे नियन्त्रण का अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए तडफडाती हुई दबी हुई किसी मूल-प्रवृत्ति को मुक्त देखने की आकाक्षा होती है। इनमे से किसी भी मत मे न तो यह कहा गया है और न इसका सकेत ही किया गया है कि व्यक्तित्व के जिस अश का दमन हुआ है उसे दृढ करना है। क्योकि फ्रायड यह मानता था कि रुग्ण-तन्त्रिक के पराहम् को कुछ कम कठोर तथा कुछ कम निष्ठुर बनाना चाहिए, और क्योकि मैंने इस मत के प्रति असहमति प्रकट की है, यह अनुमान लगाना सरल लेकिन भ्रान्त था कि मैं इसके नितान्त विपरीत बात कह रहा हू। फ्रायड की अवस्था के साथ मेरे मतभेद, केवल स्पष्ट मत-भेद, का सम्बन्ध इस प्रश्न से था कि वह तत्व क्या है जिसका दमन किया जाता है, अथवा दूसरे शब्दो मे दमन की दिशा तथा अचेतन की वृत्ति के स्वरूप से था, और मैं इस विचारणीय विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्राप्त इस सुअवसर का स्वागत करता हू (देखो लैविट्सकी, 1960)।

अन्य दृष्टि से, डाक्टर जोराई का निरूपण निस्सन्देह सत्यसम लगता है। शैशवावस्था और प्रौढावस्था मे, एक सस्कृति और दूसरी सस्कृति मे, और एक ही सस्कृति मे व्यक्ति व्यक्ति के अन्त करण मे भेद होते हैं। समाजाचारी (Sociopath), चाहे यथार्थ मे न हो लेकिन परिभाषा के अनुसार वह व्यक्ति है जिसका अन्त करण कमजोर तथा अविकसित होता है, और अन्य व्यक्तियो मे अन्त करण अति कठोर ही क्यो न हो, इसका कोई प्रागनुभूत कारण नही है। मगर यहा अनुभव अथवा तर्क के आधार पर इस विषय पर विवाद करने की मेरी इच्छा नही है। मेरी तो यह अभिलाषा है कि अचेतन, अन्त करण तथा दमन के प्रश्न पर नये ढग से विचार की ओर ध्यान दिया जाए।

धार्मिक सदर्भ मे अचेतन पर पुनर्विचार

विशाल दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक वस्तुपरता का दम्भ करने के बावजूद कुछ बातो मे बहुत से मनोवैज्ञानिक अहकारी तथा स्वमताग्रही होते है। मुझे याद है 1930 के मध्य जब येल मे मानवीय सम्बन्धो की सस्था के निरूपित विषयो मे इतिहास को शामिल करने का प्रश्न उठाया गया तब एक साथी ने कहा था कि हम न इतिहास मे रुचि रखते हैं और न विज्ञान के इतिहास मे,

हम तो केवल विज्ञान की रचना करने मे रुचि रखते है । और निश्चय ही यह व्यापक मान्यता देखने मे आई है कि भविष्य केवल हमारा ही है । हम मे से कुछ मनोवैज्ञानिक तो इतनी आयु वाले है कि वे तो इस 'भविष्यत्' का एक बडा भाग देख चुके होगे, और हम किसी भी प्रकार से निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि अपने कुछ पूर्वगामियो की अपेक्षा हम अधिक बुद्धिमान अथवा भाग्य के अधिक कुशल सचालक है। यह तो निश्चित है कि बहुत समय से मानवजाति को वे तथ्य मालूम थे जिन्हे हम आज मनोरोग कहते है । किन्तु यह निश्चित नही कि हमारे अग्रज उसे हमारी अपेक्षा कम समझते अथवा उसका कम प्रबन्ध करते होगे ।

इस प्रकार शुद्ध होने पर एक मनोवैज्ञानिक के रूप मे मुझे ऐसा लगता है कि मेरी नजरे नई रुचि और सम्मान के साथ भूतकाल की कुछ महान् सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक रचनाओ की ओर देख रही है, और इस सम्बन्ध मे प्राचीन सहिता (Old Testament) से अधिक शिक्षाप्रद और कुछ नही दिखाई देता । इसकी भाषा प्राय आलकारिक तथा कविता-की सी है लेकिन इन लेखो का उद्देश्य और विषय-वस्तु समझने मे विशेष कठिनाई नही होती। और निस्सदेह इसमे हमे ऐसा मनोविकृति-विज्ञान मिलता है जिसका धर्म के साथ तादात्म्य है ।

प्राचीन सहिता (Old Testament) के लेखक अपने तथा अपने दूसरे मानव बन्धुओ के भावात्मक दर्द को "परमात्मा के कोप" की अभिव्यक्ति समझते है । एक्लेस्यास्ट्स (Ecclesiastes 5,7) ईस्या (Isaiah 13,9) साम (Psalm, 90) तथा अन्यत्र भी यह विचार मिलता है, और जॉब (Job) इसे ही सक्षेप से प्रकट करता है जब वह कहता है, कि, "ऐ, मेरे मित्रो, मुझ पर दया करो, मुझ पर दया करो, क्योकि ईश्वर का हाथ मुझे लग चुका है ।" (19,21) लेकिन इस विषय को शायद सब से अधिक विस्तार और स्पष्टता से प्रथम डेनियल (Ist Daniel) के चौथे अध्याय मे नैबुशडनेजर (Nebuchadnezzar) को परेशान करने वाले पागलपन मे मिलता है। स्वप्नो और विचारो मे दु खी होकर राजा उनका अर्थ पूछने के लिए डेनियल को अपने पास बुलाता है । बहुत सकोच के बाद डेनियल ने राजा को बताया कि वह दम्भी (Vian) और विधर्मी (iniquitous) बन गया है और इनसे मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसे बहुत दु ख भोगने है ।

> "और (दु ख और तिरस्कार) के अन्त मे मैं—नेबुशडनेजर—ने, अपनी आँखें स्वर्ग की ओर उठाई और मुझे मेरा ज्ञान वापिस मिल गया, और मैंने सर्वोच्च को आदर प्रदान किया, और उनका

प्रशस्ति-गान तथा सम्मान किया, जो सनातन है, जिसका प्रभुत्व सर्वदा रहने वाला है तथा जिसका साम्राज्य पीढी-दर-पीढी चलता रहता है, और पृथ्वी के सभी प्राणी तो न होने के समान ही माने जाते है, और वह अपने सकल्प के अनुसार स्वर्ग की सेना के प्रति तथा पृथ्वी के निवासियो के लिए जो करना चाहता है करता है, और कोई भी उसका हाथ रोकने वाला नही है, अथवा यह कहने वाला नही है कि 'तुम क्या करते हो ?' "

"इसके साथ-साथ मेरी बुद्धि मुझे मिल गई और मेरे साम्राज्य की कीर्ति के हेतु मेरा सम्मान और दीप्ति मुझे प्राप्त हो गई, और मेरे परामर्शदाता और मेरे स्वामी मेरे पास आए, और मैं अपने साम्राज्य मे पुन प्रतिष्ठित हो गया, और अद्भुत कान्ति मुझ मे आ गई।"

यहा जो कुछ कहा है उसका अर्थ बहुत गम्भीर और दूरगामी प्रतीत होता है। यदि मैं जॉब, नेबुशडनेजर तथा प्राचीन सहिता के अन्य चरित्रो की कहानियो को ठीक-ठीक समझ सका हू तो भी यहा ऐसा कोई सकेत नही कि मनोरोगविज्ञान मे दमन अनिवार्य रूप से शामिल होता है। समस्या का सार यह है कि कथागत व्यक्ति को ईश्वर ने समझाया है, उससे अपनी बात कही है तथा उसका स्पर्श किया है। और तदनुसार अचेतन को चेतन बनाने का कोई इरादा या आवश्यकता नही रह जाती। प्रश्न तो यह है कि ईश्वर तथा चेतना ने हमे क्यो बहिष्कृत किया है और हम इस सम्बन्ध मे क्या कर सकते हैं ?

मगर यह कहना इसके बराबर नही है कि जो व्यक्ति इस समय कष्ट-ग्रस्त है उसने पहले कभी चेतना का दमन नही किया "ईश्वर का तिरस्कार नही किया।" दुष्ट लोगो को प्राय "कठोर दिल", द्वेपपूर्ण तथा असवेदनशील बताया जाता है। और जब तक सुरक्षा के उपाय काम करते रहते है कोई कष्ट प्रकट नही होता। बल्कि "रोग", यदि इस शब्द का प्रयोग यहा केवल सामाजिक तथा नैतिक अर्थ मे करें, केवल गुप्त होता है, और जब अन्त करण अन्त मे विद्रोह करने लगता है और फट पडता है, जब बाइबल के शब्दो मे ईश्वर का धैर्य समाप्त हो चुका होता है, तब तक व्यक्ति सकट के साथ सघर्ष करने की अवस्था मे पहुच चुका होता है, और तब यह हो सकता है कि वह उससे पवित्र, परिवर्तित, तथा शुद्ध होकर निकले (अध्याय 9 भी देखो)।

---

4 सकेत स्टेकल की टिप्पणी, "विश्लेषण के अपने तीस वर्ष के अनुभव के बाद मैं अब अचेतन (जिस अर्थ में फ्रायड इसे लेता है) के अतिरजित महत्त्व में विश्वास नहीं रखता (1938, पृ० xx)।

है कि अब मेरे साथ कठोरता हो रही है। पुराने मा-बाप की तरह अन्त करण, इस प्रकार, व्यक्ति से उसकी स्वतन्त्रता छीन लेता है और वह उसे तभी वापिस करता है जब वह यह सिद्ध करता है कि उस पर विश्वास किया जा सकता है। इस प्रकार चिकित्सा का उद्देश्य "अचेतन को चेतन बनाना नही है"। जिस मत का यहा सकेत किया है यदि वह सच है तो कष्ट की जड ही यह है कि अचेतन (अब जिसे चेतन समझा गया है) बहुत व्यक्त रूप लिए रहा है—और लक्ष्य उसे शान्त करना, वापिस मोडना अथवा आराम देना है, और ऐसा होना तभी समझा जा सकता है जब अहम् अथवा व्यक्तित्व का स्वतन्त्र भाग पुन प्रतिष्ठित हो।

धर्म, अपने सजीव तथा महत्वपूर्ण रूप मे, सदा "खोई हुई आत्माओ" को बचाने अर्थात् उत्तरदायित्वमय जीवन, चरित्र तथा दूसरो के प्रति चिन्ता तथा करुणा के मार्ग की ओर फिर से प्रवृत्त करके लोगो को उनकी शान्ति तथा स्वतन्त्रता की भावना पुन प्राप्त करने मे सहायता देना अपना उद्देश्य मानता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह बहुत ही गम्भीर प्रकार की "चिकित्सा" है, और शायद यह हमारा बडा दुर्भाग्य है कि बहुत कम विश्वास के साथ आज-कल इस विचार को स्वीकार किया जाता है और व्यवहार मे लाया जाता है।

मनोरोग-चिकित्सा, परामर्श तथा "अहम् मनोविज्ञान" के लिए निहितार्थ

यदि स्थान मिलने पर कुछ अव्यवस्थित तथा वेग के साथ बढते हुए उस विचार-तन्त्र के साथ, जिसे सीखने का वर्तमानकालीन सिद्धान्त कहते हैं, पूर्व-वर्णित विषय का सम्बन्ध जोडा जाए तो लाभप्रद होगा। सीखने के सिद्धान्त का प्रारम्भ उत्तेजक और प्रतिक्रिया के निरीक्षण योग्य प्रत्ययो से हुआ था लेकिन धीरे-धीरे इसमे मानसिक अथवा, "मध्यवर्त्ती" चल, विशेष रूप से, भय, राहत आशा तथा निराशा के प्रत्यय भी शामिल हो गए। कोलोरेडो विश्वविद्यालय के कार्ल मूएनजिगर ने हाल ही मे इस प्रकार सुझाव दिया है जिससे "साहस" की क्रियात्मक परिभाषा हो सकती है और चूहो तथा प्रयोगशाला के अन्य जन्तुओ मे अनुभव के आधार पर अध्ययन हो सकता है। और मैं तो ऐसा सोचता हू कि सीखने के सिद्धान्त का विकास इस सीमा तक होगा कि अपराध के भाव के सम्बन्ध मे भी यह उतनी ही परिशुद्धि तथा स्पष्टता के साथ लागू होगा। इस सम्बन्ध मे कुछ उन्नति पहले ही हो चुकी है, लेकिन इस विषय की यहा और अधिक चर्चा करने से विषयान्तर हो जाएगा। (मौरर 1960b, 1961)

वर्तमान मे मेरी इस बात मे बहुत रुचि रही है, और मैं यह मानता हू कि यह सुनकर मुझे बिल्कुल ही आश्चर्य नही हुआ है कि एक शारीरिक

जो कुछ कहा था उसकी वर्तमान विचार-विमर्श से सगति है। "इस बात से व्यवहार मे वडा अन्तर आता है कि हम, चिकित्सक के नाते रोगियो मे (अथवा अपने मे) चिन्ता देखकर (उसे असाध्य तथा विनाशकारी समझकर) भयभीत होते हैं अथवा हम उसे रोगी मे वर्तमान सभी शुभ तत्वो का तथा अपने चिकित्सा प्रयत्नो का पोषक समझते हैं (पृ० 26)।"

लेकिन मैंने यह भी स्वीकार किया था कि हमे दो प्रकार की सहायताप्रद क्रियाओ मे—चाहे उन्हे किसी भी नाम से पुकारें—अन्तर करना चाहिए इनमे से एक का सम्बन्ध मूलत सामान्य व्यक्तियो अर्थात् ऐसे व्यक्तियो से है जिनके मानसिक द्वन्द्व तथा कष्ट उनकी चेतना मे हैं और अन्य का सम्बन्ध उन व्यक्तियो से है जिनमे मनोविच्छेद तथा दमन हो चुका है और इसलिए जहा अचेतन तत्व के साथ भी सम्बन्ध रखना होता है। यद्यपि इस प्रकार के भेद सीमित रूप मे ही न्यायपूर्ण है, तथापि यह प्रतीत होता है कि मनोवैज्ञानिक परामर्शदाता, कम से कम सिद्धान्त मे, उसी अवस्था मे होता है जिसमे कि एक धार्मिक परामर्शदाता होता है। यदि हमारा चिन्तन ठीक है, तो सामान्य व्यक्ति मे क्षोभित व्यक्ति की अपेक्षा अचेतन भाग अधिक होना चाहिए, और पश्चादुक्त विषय के बारे मे जो सहायता, साक्षात् उपदेश तथा परामर्श दिया जाए वह उच्चकोटि के साधनो द्वारा होना चाहिए जिससे व्यक्ति के अन्त करण को आराम मिल सके और वह फिर "अचेतन" हो जाए। अपने मा-बाप को 'सिर पर से हटाने' का सबसे अच्छा उपाय, जैसाकि पहले इगित किया जा चुका है, यह है कि बच्चा अपने पिछले दुष्कर्मों मे सुधार करे और भविष्यत् के लिए माँ-बाप का विश्वास फिर से प्राप्त करे। निश्चित रूप से इसी प्रकार अन्त करण की चोट खाने वाले युवक के लिए सर्वोत्तम आशाप्रद यही है कि वह ऐसे अन्य व्यक्तियो अथवा विचारो के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करे जो उसे ऐसे कार्यों मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा तथा सहायता दे जिन्हे अन्त करण से निन्दा मिलने की अपेक्षा सुसम्मति मिले।

मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे क्या हो रहा है, इसे स्पष्ट रूप से समझना आज कठिन है। इसकी सामान्य स्थिति सकट तथा अनिश्चितता की ही है (देखो अध्याय 13) लेकिन एक तथ्य अर्थात् "अहम् मनोविज्ञान" पर उत्तरोत्तर अधिक वल दिया जाना, तो त्रुटिरहित है। मैंने इस विचारधारा का निकटता से अध्ययन नही किया, लेकिन दूर से भी इसमे विकसित हुए विचार दिखाई दे सकते हैं, जो उस चिन्तन के पूरक है जिसका यहाँ अन्वेषण किया जा रहा है। यहा पर पराहम् की कठोरता पर वल देने की अपेक्षा, अहम् के महत्व की ओर ही अधिक सकेत मिलते है। यहा यह प्रश्न नही है, जैसाकि पहले था, कि अन्त करण मे काट-छाट अथवा सुधार कैसे किया जाय, बल्कि प्रश्न यह है कि व्यक्ति के चेतन आत्म-सम्मान अथवा अहम् को किस प्रकार वढने तथा परिपक्व होने दिया जाए

ताकि इससे की जाने वाली अनेक मागो के प्रति यह और अधिक उत्तरदायित्व-पूर्ण बने तथा उनकी पूर्ति करने मे अधिक समर्थ हो। इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से ही धर्माचार्य, परामर्शदाता, अध्यापक तथा मा-बाप सभी का काम महत्व-पूर्ण है। और जहा गहन विशिष्ट मनोरोग-चिकित्सा आवश्यक हो वहा दूसरो के किए हुए कार्यो को पलटने या उन्हे मिटाने का प्रश्न नही है अपितु जहा उन्होने प्रारम्भ किए हुए कार्य को छोड दिया है अथवा जहा वे असफल हो गए है, वहा से उसे आगे ले जाने की समस्या है।

मगर सामान्य रूप से यह धारणा है कि अहम्-मनोविज्ञान का मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे अधिक गहराई तक प्रवेश नही हुआ है। यह तो निश्चित है कि फैडरन के 1952 मे मरणान्तर प्रकाशित ग्रन्थ, "Ego Psychology and the Psychoses" से इन विषयो पर कोई प्रकाश नही पडता। यह पुस्तक दुर्बोध है तथा गौरवान्वित मनोविश्लेषणवाद के शब्दजाल से लदी हुई है, जिससे इसमे जो भी कुछ नवीनता है उसे खोजना कठिन हो गया है। इससे कही अधिक प्रकाश डालने-वाला तो वह उपागम है जो शोबेन ने अपने पत्र "सामान्य व्यक्तित्व के प्रत्यय की ओर" (1957) मे निर्देशित किया है। शोबन का इसमे अहम्-मनो-विज्ञान से ही अधिकाश मे सम्बन्ध है, यद्यपि उन्होने इस शब्द का प्रयोग नही किया। वे सदेहरहित शब्दो मे कहते है कि सामान्य, सघटित परिपक्व व्यक्ति अवश्य ही आत्म-सम्मान, ईमानदारी, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और दूसरो के प्रति करुणा तथा प्रेम की चिन्ता करता है और सार की बात तो यह है कि कोई जीवन तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो पर किस दृष्टि से विचार करता है। वह निस्सकोच भाव से कहता है कि "यहा विचारधाराओ का प्रश्न है" और आगे मूल्यो और मूल्यतन्त्रो के महत्व के पक्ष मे प्रवर्तक तर्क देता है। निश्चित ही, यहा पर यह एक अहम्-मनोविज्ञान है—और यह ऐसा अहम्-मनोविज्ञान है जिसके विषय मे समाज-वैज्ञानिक तथा धर्म-शास्त्री एकमत हो सकते है (और देखो वैल्डर—Waelder—1960)।

1950 मे आक्सफोर्ड वर्ग के आन्दोलन पर लिखते हुए वाल्टर एच० क्लार्क ने मनोविश्लेषण और धर्म के उद्देश्यो का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया था "मनोविश्लेपक तथा धार्मिक-वर्ग दोनो ही अपराध-भावना को कम करना चाहते है—पहला दुःख को कम करके और दूसरा कृतार्थता मे वृद्धि करके (पृ० 238)।" इससे इन्कार नही किया जा सकता कि कभी-कभी हम अपने लिए तथा दूसरो के लिए अवास्तविक उद्देश्य निर्धारित कर लेते हैं, लेकिन फिर भी यह प्रतीत होता है कि इससे प्राय उतनी क्षति नही होती जितनी तब होनी है जबकि जान-बूझकर नैतिकता की अपनी प्राकृतिक क्षमता मे भी नीचे ही रहने का प्रयत्न किया जाता है। एक विद्वान् मित्र ने मुझे बताया कि हमारा शब्द एन्योपीइड

(anthopoid) एक यूनानी शब्द से बना है जिसका अर्थ है, "ऊचे सिर के साथ"। और हम स्पष्ट ही अब इस बात को खोजने की प्रक्रिया मे है कि हम शायद अपने स्पष्टतम मानवीय पहलू को खोए बिना "नीचे" देखकर अपनी समस्याओ को हल नही कर सकते।

कुछ और उपपत्तिया तथा निष्कर्ष सम्बन्धी विचार

उपर्युक्त विचारविमर्श से यह प्रतीत होगा कि मनोविज्ञान तथा सम्बन्धित अनुशासन एक दु खद पुनर्मूल्याकन की अवस्था से गुजर रहे हैं, और इस गति तथा परिवर्तन के अन्तिम बिन्दुओ के बारे मे हमारी दृष्टि तथा ज्ञान पूर्णता से बहुत दूर है। लेकिन शायद अब हमारे लिए रास्ता तो अच्छी तरह उद्भासित हो गया है जिससे हम आगे के कुछ कदम देख सकते है।

जोरार्ड (Jourard) का कहना है कि इस बात को मानने से कि दमन की क्रिया इद (Id) अथवा पराहम् की ओर प्रवृत्ति हो सकती है, हम दुर्लंघ्य अवस्था मे पहुच गए हैं। और हमने इस दुर्लंघ्य अवस्था को लाघने का प्रयत्न इस पक्ष की खोज करके किया है कि मनोविज्ञान मे कष्ट इस बात से पैदा नही होता कि किस बात का दमन हुआ है बल्कि इस बात से होता है कि आवेशपूर्ण अन्त करण के रूप मे प्रकाशन किस बात का होता है। अन्त करण का भूतकाल मे किया गया तिरस्कार, निषेध अथवा दमन, वर्तमान विस्फोट या "आक्रमण" की व्याख्या कर सकता है, लेकिन व्याकुलता की उपस्थिति का ही यह अर्थ है कि दमन हट गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि मनोरोगचिकित्सा का कार्य दमित तत्व को उभारना न होकर इस बात को समझने मे व्यक्ति की सहायता करना हो जाता है कि उसे क्या हो रहा है और वह किस प्रकार अन्तिम परिणाम को ध्वसात्मक की जगह रचनात्मक बनाने मे सहायता कर सकता है।

मगर 'हमारी परिकल्पना' कम से कम सीमित अर्थ मे प्रवृत्ति के दमन की सम्भावना को बहिष्कृत नही करती। यथार्थ प्रवृत्ति-दमन के स्पष्ट उदाहरणो को इकट्ठा करने मे कुछ दिनो से मेरी रुचि रही है लेकिन उन्हे समझने के लिए जिस सिद्धान्त की आवश्यकता है वह फ्रायड द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त से भिन्न है। उन बहुत से उदाहरणो मे से आगे उद्धृत उदाहरण को सुविधा तथा लाघव के अनुसार चुनने तथा प्रस्तुत करने की मुझे अनुमति दें। यह मुझे एक सहयोगी कार्यकर्त्ता ने बताई थी। उसने (जैसा कि मैंने उस अनौपचारिक बातचीत को बाद मे पुनर्गठित किया) कहा था

"लगभग एक सप्ताह हुआ मुझे एक अनुभव हुआ जो मनोवैज्ञानिक के नाते आपको भी रुचिकर लगेगा। दो महीने पहले की बात है कि एक

सस्था की, जिसका मैं सदस्य था, कार्यक्रम समिति के अध्यक्ष ने मुझे बुलाया और सस्था की वार्षिक बैठक के लिए एक वक्ता का सुझाव मागा। मैंने सुझाव दे दिया और मुझे प्रसन्नता थी कि अवसर आने पर उस व्यक्ति ने, जिसका मैंने सुझाव दिया था, बहुत सुन्दर तथा सुग्रहीत वार्ता दी। मगर बाद मे जब मेरी पत्नी और मैं घर पहुँचे तो मुझे लगा कि मैं कुछ-कुछ हतोत्साहित हुआ हूँ, और मनन के समय, जोकि मैं सोने से पहले हर रात्रि को करता हूँ, मुझे एक अजीब अनुभव हुआ। यह बिल्कुल इस प्रकार था मानो मेरे मन मे कोई 'जलता अगारा' हो, मेरे विचार मे इसे आप एक प्रकार की देशीकृत 'चिन्ता' कहेगे। तब, अचानक ही मुझे यह समझ मे आया कि मैं वक्ता के प्रति ईर्ष्यालु था, और तुरन्त ही मेरे मन की 'जलन' की सवेदना शान्त हो गई। मेरा यह अनुमान है कि मुझे यह मालूम था कि ऐसी स्थिति मे मैं ईर्ष्या पर न तो अमल कर सकता था और न अमल करना चाहता ही था, इसलिए ऐसा भाव अपनाना मेरे लिए भयरहित था। कहने की आवश्यकता नही है कि इस प्रकार का भाव अनुभव करने के कारण मैं अपने आप पर लज्जित था।"

यहाँ स्पष्ट ही एक ऐसी स्थिति है जिसमे अन्त करण स्वय निग्रहीत न होकर निग्रह-कर्ता होता है। एक सकट-कालीन सामाजिक अवस्था में अपने छोटे बच्चे के बारे मे विश्वस्त न रहने वाले मा-बाप की तरह अन्त करण ने मेरे मित्र की मानो 'लगाम' खीच ली और तभी ढीला किया जब दुराचरण का समय गुजर गया। ऊपर वर्णित स्थिति के समान अन्य स्थितियो मे अशोभनीयता तथा ईर्ष्या का कुछ पिछला इतिहास होता है। और कथागत व्यक्ति का अन्त करण उसके अशोधित आत्म-सयम तथा सच्चे हृदय-परिवर्तन के आधार पर ही ऐसी परिस्थिति मे उसके ठीक तथा उत्तरदायित्वपूर्ण आचरण का विश्वास कर सका। यहा "चिकित्सा" का उद्देश्य निग्रहीत प्रवृत्तियो को मुक्त करना न होकर उत्तरदायित्व के गुण मे वृद्धि करना तथा, "अहम्-बल" विकसित करने मे सहायता देना है।

मगर "अहम्-बल" शब्द का गलत अर्थ लगाया जा सकता है। इसके अर्थ मे स्वतन्त्रता, आत्म-पूर्णता, और स्वार्थपरता तथा अवज्ञा भी समझे जा सकते हैं। लेकिन जिस ढग से हम विचार कर रहे है उसके अनुसार इस शब्द का अर्थ आज्ञापालन तथा व्यापक सामाजिक उद्देश्यो तथा मूल्यो के प्रति समर्पण है। यहा पर "बलवान्" व्यक्ति वह नही है जो स्वार्थवश माग करता अथवा इन्कार करता है बल्कि वह व्यक्ति है जो उल्टा सेवा करता तथा जो उच्च सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यो के प्रति निष्ठावान् है।

वास्तव मे जो दृष्टिकोण यहा व्यक्त किया है वह स्पष्टत धर्म के समान है। हमारी पीढी वह है जिसके बारे मे यह कहा जाता है कि इसने ईश्वर मे अपनी "श्रद्धा" खो दी है। शायद श्रद्धा की समाप्ति का सम्बन्ध ईश्वर के प्रति गलत धारणा से है, जिसका प्रचार, आधुनिक शताब्दियो मे, धर्म-सभा ने प्रमाद के कारण किया है। हमे यह बताया गया है कि ईश्वर कहीं बाहर है : वह हमारे भीतर की आत्माओ तथा अनुभवो का एक अश है इस अत्युत्तम परम्परा को हम पूर्णत भूल चुके है। उदाहरण रूप मे प्रथम किंग्स से लिए इस उद्धरण पर विचार करें

> "और भगवान् के पास से गुजरते हुए देखो, एक व्यापक तथा प्रबल तूफान ने पर्वतो को चीर दिया और चट्टानें भगवान् के सामने ही चूर-चूर हो गईं, लेकिन भगवान् तूफान मे दिखाई नही दिया, और तूफान के बाद एक भूचाल आया, लेकिन भगवान् भूचाल मे नही था, और भूचाल के बाद आग, लेकिन भगवान् आग मे भी नही था, और आग के बाद— एक शान्त हल्की सी आवाज (18 • 11-12)।"

क्या यह बात हो सकती है कि हमने ईश्वर मे श्रद्धा इसलिए खो दी है कि हमने अन्त करण मे ही श्रद्धा खो दी है ? हमारा शराब का और तथाकथित अन्य "शमनकारको" का व्यापक प्रयोग निश्चित ही, एक दृष्टि से, अन्त करण के अविश्वास की अभिव्यक्ति है, और पराहम् के अति-कठोर होने के अपने पक्ष के साथ प्रतिष्ठित मनोविश्लेषणवाद मे यह अविश्वास और भी अधिक व्यक्त है। जैसा कि बौइसन का कहना है, चिकित्सा का उद्देश्य शल्यक्रिया के उद्देश्य के समान है, जिसमे रुचि का विषय पराहम् होता है। हम अब यह शका करने लगे हैं कि जहाँ मनोविश्लेषणवाद अपने स्वीकृत उद्देश्य मे सफल रहा है, वहाँ परिणाम सामान्य मानव नही होता बल्कि ऐसा व्यक्ति होता है जिसमे मनोरोग की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। तथापि, आमतौर पर मनोविश्लेषण इतना प्रभावोत्पादक नही होता (देखो अध्याय १३)। अन्त करण के रोगो के अपने अध्याय मे स्टेकल ने जिन "रोगियो" का उद्धरण दिया है उनमे एक रोगी भारत से आया डाक्टर था जो इलाज के लिए विआना आया था, और यह भी प्रतीत होता है कि काम-प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे छूट की विआना की प्रसिद्धि के कारण यह हुआ था।

> "रोगी एक पवित्र परिवार से था (और) मैंने उसे बताया कि उसके कष्ट अन्त करण-रोग के कारण थे और उसे समझाया कि यदि

> वह अपने सस्कारो के विरुद्ध पडने वाली व्यभिचारवृत्ति का त्याग कर दे, तो उसकी अनिद्रा तथा विपयासक्ति समाप्त हो जाएगी। यह समझकर कि शायद मेरी बात ठीक हो, उसने अपने सभी प्रेम-सम्बन्ध तोड दिए और निरामिप खुराक पर वापिस आ गया। इसके बाद विपयासक्ति समाप्त हो गई और वह बहुत अच्छी तरह सोने लगा ।"
>
> "मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रोचक तथ्य यह है कि वह डाक्टर अपनी चिकित्सा के परिणाम से नितान्त असतुष्ट था। उसने इसे असभव ही मान लिया था। मुझे उसे उसके आन्तरिक दबावो से मुक्त कर देना चाहिए था, वह जितनी स्त्रियो के साथ चाहे आनन्द ले सके (1938, पृ० 322-323)।"

अन्त करण इस प्रकार इतनी सरलता से नही बदलेगा, और हमे सोचना पडेगा तथा अपने भावी चिकित्सा उपायो को नई दिशा मे मोडना होगा। निस्सदेह यह आसान नही है कि एक व्यक्ति पशु भी रहे और मानव भी, और उसमे जैविक तथा सामाजिक प्रवृत्तियो का समान प्रभाव बना रहे। लेकिन कम मे कम उत्कृष्ट प्रयत्न की ओर झुकने का विशेपाधिकार स्पष्ट ही अब हमारा नही है। मानव वह अद्भुत तथा विरोधाभासपूर्ण जीव है जिसने, जैसाकि हम कह सकते है, ऐतिहासिक दृष्टि से अपने आपको घरेलू, सामाजिक तथा सभ्य बनाया है, और यह सघर्प तथा उच्च व्यवसाय का नाटक ऐसा है जो लघुरूप मे हममे से प्रत्येक व्यक्ति मे दोहराया जाता है। इसलिए वे समस्याए, जिन पर हमारी सफलता या असफलता हमारी मानवता या अमानवता, स्वस्थचित्तता अथवा उन्माद निर्भर है, इतनी व्यापक हैं जितना सम्पूर्ण मानवीय उद्यम, और मानवीय कमजोरियो की रोकथाम अथवा सुधार को मोटर मैकेनिक, कोने के औपधिविक्रेता, अथवा एक सर्जन की विशेपज्ञ सेवाओ के स्तर तक ही नही घटाया जा सकता—भले ही विशेप अवसरो पर उनकी योग्य और विशिष्ट सहायता के लिए हम उनके कृतज्ञ हो। मानसिक स्वास्थ्य के राष्ट्रीय सघ के नारे "मानसिक स्वास्थ्य प्रत्येक व्यक्ति की चिन्ता का विपय है" मे हम निस्सदेह सहमत हो सकते हैं और किसी भी व्यावसायिक अथवा विशिष्ट-रुचि वाले सम्प्रदाय का इस क्षेत्र मे सर्वशक्तिमान होने का अथवा "पूर्ण उत्तरदायित्व" का दावा करने का प्रयत्न इतना ही दम्भपूर्ण है जितना तर्क की दृष्टि से असगत है।

क्या समाज इसलिए "रुग्ण" है कि इसके कुछ नियम तथा कानून है और उनके तोडने वालो को जुर्माना, कारावास अथवा मृत्यु का भी दण्ड दिया जाता है? इस क्षेत्र मे "पूर्ण उत्तरदायित्व" का कौन दावा करेगा? समस्या पूर्ण मानव बनने के हमारे सघर्प मे न तो बडी है और न छोटी है।

और क्या एक व्यक्ति 'रुग्ण' इस लिए होता है कि उसके अपने आदर्श होते है, और उनसे भ्रष्ट होने पर वह अपने आपको दण्ड देता है जो कभी-कभी बहुत कठोर भी होता है ? कारावास वह स्थान है जहा हम उन व्यक्तियो को भेजते है जिन्हे समाज निन्दित करता है, और मानसिक अस्पताल स्व-निन्दित व्यक्तियो के रहने का स्थान है—अथवा, जैसा कि बोइसन इसे पुकारता है, यह एक प्रकार का इस दुनिया का "प्रायश्चित्त-स्थल" है, जिससे एक व्यक्ति सम्पन्न जीवन लेकर निकल सकता है अथवा जिसमे वह जीवित ही मृत्यु के नरक मे भी डूब सकता है।

लगभग एक शताब्दी पहले जब (देखिए अध्याय 3) हमने उन्मत्त व्यक्ति को पापी न मानकर रुग्ण मानने का प्रयत्न किया था तब यह समझा गया था कि हमे बहुत उपलब्धि हुई है। लेकिन अब हमे विस्मय होता है कि, उपालम्भ के रूप मे व्यक्त करे तो, क्या पाप इन दो बुराइयो मे से छोटी बुराई नही है (देखिए अध्याय 4) ? मरज़ोल्फ (Marzolf) और रीस (Riese) के पोषक विचारो को उद्धृत करते हुए, शोबन कहते हैं

> "वर्तमान मे रोगरूपको के रूप मे मनोवैज्ञानिक अवस्थाओ को समझाने के विचार के बारे मे बहुत असतोष रहा है। कुसमजित व्यवहार प्रतिरूप, आधिया और कुछ कम सीमा तक, मनोविक्षिप्ति को रोग की अपेक्षा अव्यवस्थित, प्रभावशून्य, और जीवन की रक्षात्मक शैली के रूप मे अधिक अच्छी तरह जाना जा सकता है (1957, पृ० 184)।"

प्रोटैस्टैंट सुधार का एक पहलू, जिसके कारण इसे इतनी गत्यात्मक शक्ति और व्यापक प्रभाव प्राप्त हुआ, "विश्वास करने वाले सभी का पौरोहितत्व" का सिद्धान्त और "साधारण जीवन की पवित्रता" मे विश्वास था। यह प्रतीत होता है कि वर्तमान समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए विशाल और विश्वव्यापी निमन्त्रण और चुनौती से कम और कुछ, वर्तमान मानव की डिगती हुई श्रद्धा और दूपित बुद्धि पर होने वाले पूर्ण बौद्धिक तथा सामर्थ्य मे अधिक प्रभावोत्पादक आक्रमण का प्रतिनिधित्व नही कर सकता।

शताब्दी पहले हम मनोवैज्ञानिक फ्रायड के इस सिद्धान्त का अधिकतर अनुसरण करते थे कि मनुष्यो को भावात्मक विक्षेप इसलिए नही होता कि उन्होने कोई बुरा काम किया है, बल्कि इसलिए होता है कि उनमे अन्तर्दृष्टि नहीं होती। इसलिए, भावी चिकित्सक के नाते हम दमन की शक्तियो का विरोध करने और अनुबोध के लिए कार्य करने के लिए तत्पर हुए है। और यह अनुबोध अथवा अन्तर्दृष्टि क्या है जिसे हम इतना मूल्यवान् समझते है ? वह इस बात की खोज है कि प्रभावित रोगी या मुवक्किल, असल मे बहुत अच्छा रहा है। उसमे विशेष रूप मे काम और द्वेष की प्रवृत्तिया रही है जिनका वह व्यर्थ ही दमन करता रहा है। और हम उसे समझाते है कि इन प्रवृत्तियो को पहचानने और व्यक्त करने मे ही स्वास्थ्य है।

लेकिन अब इस बात के व्यापक और, वास्तव मे, अनिष्ट चिह्न प्राप्त हैं कि इसके लिए जो तर्क और व्यावहारिक नीति अपेक्षित है वे अशुभ है। वास्तव मे, स्थिति इतनी गम्भीर है कि, हम, जैसा कि हमारे यहा उपस्थित रहने से प्रकट है, इस बात की सम्भावना पर विचार करने के लिए तैयार है कि दुराचरण का, आखिरकार, इस विषय से कुछ सम्बन्ध है और दमन और अन्तर्दृष्टि का सिद्धान्त सहायक होने की अपेक्षा भ्रामक अधिक है।

किन्तु जैसे ही हम मनोवैज्ञानिक इस समस्या पर विवाद प्रारम्भ करते है वैसे ही हमे यह प्रतीत होने लगता है कि हमारी सभ्रान्ति जैसी प्रतीत होती है वास्तव मे उससे अधिक मूलभूत है। हम यह देखते हैं कि हमने प्रकट दुराचरण और मनोरोग-चिकित्सा का सम्बन्ध ही अस्वीकार नही किया, हमने सामान्य रूप से सत्-असत्, पुण्य और पाप मे विश्वास भी त्याग दिया है।

अन्य अवसरो पर इस विषय पर वाद-विवाद के मध्य जब मैंने किसी को यह सुझाव देते हुए देखा है कि सामाजिक व्यभिचार मनोरोग का कारण है, तो हमेशा ऐसी सामूहिक आवाजें सुनाई दी हैं जो यह शोर मचाती है कि पाप की कोई परिभाषा नही हो सकती, यह सस्कृति सापेक्ष है, यह अवैज्ञानिक प्रत्यय है, यह एक अन्ध-विश्वास है—और इसीलिए इसे मनोरोग-विज्ञान मे अथवा आम अनुभव मे गम्भीरता के साथ विचारा नही जाना चाहिए। और जब इन आपत्तियो का उत्तर देने का प्रयत्न किया जाता है तो और अधिक आपत्तिया उठाई जाती हैं जो नितान्त बेतुकी होती हैं और जिनमे उनकी अज्ञता और ऐसे कुतर्क, जो स्कूल के बच्चे को भी खटकेंगे, झलकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से शिक्षित और अशिक्षित दोनो प्रकार के समाजो मे यह माना जाता है कि व्यक्ति किशोरावस्था के प्रारम्भ मे विवेक की अवस्था मे आ जाता है, लेकिन यहा हमे ऐसे प्रौढ स्त्री-पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं जो गम्भीरतापूर्वक यह आग्रह करते हैं कि वे वास्तव मे ही सत् और असत् मे भेद नही कर सकते—और कोई भी यह

भेद नही कर सकता ।

अब मैं अनुभव करता हू कि अभिवृत्ति के साथ इस प्रकार बौद्धिक या तार्किक ढग से जूझना कितना निरर्थक है । हम व्यवस्थित सामाजिक जीवन का लाभ, दबाव तथा त्याग के रूप मे बिना कीमत चुकाए, उठा सकते है,'यह विध्वसक' सिद्धान्त इतना आकर्षक है कि इसका प्रतिवाद प्रबुद्ध तर्क के आधार पर नही हो सकता । मेरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उत्तर अन्य रीतियो से दिया जा सकता है । एक दुर्दम्य स्पष्ट तथ्य यह है कि व्यक्तित्व के विकास की समस्या हमारे समय की सब से अधिक व्यापक और पराजित करने वाली समस्या है । और कही ऐसा हो जाए कि कष्टग्रस्त व्यक्ति आवश्यकता से अधिक की अपेक्षा सदैव आवश्यकता से कम नैतिक सयम और आत्म-अनुशासन पूर्ण जीवन प्रकट करें, (या छिपावें) तो समस्या इतना व्यावहारिक महत्व ले लेगी कि उसके लिए किसी सुमण्डित तर्क की आवश्यकता नही होगी ।

पाप की जो परिभाषा दी जाती रही है--और जो कुछ क्षेत्रो मे अब भी दी जाती है—वह यह है कि जिस कर्म के करने से व्यक्ति को नरक मे जाने का खतरा पैदा हो, वह पाप है । यहा पर यह एक ऐसा कार्य-कारण सम्बन्ध है जो पूर्णत तात्विक है और जिसकी अनुभवाश्रित परीक्षा नही हो सकती, और यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि जैसे-जैसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विधि को धीरे-धीरे स्वीकृति और प्रकट बल प्राप्त हुआ, वैसे ही यह अप्रतिष्ठा के गर्त मे गिर गया । लेकिन एक समूर्त्त तथा वर्तमान मे उपस्थित नरक इस पृथ्वी पर भी है, जिसको अच्छी प्रकार समझने मे विज्ञान ने अभी तक हमारी सहायता नही की, और इसलिए, मैं आपका ध्यान इस उपेक्षित लेकिन वास्तविक सम्भावना की ओर आकर्षित करता हू कि वह नरक यही है —आधि और मनोविक्षिप्ति का नरक—जहा हमे पाप और प्रायश्चित-रहित अपराध ले जाते हैं और यही नरक हमे पाप और अपराध की परिभाषा करने को सबसे अधिक वास्तविक और आधारभूत लक्षणो मे से एक, अथवा शायद सबसे अधिक वास्तविक और आधारभूत, लक्षण प्रस्तुत करता है। यदि अनुभव के आधार पर इससे यह सत्य सिद्ध हो जाता है कि आचरण के कुछ रूप स्वाभाविक ढग से मनुष्यो को भावात्मक अस्थिरता की ओर ले जाते हैं तो इस प्रकार के आचरण को विध्वसक, स्वघातक, गर्ह्य और पाप नाम देने के लिए अधिक अच्छा और ठोस आधार कौन-सा चाहिए ?[1]

---

1 निस्सन्देह ही ऊपर के तर्क में चक्रकता का अश है । यदि यह स्वीकार किया जाता है कि मानसिक रोग अस्वीकृत तथा अशोधित पाप, या वास्तविक अपराध से पैदा होते हैं तो पाप की यह परिभाषा करने से कि यह ऐसा काम है जिससे मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, कोई ज्ञानवृद्धि नहीं होती । वास्तव में, एक अर्थ में इस प्रकार की परिभाषा

यदि व्यक्तित्व के विकास के बारे मे फ्रायड का सिद्धान्त ठीक है तो लोग यह आशा करेंगे कि रुग्णतन्त्रिक और विक्षिप्तमन वाले व्यक्ति अनुकरणीय जीवन, अथवा महात्मोचित जीवन बिताते है—इस ससार के लिए वे आवश्यकता से अधिक अच्छे होते है। मगर तथ्य यह है कि ऐसे व्यक्ति प्रतिरूपात्मक ढग से ऐसा जीवन प्रदर्शित करते है जो अत्यन्त अव्यवस्थित और बेईमान होता है। वास्तव मे यह बात स्वाभाविक है (देखो अध्याय 8 और 3) कि फ्रायड के पूर्णत विपरीत सिद्धान्त के अकस्मात् सर्वाधिक विश्वसनीय बन जाने की बात सोचकर कोई भी आश्चर्य-चकित हुए बिना नही रह सकता। फ्रायड ने अभिलाषा की निन्दा की और सत् को ऊँचा उठाया। जिसे वह सत् समझता था वह सभी की अभिलाषावृत्ति का सबसे बडा भाग सिद्ध हो सकेगा।

या, यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब हम पाप और मानसिक कष्ट का पारस्परिक सम्बन्ध जोडते है, तो देखते हैं कि वे सभी व्यक्ति जो पाप करते है, आधि या मनोविक्षप्तिग्रस्त नही होते। ऐसा क्यो है ? इस सम्बन्ध मे किस के द्वारा किए अध्ययन के परिणाम उद्धृत किए जा सकते है, उदाहरण के तौर पर, जो यह प्रकट करते हैं कि बहुत से ऐसे व्यक्ति जिनका इतिहास काम-सबधी वामता का होता है, बाद मे बिल्कुल सामान्य पाए जाते है। दूसरे शब्दो मे, तर्क यह है कि क्योकि पाप और स्थायी कष्ट हमेशा साथ-साथ नही होते इसलिए शायद इनमे बिल्कुल सम्बन्ध नही है। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही है। खेद है कि कुछ व्यक्तियो मे चरित्र अथवा अन्त करण ही नही होता जो उनके पाप से चिन्तित हो। निस्सन्देह ये ससार के 'साइकोपैथ' होते है। अथवा, एक व्यक्ति पाप करते पकडा गया हो और उसके लिए दण्डित हुआ हो। अथवा, इसका इतना भार उसके अन्त करण पर पडा हो कि उसने इसे स्वीकार किया हो और उसका उचित प्रायश्चित्त किया हो। अथवा, यह भी सम्भव है कि पाप को पहचाने अथवा स्वीकार किए बिना ही सेवा तथा शुभकर्मों मे जुट गया हो जिससे उसे शान्ति मिली हो और उसका उद्धार हो गया हो। दूसरे शब्दो मे, कोई भी व्यक्ति यह मानने को तैयार नही है कि पाप मात्र से ही व्यक्ति आधि अथवा मनोविक्षिप्ति के रूप मे कष्ट मे फस जाता है। धारणा तो यह है कि पाप का यह परिणाम वही होता है जहा इसे महसूस तो किया जाता है लेकिन इसे अपनाया और सुधारा नही जाता।

और कभी-कभी यह भी स्वीकार किया जाता है कि जो व्यक्ति आखिरकार मनोरोग चिकित्सको के ध्यान मे आते है वे निस्सदेह आचरण के बडे दोषो

चरित्र ही नहीं है अपितु भ्रामक भी है (देखो अध्याय 830) वास्तव में पाप या अपराध को पहचानने के लिए एक स्वतन्त्र गणना की आवश्यकता है—अध्याय 10-11 एच मौरर, 1961।

के अपराधी होते है, लेकिन यह माना जाता है कि बीमारी पहले होती है और दुराचरण, उसका प्रकाशन अथवा लक्षण होता है। यदि यह सत्य है तो हम इनके बीच कहा रेखा खीचेंगे ? क्या नैतिक उत्तरदायित्व और सामाजिक निमित्तता कुछ भी नही है ? क्या वह हर नीच और बुरी बात जो आप और मै करते है पाप न होकर बीमारी का प्रकाशन है ? कौन गम्भीरतापूर्वक यह मानेगा कि जो समाज इस प्रकार के शिथिल विचार को निर्विरोधरूप से स्वीकार करता है वह अधिक दिनो तक बना रह सकता है ?

मगर अन्तिम विश्लेषण के रूप मे यह मत व्यक्त किया जाता है कि सभी मनोरोग, कम से कम गम्भीर अवस्था वाले—शारीरिक रचना अथवा चयापचय की क्रिया पर आधारित होते है। मै मानता हू कि इस सम्भावना के प्रति व्यक्ति को उदार मनस्क ही नही होना, बल्कि कुछ-कुछ आशावान् भी होना चाहिए। क्योकि, यह कितनी अद्भुत बात होगी यदि ससार का सभी पागलपन, मूढता और नीचता, जीव-रसायन के द्वारा समाप्त हो जाए। लेकिन वर्षो से हमने एक के बाद एक इस प्रकार के उपागम को उत्तरोत्तर प्राधान्यता मे आते देखा है और मानसिक रोगो की समस्या के बारे मे जो चिरप्रतीक्षित क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत हुए वे भी त्रैलोक्यचिन्तामणि न बन सके और हमने जिनकी कल्पना की थी वह भी धीरे-धीरे धूमिल हो गए। इस विषय के बारे मे कुछ तो यह शका करते है कि जीव-रसायन की परिकल्पना को जीवित रखने की पोषक बात यह नही है कि उसे अनुभवाश्रित आधार प्राप्त है, बल्कि यह तथ्य है कि इससे कम से कम यह पक्ष सबल बनता है कि मनोरोग का सम्पूर्ण क्षेत्र निश्चय ही एक मात्र औपचापेक्षी क्षेत्र है। और आधि तथा मनोविक्षिप्ति के नैतिक विकार सिद्ध होने पर जो उत्तरदायित्व पादरियो पर आता उसका सीधा अथवा अप्रत्यक्ष सामना करने से भी वे मुक्त हो जाते है।

व्यक्तित्व के कष्टो का वह प्रयत्य जो नैतिक और आन्तर्वैयक्तिक बातो को उनकी हेतुकता का महत्व देता है, उसे इस प्रकार कई तरफ से प्रबल प्रतिरोधो का सामना करना पड रहा है। लेकिन चिकित्सा और बचाव के जो कार्यक्रम उन अन्य मतो पर अवलम्बित है वे हमे कुछ भी प्रदान नही कर सके, और आगे भी उनमे हमे कुछ मिलेगा, इसका भी कोई स्पष्ट प्रमाण नही है। इसलिए, सम्पूर्ण स्थिति के प्रकाश मे मुझे इसके सिवाय और कोई विकल्प नही दिखाई देता कि हम प्राचीन, दुखद, लेकिन साथ साथ इस आशाप्रद सम्भावना की ओर मुडें कि मानव प्रधान रूप से सामाजिक प्राणी है और मनोवैज्ञानिक तथा वैयक्तिक दृष्टि से उसका जीवन और मरण व्यापकता, जातीयता, सम्बन्ध-भाव, तथा चरित्र का व्यापार है और वह इन्हे अपने अच्छे कार्यो मे प्राप्त करता है और बुरे कर्मो से नष्ट करता है।

जब तक हमारा यह विश्वास रहता है कि रुग्णतन्त्रिका की आधारभूत समस्या पाप नही है बल्कि एक प्रकार का अज्ञान है तब तक उसे आवश्यक ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि देना कोई बहुत कठिन कार्य प्रतीत नही होता। लेकिन आज-कल मानसिक अस्पताल ऐसे लोगो से भरे पडे हैं जिन्हे किसी न किसी रूप मे इस प्रकार की चिकित्सा प्राप्त हो चुकी है और जिन्हे वह अपर्याप्त सिद्ध हुई है, और यदि अब हम अन्य विकल्पो पर विचार करने के लिए इस प्रकार बाध्य हो जाए (तो हमे यह मानना पडेगा) तो चिकित्सा अथवा उद्धार का उद्यम, सिद्धान्त मे भले ही कितना स्पष्ट हो, व्यवहार मे किसी भी प्रकार से सरल नही होगा। यदि समस्या मिथ्या नैतिकता की न होकर सच्ची नैतिकता की है तो धर्मनिरपेक्ष चिकित्सा के व्यवसायो—मनोविज्ञान, मनोविकार—विज्ञान अथवा सामाजिक कार्य—के लोगो मे से बहुत से अपने आपको साधारण व्यक्ति से भिन्न नही पाएगे, उनमे समस्या के साथ इस ढग से व्यवहार करने अथवा उसे समझने का विशेप प्रशिक्षण और योग्यता नही होगी। कष्टग्रस्त व्यक्तियो द्वारा निर्बाध रूप से अपने विचार व्यक्त करवाने, 'स्वीकृति' की विधियो के बारे मे, वास्तव मे, हम कुछ जानते है, लेकिन इस विधि का सम्पूर्ण उद्देश्य तो अन्तर्दृष्टि रहा है, पुनरुद्धार अथवा वैयक्तिक सुधार नही। और पादरियो को स्वय इतनी बार उनके नेताओ तथा धार्मिक चिकित्सा-व्यवसाय के अन्य सदस्यो ने बताया है कि उन्हे अपनी सीमाए स्वीकार करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि इन समस्याओ के साथ ठीक-ठीक व्यवहार करने के आवश्यक साधन और आत्मविश्वास उनके पास नही है (अध्याय 11-12)।

इस पत्र मे प्रतिष्ठा प्राप्त फ्रायड के सिद्धान्त और व्यवहार का जिस प्रकार मूल्याकन किया गया है उसके प्रति आजकल के बहुत से मनोविश्लेपको को कोई गम्भीर आपत्ति नही होगी। लेकिन वे बलपूर्वक कहेंगे कि फ्रायड के समय के बाद तो बहुत सी "प्रगतिया" हो चुकी हैं और उनके कारण सम्पूर्ण समस्या बिल्कुल नए ही प्रकाश मे प्रस्तुत होती है। जब हम यह प्रश्न करते है कि "ये प्रगतिया निश्चित रूप मे क्या हैं?" तब हमे यह बताया जाता है कि इनका सम्बन्ध "अचेतन" की अपेक्षा "अहम् मनोविज्ञान" पर अधिक बल देने से है। लेकिन अहम् मनोविज्ञान के बारे मे गतवर्ष वाशिंगटन के अधिवेशन मे इमलियन गुथेल (Emalıan Gutheıl, 1958) ने क्या कहा था? उसने कहा था कि यद्यपि पहले की अपेक्षा आजकल अह को विश्लेपणकर्ता बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं, तथापि उन्हे इसकी दशा को बलवान् करने अथवा परिवर्तित करने के बारे मे कुछ नही आता, और कुछ पहले यही स्थिति लारेन्स कुबी (Lawrence Kubıc) ने तथा अपने एक अन्तिम पत्र (1937) मे स्वय फ्रायड ने भी व्यक्त की थी (और भी देखो अध्याय 13)।

अत मैं इस स्वाभाविक निष्कर्ष से बचने का कोई साधन नही देखता कि इस समय हम सम्पूर्ण मनोरोग-चिकित्सा-सम्बन्धी उद्यम के विषय मे वास्तविक सकट की स्थिति मे है। लेकिन मैं ऐसा भी नही समझता कि हम इस सकट की स्थिति मे अज्ञात काल तक सम्भ्रान्त तथा अशक्त पडे रहेगे। मेरा विश्वास है कि एक ओर मनोवैज्ञानिक, तथा मनोरोगचिकित्सक और दूसरी ओर धर्मोपदेशक, तथा पुरोहित स्थिति के प्रति उत्तरोत्तर यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना रहे हैं। और मुझे आशा है, और विश्वास भी, कि स्थिति से निपटने के लिए नए और अच्छे उपाय सामने आ रहे है।

ये उपाय निश्चित रूप मे क्या होंगे यह मैं नही जानता, लेकिन मैं अपने इस विचार को प्रकट करने का साहस करता हू कि आगे जो होना है उसके विषय मे सबसे अच्छी वर्तमान जानकारी एलकोहौलिक्स एनोनिमस देता है और भविष्य के चिकित्सा-प्रोग्राम, चाहे वे धार्मिक अथवा धर्मनिरपेक्ष सस्थानो के आश्रय मे हो, 'एए' के समान, अपराध-स्वीकृति तथा शुद्धि को गम्भीरतापूर्वक लेंगे और इसमे केवल "अन्तर्दृष्टि" को टटोलने की अपेक्षा व्यवहार के कार्यक्रम शामिल होगे। (तुलना कीजिए अध्याय 8 और 12)

4

'पाप', बुराइयों में से छोटी बुराई*

जब पूर्वगामी अध्याय का सामग्रीभूत पत्र उस परिसवाद मे पढा गया जिसके लिए यह लिखा गया था तो इसने एक प्रकार की सनसनी पैदा कर दी। स्वयं सम्मेलन मे ही इसके ऊपर काफी उत्तेजना थी, और समाचारपत्रो तथा राष्ट्रीय पत्रिकाओ, जिनमे 'टाइम' भी था, मे व्यापक रूप से कहानियाँ प्रकाशित हुई 'टाइम' (सितम्बर 14, 1959—"कम से कम रुग्ण मन की चिकित्सा के लिए पाप के प्रत्यय का पुनरागमन", पृ० 69), 'न्यूजवीक' (सितम्बर 14, 1959, पृ० 108) तथा 'अमेरिका' (सितम्बर 12, 1960, पृ० 686—687)।

क्योकि परिसवाद का पत्र परिस्थितिवश सक्षिप्त था और उसमे एक जटिल समस्या के बहुत से पहलू अछूते ही छूट गए थे, इसलिए एक पूरक पत्र लिखना उचित समझा जिसे यहा उद्धृत किया गया है। इसमे बहुत से ऐसे विचारो को छुआ है जिनसे अनुगामी अध्यायो के क्रमबद्ध विचार-विमर्श के लिए रास्ता खुलता है।

सिनसिन्नटी (Cincinnati) मे 1959 के ए पी ए सम्मेलन मे "मनोरोग-चिकित्सा मे पाप के प्रत्यय के रचनात्मक पहलू" पर एक पत्र प्रस्तुत करने के बाद मुझ से मनोवैज्ञानिको तथा मनोरोगचिकित्सको ने बार-बार यह पूछा "लेकिन आप किसी उदासीन शब्द जैसे, 'कुकृत्य,' 'उत्तरदायित्व-हीनता' या 'अनैतिकता' की जगह 'पाप' इस भयावह शब्द का ही प्रयोग क्यो करते है?" यहा तक कि एक धार्मिक विशेपज्ञ ने भी मुझे इस आधार पर उपालम्भ दिया कि "पाप तो इतना कठोर शब्द है।" इसकी कठोरता निश्चित ही परिसम्पत्ति है, दायित्व नही निर्बल प्रत्ययो के पूर्वप्रयोग के कारण उत्पन्न असफलता को ध्यान मे रख कर, हमे बहुत भारी काम करना है। इसके अतिरिक्त, पाप (अधिक उदासीन तुल्यार्थ शब्दो के विपरीत) एक ऐसा सुप्रयोगवान, लघु शब्द है कि व्यवहार से इसको विलुप्त होने देना एक कष्ट ही होगा। हमे चाहिए कि हम्प्टी-डम्प्टी के साथ शब्दो का अच्छा व्यवहार करें और वे वही अर्थ दे जो हम उनमे

* ओहो स्टेट यूनिवर्सिटी, कोलबस, की यूनिवर्सिटी 'रिलीज्स कौंसिल' की अपराह्न भोज्यानर सभा में मार्च 11, 1959 को पढ़ा और 'दी अमेरिकन साइकालोजिस्ट' (1960, 15, 301—304) में छपा।

व्यक्त करना चाहते है !

कुछ वर्ष पूर्व मुझे प्रशान्त महासागर तट के एक महान् विश्वविद्यालय मे ग्रीष्म सत्र मे अध्यापन के लिए आमन्त्रित किया गया और सत्र के लगभग अन्त मे 'व्यक्तित्व सिद्धान्त' की मेरी कक्षा के एक विद्यार्थी ने एक दिन मेरे से कहा, "क्या आपको मालूम है कि इस पाठ्क्रम के प्रारम्भ मे आपने इस क्षेत्र मे एक प्रकार का परिवाद खडा कर दिया था ?" तब उसने स्पष्ट किया कि मैंने एक बार "पाप" शब्द का प्रयोग उसके पहले "तथाकथित" लगाए बिना अथवा उसकी हँसी न उडा कर किया था। उस विद्यार्थी ने बताया कि किसी मनोविज्ञान के प्रोफेसर से ऐसा कभी नही सुना था और उससे काफी भय और घबराहट उत्पन्न हो गई। मुझे तो वह घटना याद भी न थी, लेकिन इससे उत्पन्न प्रतिक्रिया पर ज्यो-ज्यो मैंने विचार किया त्यो-त्यो मैंने इसका अधिक प्रयोग करते हुए ही अपने आपको पाया। इस प्रयोग के पीछे वामता के अतिरिक्त, आशा है, कुछ और भी था।

परम्परा के अनुसार, जिसके कारण एक व्यक्ति नरक मे जाता है उसे पाप समझा जाता है। और क्योंकि बहुत-सी धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष विचारो की प्रथाओ ने नरक को दूसरी दुनिया के प्रतिकार और पीडा के स्थान के रूप मे अपनाया है इसलिए पाप का प्रत्यय वास्तव मे अप्रचलित तथा अनर्थक प्रतीत होता है। लेकिन, जैसाकि मैं सिनसिन्नटी के पत्र मे बता चुका हू, मन और प्राणी की उन अवस्थाओ के रूप मे जिन्हे आधि और मनोविक्षिप्ति कहा जाता है नरक अब भी हमारे साथ है, और मैं, कम मे कम अपने मन मे, उत्तरोत्तर उस प्रत्येक बात को जो अध -पतन की इन अवस्थाओ की ओर व्यक्ति को ले जाती हैं पाप समझता हू। यदि हम मनोरोग की प्रकृति को इस प्रकार ठीक-ठीक समझ सकते है और शाखा प्रशाखा रूप से विभक्त इसके प्रकारो और प्रकटनो पर अधिक व्यावहारिक निरोध का लाभ प्राप्त कर सकते हैं, तो उत्तरदायित्व-हीनता, कुकर्म, अनैतिकता, पाप, आदि पदो (टर्म्ज) के प्रयोग की क्या चिन्ता ?

लेकिन अब तो आग मे घी पडा है ! क्या हमे महान् आप्त वचनो के आधार पर यह शिक्षा नही दी गई कि व्यक्तित्व का विकार व्यक्ति का अपना "दोष" नही है कि रुग्णतन्त्रिक अपने कष्टो के लिए स्वय उत्तरदायी 'नहीं' है, कि उसने कोई बुरा काम नही किया है, कोई "पाप" नही किया है ? एक पोस्टर के अनुसार जिसका प्रचलन कुछ वर्ष पहले बहुत हुआ था, "मानसिक रोग अपमानजनक नही है। यह किसी को भी हो सकता है।" और इस सबके पीछे वास्तव मे फ्रायड की यह परिकल्पना थी कि कठोर और निर्दयी मा-बाप तथा दुर्बुद्ध समाज के हाथो व्यक्ति का कठोरता के साथ समाजीकरण होने के कारण उत्पन्न "अति कठोर पराहम्' से आधियां उत्पन्न होती हैं। इस मान्यता के अनुसार

कष्ट का कारण किसी ऐसी बुराई अथवा "पाप" मे निहित नही है जिसे व्यक्ति ने स्वय किया है, बल्कि उन बातो मे है जिसे वह करना चाहता है लेकिन दमन के कारण कर नही सकता। रुग्णतन्त्रिक, इस प्रकार पापी नही है, बल्कि रोगी है, "मा-बाप के पापो" का निरपराध शिकार है और उसकी विशेषीकृत अलौकिक चिकित्सा से ही रक्षा की जा सकती है। अन्ना रसल इस सिद्धान्त की आत्मा को पकडती है जब वे "मनोविकार सबन्धी लोक गीत" मे गाती है—

तीन वर्ष की आयु में अपने बन्धुओ के प्रति
उभयवृत्तिता का भाव मेरे मन मे था,
इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है
कि मैंने अपने सभी प्रेमियो को विष दे दिया है।
लेकिन अब मैं प्रसन्न हू,
मैंने वह पाठ सीख लिया है
जो इसने पढाया है,
कि प्रत्येक गलत काम जो मैं करती हू
उसका दोषी कोई अन्य है।

फ्रायड ने यह सब एक वैज्ञानिक खोज के रूप मे ही नही पहचाना बल्कि जिस व्यवसाय मे वह उपेक्षित रहा उसकी रक्षा का लाभ भी उसे इसमे दिखाई दिया। कोई यह कल्पना कर सकता है कि यह एक प्रकार का उपहार, भेंट अथवा सेवा थी जिसने औषधि-जगत् को फ्रायड का इतना ऋणी बना दिया कि वह अब उसकी उपेक्षा अथवा त्याग नही कर सकता। अपनी आत्म-कथा (1935) मे फ्रायड इस प्रकार लिखता है

"औषधि सम्बन्धी मेरे अन्त करण ने मेरे इस निष्कर्ष (कि आधि का आधार काम-प्रवृत्ति होता है) पर पहुचने पर प्रसन्नता अनुभव की। मैंने यह आशा की कि मैंने औषधि-विज्ञान मे रिक्तता की पूर्ति की है, जो (औषधि-विज्ञान) इतने अधिक जैविक महत्त्व की क्रिया के साथ वर्तने मे छूत अथवा मोटे शारीरिक घावो के कारण उत्पन्न होने वाली पीडा के अलावा और किसी प्रकार की पीडा की ओर ध्यान देने मे असफल रहा। इस बात का भेषज पक्ष इस तथ्य मे सबल बनता है कि काम-प्रवृत्ति केवल मानसिक ही नही है। इसका शारीरिक पक्ष भी है (पृ० 45)।"

'द प्रोब्लम आव ले एनेलिसिस' पर अपनी पुस्तक मे फ्रायड ने बाद मे कुछ

भिन्न स्थिति ग्रहण की (देखो और भी जोन्स लिखित फ्रायड की जीवनी की तीसरी पुस्तक का नवा अध्याय), लेकिन इस समय तक उसका बृहत् सिद्धान्त ससार मे खुल चुका था और अब पूर्ण रूप से उसके अपने वश मे नही था।

जैसाकि हम जानते है मनोविश्लेपण को ग्रहण करने वाले दूरस्थ व्यवसायी वर्गो मे मनोवैज्ञानिको का प्रथम स्थान है। स्वय अपना विश्लेपण करवा कर हमने इस नवीन क्रान्तिकारी विज्ञान को निकटता और व्यक्ति सम्पर्क के ढग से सीखा ही नही था अपितु हम चिकित्सा-विधि के रूप मे विश्लेपण का प्रयोग करने के लिए अपने आपको विशेप रूप से योग्य बना रहे थे (अथवा हमारी ऐसी कल्पना थी)। हम अब यह देखने लगे है कि यह सब कितना मिथ्या था। मनोविश्लेपणात्मक सिद्धान्त की ठीक ढग से परीक्षा होने से पहले ही हमने उसे स्वीकार कर लिया और इस प्रकार केवल मात्र मान्यताओ की समष्टि को जिन्हे अब बडे कष्ट के साथ त्याग रहे है एक "विज्ञान" मान बैठे। लेकिन, इससे भी और अधिक बात यह है कि इस पक्ष को स्वीकार करके, कि रुग्णतन्त्रिक रूप मे व्यथित व्यक्ति मूल रूप मे रोगी है, हम अपनी व्यावसायिक स्वतन्त्रता और प्रामाणिकता भी खो बैठे। अब जिस सीमा तक हमने मानसिक रोग का पक्ष लिया है (और इसकी चिकित्सा मे भाग लेने का प्रयत्न किया है) उस तक हमने मनोविकार-विज्ञान के अपने मित्रो के व्याकुल करने वाले आरोपो के प्रति अपने आपको कवचरहित कर दिया है।

1954 मे 'अमरीकन मैडिकल सघ' और 'अमरीकन मनोविश्लेपण सघ' की अनुमति से 'अमरीकन मनोविकार सघ' ने 'ओपधि और मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध' पर एक प्रस्ताव प्रकाशित किया जो 1957 मे (कथित विलम्ब काल के बीच) पुन प्रकाशित हुआ। इन पृष्ठो मे इस प्रलेख की विस्तृत समीक्षा करने की आवश्यकता नही है, लेकिन इस बात को सूचित करने के लिए कि किस प्रकार आधि को रोग समझने का प्रत्यय ओपधि के अभ्युदय का कितना प्रबल आधार है कुछ वाक्य उद्धृत किए जा सकते है

> "पाश्चात्य जगत् मे शताब्दियो से रोग के निदान और चिकित्सा का उत्तरदायित्व भेपज व्यवसाय का माना जाता रहा है। अयोग्य चिकित्सा-व्यवसायिओ मे जनता की रक्षा करने के लिए तथा जो उपचार की कला का व्यवसाय करते है उनके विशेप उत्तरदायित्वो को निश्चित करने के लिए चिकित्सा व्यवसाय सम्बन्धी कानून बनाए गए। मनोविकारविज्ञान डाक्टरी की विशेप शाखा है जिसका सम्बन्ध उन रोगो से है जिनके लक्षण मानसिक है। मनोरोग-चिकित्सा डाक्टरी चिकित्सा का ही एक रूप है और यह किसी पृथक् व्यवसाय का आधार नही है। जब अन्य व्यवसायो के लोग

विश्वास है कि इस समय हमारी श्रेष्ठ युक्ति यह होगी कि हम अनीश्वरवादी बन जाए, हम यह स्वीकार कर ले कि हमे मनोरोगो का न निदान ज्ञात है और न उनकी चिकित्सा, और इसलिए हमे अनुसन्धान पर ध्यान देना चाहिए। निस्सदेह इस युक्ति मे खतरा नही है, और यह सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकती है। लेकिन क्योकि मानव के पूर्ण समायोजन और मनोवैज्ञानिक सरक्षण की समस्याओ का रहस्य परम्परागत वैज्ञानिक खोज से आसानी से ज्ञात नही होता इसलिए मेरे विचार मे यदि किसी अन्य सिद्धान्त पर साथ-साथ विचार किया जाय तो कोई हानि नही होगी।

कई दशको तक हम पाप और नैतिक उत्तर दायित्व की बात को एक बडा दु स्वप्न समझते रहे, इससे छुटकारा पाना युग-प्रवर्तक समझा गया। लेकिन बहुत देर के बाद अब हमे यह ज्ञात हो गया है कि इस अर्थ मे स्वतन्त्र होने अर्थात् पापी होने के स्थान मे "बीमार" होने का बहाना बनाने का अर्थ भटकने का खतरा मोल लेना है। मेरा यह विश्वास है कि अस्तित्ववाद (Existentialism) मे हम जो व्यापक रुचि देख रहे है वह इस खतरे 'की ओर' सकेत करती है। नीतिशून्य, नीतिनिरपेक्ष तथा "स्वतन्त्र" होने मे हमने अपने अस्तित्व की जड काट दी है, आत्म-भाव और तादात्म्य के गहनतम भाव को खो दिया है, और रुग्णतन्त्रको से यह प्रश्न पूछते हुए अब अपने आपको पाते है मैं कौन हू ? मेरा लक्ष्य क्या है ? जीवन (अस्तित्व) का क्या अर्थ है ?

नरक समान जिस अवस्था मे हम गिर पडे हैं, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में अब हम मूल्यो की समस्या और जीवन मे उनकी केन्द्रीयता को समझने लगे हैं। हमारी अभिनव व्यावसायिक सभाओ, पत्र-पत्रिकाओ के लेखो और कुछ सीमा तक पाठ्य-पुस्तको मे भी यह वृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। मनोवैज्ञानिको और उनकी 'स्व-प्रतिमा' के सम्बन्ध मे कुछ मौलिक परिवर्तन हो रहे है।

जब हम पूर्व-प्रचलित डाक्टरी चिकित्सा से अलग हट रहे है तो हमारे लिए यह स्वाभाविक ही होगा कि हम पहले की अपेक्षा धर्म और धर्म-शास्त्र के साथ अधिक समीप सम्बन्ध स्थापित करें। और इसी प्रकार की कुछ बात निस्सदेह हो रही है। 1956 के ए पी ए के वार्षिक अधिवेशन मे, मेरे विश्वासानुसार हमारे इतिहास मे पहली बार, धर्म और मानसिक स्वास्थ्य पर एक परिसवाद हुआ, और प्रत्येक अग्रिम वर्ष मे विकसित होते हुए इस पुनर्मिलन के स्पष्ट चिह्न दिखाई दिए है।

मगर, इस सम्बन्ध मे, आश्चर्यचकित करने वाली एक कठिनाई है। मनोवैज्ञानिक तो व्यक्तित्व के कष्टो के सम्बन्ध मे रोग उपागम मे अविश्वास करने लगे है और कुछ नैतिक तथा धार्मिक उपदेशो के प्रति अधिक आशामयी दृष्टि से देखने लगे है, लेकिन विचारो के जिन अतीव असगत सिद्धान्तो से मनो-

होंगे जब तक कि वे अपने पापों को स्वीकार नहीं करते, लेकिन हम यह भी जानते हैं कि जब तक व्यक्ति में यह परिवर्तन न आ जाए, तब तक यह स्वीकार करना कितना कठिन है। दूसरे शब्दों में, गम्भीर निकम्मेपन को स्वीकार करना अहं का घोर "अपमान" है, और ऐसा प्रतीत होता है कि इसे सहने के लिए शक्ति का कोई और स्रोत होना चाहिए। यह एक ऐसा रहस्य (अथवा भ्रान्ति) है जिसका परम्परागत धर्म-शास्त्र ने अनेक ढंगों से समाधान करने का प्रयत्न किया है लेकिन पूर्ण सफलता नहीं मिली। क्या हम मनोवैज्ञानिक इसमें अच्छा काम कर सकते हैं?

फ्रायड प्रवचना पूर्वक कहता है, बल्कि वास्तविक, व्यक्त और निर्विवाद अपराध है, और इस सम्बन्ध मे चिकित्सा-सम्बन्धी इस प्रमाण की समीक्षा करने मे काफी परिश्रम किया गया है कि कष्ट-ग्रस्त व्यक्ति व्यर्थ मे ही 'क्षुब्ध' नही होता। जहा आधि अथवा मनोविक्षिप्ति क्रियारूप ही होती है (जैसाकि प्राय होता है) वहा उस व्यक्ति का, मेरे विश्वास के अनुसार, गम्भीर दुराचरण का इतिहास होता है जिसकी क्षतिपूर्ति नही हो सकी और न जिसका कभी "पुनरुद्धार" हुआ। और यदि यह सच है तो, स्वीकृति, प्रायश्चित्त और "ईसा मसीह मे एक नया जीवन" (अथवा धर्म परिवर्तन का इसी प्रकार का अन्य कोई रूप) इन सबका एक व्यावहारिक महत्त्व है, जो उन सीमाओ तक ही सीमित नही है जिनमे उन्हे कुछ पादरियो ने बाधने की कोशिश की।

उस सगठन के बहुत से सदस्यो ने जिनमे एक मनश्चिकित्सक और कई मनोवैज्ञानिक थे, इस दृष्टिकोण के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया प्रकट की। लेकिन कुछ ने इसके प्रति मनोगुप्ति धारण की तो कुछ ने इसका स्पष्ट प्रतिरोध किया। इसलिए इन व्यक्तियो के विचारो को सुनने और इनकी गलत धारणाओ को समझने मे कुछ समय लगा।

उस समय यह बात निकली कि हमारे वर्ग के बहुत से व्यक्ति यह अनुभव करते थे कि यह दृष्टिकोण "दण्डपरक", "बहिष्करण" तथा "चिकित्सा प्रतिकूल" था, उनका कहना था कि अन्यथा, रोगी को अपराधी बताए बिना और उसे दण्ड देने के लिए तैयार हुए बिना कोई इसे कैसे स्वीकार कर सकता है? इन स्पष्ट उक्तियो मे कई महत्त्वपूर्ण समस्याए प्रकाश मे आई। सबसे पहले, उन्होने उस वर्ग के अन्य सदस्यो को यह कहने का अवसर दिया कि मानसिक कष्ट मे ग्रस्त व्यक्ति को अन्य किसी के द्वारा अपराधी बताने तथा दण्ड देने की आवश्यकता नही है, वह स्वय ही अपने को अपराधी समझता है और दण्ड देता है (अथवा कम से कम ऐसा करने की कोशिश करता है), सक्षेप मे, यही उसकी वस्तु-स्थिति है। इसलिए हम उसके प्रति अपनी आत्मा की शक्ति के अनुसार प्यार और कृपा दिखा सकते हैं, दिखाना भी चाहिए और उसे दण्ड देने की तो बात बिल्कुल ही नही सोचनी चाहिए। लेकिन यह सब इससे भिन्न है कि हम उसके अपने आपको अपराधी बताने की उपेक्षा करें अथवा उस पर वाद-विवाद करें और उसकी मुक्ति की आवश्यकता को बहुत न्यून रूप दें। इस वर्ग के बहुत से सदस्यो ने यह विश्वास प्रकट किया कि वर्तमान ढंग के हमारे भावी चिकित्सा-सम्बन्धी बहुत से प्रयत्न व्यर्थ होंगे, क्योंकि हम रोगी की ठोस मनोवैज्ञानिक यथार्थता और उसके परिवर्तन तथा सुधार के उज्ज्वल भविष्य, अर्थात् उसके अपराध और पाप की भावना की धारणा, का बड़ी सतर्कता से विरोध करते हैं। शायद रोगी इतना गलत और इतना भ्रान्त नही होता जितना कि हमारे [illegible]

होता है, तो परिणाम आशाजनक नही होते। मनोविश्लेपणवाद ने हमारे अन्त करण की "कठोरता" को कम करके आविमूलक दु ख से हमे मुक्ति दिलाने का वायदा किया। इस वायदे को पूरा करके विश्लेपण तो अब अस्त होता जा रहा है, और मनोविकार-चिकित्सा अब रासायनिक "शमनकारी औपधियो" की दास वनी हुई है। 'अमेरिकन जरनल आव् साइक्यट्री (American Journal of Psychiatry) का कोई अक उठा कर देखे (जैसा कि मैंने किया है), आपको उसमे क्या मिला ? पूरे पृष्ठ के अथवा दो पृष्ठो के दस विज्ञापनो मे से नौ मे यह लिखा था "सवेगात्मक उत्पात का निरोध—ल्यूमीनल" (control of emotional turbulence—luminal), "मन की शान्ति—एटरैक्स", (peace of mind—atarax), "शान्ति, सहयोगभावना—सरपसिल" (calmness, cooperativeness—serpasil), "चिन्ता से मुक्ति—कम्पैजिन" (relief of anxiety—compazine), "सभी मानसिक विकारो की सभी अवस्थाओ के लिए मूल्यवान—ट्रिलफोन" (valuable in all degrees of psychic disorder—trilafon), "अन्त शिरा सवेदनहारी—पेंटोथल" (intravenous anesthetic—pentothal) "तनाव निवारक—इक्वैनिल" (relieves tension—equanil), "विचारो को सामान्य वनाता है—पकाटल" (normalizes thinking—pacatal), "आराम देता है—सैंड्रिल" (produces relaxation—sandril), अन्य विज्ञापन सुवाह्य टेप रेकॉर्डर का था। इसके साथ यह तथ्य भी जोड दे कि अन्य प्रकार की रीतियो मे इतनी अधिक प्रतिशतता मे विज्ञापन उन वयोवृद्ध "शमनकारको", शराव तथा तम्वाकू के लिए होता है, और प्रत्येक को यह स्पष्ट दिखाई दे सकता है कि अपने वर्तमान समय का "एस्पिरिन युग" के रूप मे निदान करना उसे कितना ठीक-ठीक समझना है। यदि आधुनिक मनुष्य को इन आवरणो और आधार दण्डो के विना एक सप्ताह के लिए अपने अपराधो का सामना करना पडे तो क्या होगा ? क्या यह हमे विल्कुल नष्ट कर देगा अथवा अधिक स्वस्थ और अधिक अच्छे जीवन का रास्ता हमे बताएगा ?

ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मसभा ने अपने आपको आराम के लिए अर्पित नही किया वल्कि परिवर्तन, पुनरुद्धार, पुनर्जन्म के लिए किया है। इसका अन्तिम लक्ष्य किसी भी दृष्टि मे औपधियो के लक्ष्य की तुलना मे दु ख से कम मुक्ति दिलाना नही है--अपितु उससे भी अधिक मुक्ति और आनन्द दिलाना है। लेकिन इसमे यह स्वीकार करने से मना नही किया जाता कि कभी-कभी दु ख भी हमारे सुधार और पुनरुद्धार की निरपेक्ष और अत्याज्य शर्त होता है। आधुनिक धर्म-सभा (चर्च) का (इस सम्बन्ध मे) क्या हाल है? जिस प्रकार दु ख को उत्पन्न करना अनुमोदित हो गया उसी प्रकार धर्म भी "ईश्वराज्ञा-विहीन" हो

गया और विवश हो नरक को इसे अपने अधिकार-क्षेत्र से निकालना पड़ा। अब ईश्वर-प्रेम ही प्रेम है और दण्डाज्ञा (judgment) पुरानी बात हो गई है। पिछले सप्ताह एक विद्यार्थी ने मेरे हाथो मे एक समाचार-पत्रिका दी जो किसी प्रोटेस्टेंट चर्च की थी और जिसमे यह घोषणा की गई थी कि ईश्वर "एक उदार, प्रेम करने वाला, पिता है" "जिसकी कृपा मनुष्य के लिए उदारता के साथ मिलती है" और जिसमे "इस बात पर बल देने के कारण कि ईश्वर न्यायकारी है" रोमन कैथालिक्स की कठोर आलोचना भी की गई थी।

'ओल्ड टेस्टामेंट' के लेखक यह जानते थे कि ईश्वर, मा-बाप और अत करण न्यायपूर्वक कुपित हो सकते है और हम अपने को खतरे मे डाल कर ही उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। दु ख की नैतिक उपपत्ति को अस्वीकार करना और अपने आपको इसके विपरीत आराम पसन्द बनाना, अन्त मे जाकर, विनाश ही फैला सकता है।

6

हमारे चर्चों तथा धर्म-विद्यामन्दिरों को एक नई चुनौती : I. सिद्धान्त का एक प्रश्न*

पिछले अध्यायो मे हमारा ध्यान मुख्य रूप से मनोविकार-विज्ञान और नैदानिक मनोविज्ञान मे छाये "सकट" पर था, और जिसका कारण प्राणिशास्त्र की प्रवृत्ति और प्रभाव वाले फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद का व्यापक ग्रहण था। इस अध्याय मे और इससे अगले अध्यायो मे हमारा ध्यान चर्चों और धर्म-विद्यामन्दिरो के सकटो के प्रति होगा। जो प्रारम्भ मे फ्रायड के सिद्धान्त को अपनाने में सुस्त थे, अब वे इसे छोडने में एक विचित्र हिचकिचाहट दिखाते हैं। इस अध्याय में धर्माचार्यों के परामर्श की प्रणाली के इतिहास के बारे में कुछ ज्ञात तथ्य मिलेंगे और इससे यह भी प्रकट होगा कि किस प्रकार प्रारम्भ में ठीक दिशा में आशावादी प्रगति करने के बाद मनोविश्लेषणवाद तथा आदेश-विहीन परामर्श की विधि के कारण यह स्थिति पथभ्रष्ट तथा विकृत हो गयी।

एक प्रसिद्ध धार्मिक पत्रिका के लिए उनकी माग के आधार पर लिखा गया यह पत्र (और इसके बाद का पत्र, देखें अध्याय 7) औपचारिक रूप से स्वीकृत हो गया लेकिन फिर रहस्यमय ढग से अस्वीकृत हो गया। क्या बाद की इस क्रिया से स्वरक्षा की प्रवृत्ति तथा असुखद तथ्यो का सामना करने की हिचकिचाहट प्रकट होती है? अथवा इस विश्लेषण में कोई बुनियादी त्रुटि अथवा शायद कोई अनुचित बात थी?

क्या धर्म के 'सुसमाचारी सिद्धान्त' (evangelical religion) ने मनोवैज्ञानिक तथ्यों के गहभोग के बदले अपना जन्मसिद्ध अधिकार बेच दिया है? क्या मनोरोग-चिकित्सा के प्रति अपनी दुर्भाग्यपूर्ण पुरानी उपेक्षा की त्रुटि को सुधारने के प्रयत्न में धर्म-सभाओं तथा धर्म-विद्यामन्दिरों ने ऐसा दृष्टिकोण तथा मूल्य-तन्त्र अपना लिया है जो उस बुराई से अधिक विनाशकारी तथा भयावह है जिसे वे समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे? एक मनोवैज्ञानिक तथा चर्च

---

* पार्स्टेंग्स इतिहास और धर्म-शास्त्र की ईसाई पत्रिका (अक्तूबर, 1960, 3, 335—347) में प्रकाशित।

का सदस्य होने के नाते मैं इन प्रश्नो का उत्तर स्वीकृति के रूप मे समझना हू। यदि ऐसा है तो स्थिति का पुनर्मूल्याकन करने और नई कार्य-योजना बनाने का अब समय है।

लेकिन पहले मैं एक भ्रान्त धारणा का निराकरण कर दू। मैं यह जानता हू कि कुछ ऐसे धर्माचार्य तथा धर्म-विद्यामन्दिरो के प्रोफेसर हैं जो "निदान सम्बन्धी विचारधारा" को समाप्त करके बहुत ही प्रसन्न होगे। मैं उन्हे कोई आराम देना नही चाहता, क्योकि मैं हैरी इमर्सन फौस्डिक की इस बात (एक नवीन लेख) से पूर्णत सहमत हू कि प्रोटैस्टैंट धर्मशास्त्र तथा धर्माचार्यों की शिक्षा प्रणाली मे एक खाई की "रिक्तता" थी जिसकी पूर्ति अत्यावश्यक है। मैं यहा जो प्रश्न उठाना चाहता हू वह इस "रिक्तता" का प्रश्न नही है—जो एक दुखद वास्तविकता है—लेकिन यह है कि इस रिक्तता को जिस ढग से भरने का प्रयत्न होता रहा है और अब भी हो रहा है क्या वह प्रमाणसिद्ध है। मैं कष्टग्रस्त व्यक्तियो के लिए धार्मिक चिन्ता कम करने की बात नही करता, बल्कि अधिक चिंता करने की बात करता हू, लेकिन यह भिन्न प्रकार की, और आशा तो ऐसी है कि पहले से अच्छी, धार्मिक चिन्ता होगी।

I

जनवरी, 1926 मे एटन टी० बौइसन नाम के एक व्यक्ति ने जिसके नाम को उस समय कम लोग जानते थे "क्रिश्चियन वर्क" मे एक ऐसा लेख लिखा जिसने धर्म-शास्त्रीय शिक्षा तथा चर्च के इतिहास को बदल दिया। इस लेख का शीर्षक था "हमारे धर्म-विद्या-मन्दिरो को चुनौती" और इसका सूक्ष्म सिद्धान्त यह था कि "मानसिक विकारो के सम्बन्ध मे हम जिस समस्या के साथ जूझते है वह मूलत आध्यात्मिक है" (पृ० 8)। बौइसन ने कहा

> "लेकिन चर्च का इस प्रकार की किसी सम्भावना की ओर ध्यान नही है। स्पष्ट दिखाई देने वाले मानसिक विकारो मे इसकी कोई रुचि नही है । इसलिए हमारे सामने यह विचित्र परिस्थिति है कि चर्च जिसकी रुचि सदा रुग्ण व्यक्तियो मे रही है, अपने प्रयत्नो को उन रोगियो (शारीरिक रोग वाले व्यक्तियो) तक ही सीमित रख रहा है जिनके साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नही है और जिनके बारे मे धर्म कुछ कर भी नही सकता, और जिस प्रकार के रोगियो के बारे मे यह कहना कठिन है कि डाक्टर लोगो का उनके साथ कहा सम्बन्ध टूट जाता है और कहा धार्मिक कार्यकर्त्ता का प्रारम्भ होता है। उनके बारे मे चर्च कुछ भी नही कर रहा है (पृ० 9)।"

श्रीर तदन्तर 1944 मे "धर्म-शास्त्रीय सरक्षरण की सस्था" के नाम से एक श्रीर सगठन बन सका। 1957 मे प्रकाशित श्रपनी पुस्तक "धर्म-शास्त्रीय शिक्षा मे प्रगति' (The Advancement of Theological Education) मे नीबुर, विलियम्स श्रीर गस्टसन ने इन विकास-क्रियाश्रो पर निम्नलिखित टिप्पणी की है

> "इन दोनो प्रोग्रामो के मध्य मे धर्माचार्यों के नैदानिक प्रशिक्षरण का प्रमुख भाग प्रारम्भ हुश्रा श्रीर पिछले पच्चीस वर्ष से उसके लिए ये उत्तरदायी है। बहुत से स्कूलो ने इन प्रोग्रामो का प्रयोग किया है श्रथवा इसी प्रकार के श्रन्य प्रोग्राम उन्होने स्वय बनाए है (पृ० 123)।"
>
> "इस प्रोग्राम के विकास का पता इन प्रदत्तो से चलता है। 1943 मे तेरह धर्म-विद्यामन्दिर किसी न किसी नैदानिक प्रशिक्षरण प्रोग्राम से सम्बन्धित थे। नौ वर्ष बाद 1952 मे ऐसे तेंतालीस शिक्षालय थे। वर्तमान श्रध्ययन के लिए प्राप्त प्रतिवेदनो के श्रनुसार स्वीकृत विद्यामन्दिरो के लगभग तीन-चौथाई श्रीर श्रन्य विद्यामन्दिरो के एक-तिहाई मे 1955 तक या तो श्रपने नैदानिक प्रशिक्षरण प्रोग्राम लागू हो चुके थे श्रथवा इन्होने ऐसी परिषदो श्रथवा सस्थाश्रो मे प्रशिक्षरण के लिए श्रपने विद्यार्थी भेजे थे (पृ० 124)।"
>
> "—'धर्माचार्यों के धर्मशास्त्र' श्रथवा 'श्रात्मा' की देखभाल के परम्परागत श्रनुशासन श्रीर मानव व्यक्तित्व के प्रति मनोवैज्ञानिक उद्गम के बीच मानव समस्याश्रो के साक्षात् श्रनुभव पर श्राधारित सम्बन्धो को श्राजकल व्यापक रूप से पहचानते है, श्रीर इसने धर्म-शास्त्रीय शिक्षा मे एक बहुत ही प्रभावशाली प्रचलन (ईसाई धर्माचार्य को एक परामर्शदाता के रूप मे तैयार करना) को जन्म दिया है (पृ० 122)।"

व्यक्तित्व के कष्टो मे धार्मिक रुचि के पुनर्जागृत होने का जहा तक प्रश्न है, इसके सम्बन्ध मे 1926 की परिस्थिति श्रीर श्राज की परिस्थिति के श्रन्तर पर श्रीर विस्तृत लिखित प्रमारण उद्धृत करने की वास्तव मे श्रावश्यकता नही है, इस श्रवधि मे जो चर्च का सदस्य रहा है उसे तो यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है श्रीर श्रन्य लोगो को कुछ देर मे। मगर इस क्षेत्र मे, धर्म-सभाश्रो तथा धर्म-विद्यामन्दिरो, दोनो मे ही तीव्र बेचैनी श्रीर तनाव के स्पष्ट लक्षरण है, श्रीर इस लेख के शेष भाग मे हमारा उद्देश्य सम्बन्धित सैद्धान्तिक पक्षो को प्रकाश मे लाना तथा विचार-विमर्श के क्रम मे इस सम्पूर्ण समस्या के प्रति एक भिन्न व्यावहारिक उपागम का सुझाव देना होगा।

इसके कारण अगणित लोगों के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं (पृ० 134)।"

"हम से यह आशा की जाती है कि हम अन्त करण के अनुसार जीवन नौका चलाए, लेकिन फिर भी हम इस पर विश्वास नही कर सकते, अपने रास्ते को सीधा रखने के लिए अपने कुतुबनुमा पर विश्वास करने की जगह हमें अपने कुतुबनुमा को सीधा रखने को विवश होना पडता है और इसी से हमारी नौका की गति डगमगा जाती है (पृ० 135)।"

"अन्त करण को स्वीकार करने से इसकी समस्याए हल नही होती बल्कि इससे कठिनाइयों का प्रारम्भ ही होता है। बहुत से लोग अपने अन्त करण की बात मानते है। वे अपने विनाश को लिए हुए अन्त करण-वृत्तिपरायण होते है। मनश्चिकित्सकों के दफ्तर ऐसे लोगो से भरे रहते है जिनके अन्त करण युद्धमार्ग पर होते है, जो उन्हे छोटी-छोटी नैतिक बातों पर चिन्ता तथा पश्चात्ताप द्वारा व्यथित करते है (पृ० 143)।"

"शरारत यह है कि अन्त करण अपने महत्त्व का लाभ उठा सकता है और अपना हाथ आवश्यकता से अधिक भी बढा सकता है । अन्त-करण की इस अति-क्रिया पश्चात्ताप की निरन्तर छाया से कोई भला नही होता, इससे व्यथित व्यक्ति का जीवन बिगडता है और उसके परिवार तथा बन्धुओं का आकाश अन्धकारमय हो जाता है। जब अन्त-करण अपना कार्य सम्पन्न कर चुके तो इसे स्वाभाविक ढग से रुक जाना चाहिए, लेकिन आम तौर पर यह फिर भी बना रहता है और ग्रसित व्यक्ति को कष्ट देने की सीमा का अतिक्रमण करके भी कष्ट देता रहता है (पृ० 147)।"

"नीतिवाद लक्षणों पर ध्यान देता है और परिणामों की निन्दा करता है, मनोरोग-चिकित्सा कारण की खोज करता है और चिकित्सा से सम्बन्ध रखता है (पृ० 152)।"

"अन्त करण बहुत से व्यक्तियों को बिना किसी लाभ के दुखी करता है (पृ० 153)।"

की निन्दा करता है और उसे दु खी करता है।

V

'आन बीइग ए रीयल परसन' (On Being a Real Person) के प्रकाशित होने के कुछ समय बाद सितम्बर, 1943 मे डा० बौइसन ने डा० फास्डिक की पुस्तक के अनेक पहलुओ की प्रशसा तथा सराहना की, लेकिन फ्रायड के पराहम् की अतिकठोरता के सिद्धान्त को स्वीकार करने की निन्दा करते हुए उन्हे लिखा। बौइसन ने कहा

"पृष्ठ 154 पर दिया हुआ यह कथन कि जिस निन्दक अन्त करण को दूसरो पर लागू करने से विनाशकारी प्रभाव होता है उसका अपने आप प्रयोग करने से भी वैसा ही प्रभाव होता है निस्सदेह सच है, मगर पृष्ठ 152 पर दिया हुआ यह कथन कि आत्म-निन्दा बाहर से थोपे जाने वाले तथ्यो मे से सबसे अधिक भ्रामक है वैसा नही है। मेरा निरीक्षण यह है कि जो रोगी यह सोच कर भी अपनी निन्दा करता है कि उसने कोई अक्षम्य पाप किया है, वह ठीक हो सकता है। जो रोगी दूसरो को दोषी बनाता रहता है वह ठीक नही हो पाता। जहा प्रथम एक दयापरक प्रतिक्रिया है वहाँ दूसरी विद्वेपपरक प्रतिक्रिया है। आत्मनिन्दा भले ही भयकर मनोविक्षिप्ति को पैदा करने का कारण बन जाए लेकिन इसका अर्थ इस बात को स्वीकार करना होता है कि कही कुछ गलत काम हुआ है और कष्ट का उत्तरदायित्व अपना ही है। तदनन्तर जो भावविक्षोभ पैदा होता है वह शरीर मे ज्वर अथवा सूजन के समान है। यह कोई बुराई नही है बल्कि उपचार करने की प्रकृति की शक्ति का प्रदर्शन है।

उदाहरण के तौर पर, 150 पृष्ठ पर आप जिस काल्पनिक वृत्त का वर्णन करते हैं, उसे लें। इस युवा व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित पाप-भावना को आप 'अनावश्यक और हानिकारक बाह्य तत्त्व' बताते है। यदि इस वृत्त का युवा व्यक्ति उन अन्य अनेक व्यक्तियो की तरह है जिन्हे मैं जानता हू तो पापमूलक भय का दबा हुआ गुब्बार उसे धर्माचार्य के अध्ययन कक्ष मे भेजने का कारण बनेगा और वहा उसे जो शाति मिलेगी वह इस बात से नही मिलेगी कि धर्माचार्य ने उससे क्या कहा बल्कि इस बात से मिलेगी कि उसने धर्माचार्य से अपनी उस समस्या के बारे मे क्या कहा, जिसे वह किसी भी दृष्टि से छोटी समस्या नही समझता था।

अच्छा होता यदि आपने अन्त करण की प्रकृति और क्रिया को स्पष्ट करने के लिए कुछ और प्रयत्न किया होता। हमारे मनोविश्लेपको

> ने इसकी खोज की है और वे इसके बारे में बहुत कुछ कह सकते हैं, लेकिन मेरे दृष्टिकोण के अनुसार उनके सिद्धान्त युक्त नहीं हैं और डिवी, मीड तथा हौकिंग की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया।"

'शिकागो सैमिनरी रजिस्टर' (Chicago Seminary Register) के मार्च, 1944 के अंक में "पाप पर नीबुर और फास्डिक के विचार" शीर्षक से प्रकाशित एक लेख में बौइसन ने इन चिन्ताओं को दोहराया है और उन्हें अधिक विस्तार से प्रकट किया है। मगर वे बाढ़ पर काबू पाने में असमर्थ रहे, और फ्रायड का यह मत कि एक व्यक्ति अपने पाप के कारण रोगी न होकर अत्यधिक अन्त करणपरायणता के कारण रोगी होता है, धर्म-शास्त्र सम्बन्धी क्षेत्रों में अपनाया जाता रहा है।

VI

जैसा ऊपर बताया जा चुका है आजकल धर्मविद्या-मन्दिरों तथा गिरजा-घरों में फ्रायड-फास्डिक स्थिति के सम्बन्ध में एक तनाव है, लेकिन प्रामाणिक सूचना के अनुसार यह स्थिति बढ़ रही है। चर्च के लाखों साधारण सदस्यों ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया और इसी प्रकार बहुत से धर्माचार्य और धर्म-विद्यामन्दिरों के अध्यापक इसमें गम्भीर अविश्वास रखते हैं। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि "विज्ञान" उनके विरुद्ध है और इस भय से कि कहीं वे "विज्ञान के विरुद्ध" कुछ न कह दें, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते, जब कि वे लोग जिन्हें यह विश्वास था कि मनोवैज्ञानिक सत्य उनके साथ है निर्भय होकर स्पष्टवादी बने रहे हैं। उनकी स्पष्टवादिता के उदाहरण विस्तारपूर्वक दिए जा सकते हैं, लेकिन केवल दो अभिनव उदाहरण पर्याप्त होंगे। ड्रू यूनिवर्सिटी में धर्म-शास्त्र के प्रोफेसर डा० कार्ल मिकल्सन अपनी पुस्तक 'व्यक्तिगत संकट के लिए धर्म-निष्ठा" (Faith for Personal Crises) (1959) में अपराध के अध्याय में इस प्रकार लिखते हैं:

"जो मनोरोग-चिकित्सक अपने रोगी के चिन्ताकुल अपराध के तनाव को शान्त करने के लिए नैतिक मानदण्डो मे ढील दे देते है वे प्राय ईसाइयो को बदनाम करते हैं। इस दृष्टान्त मे मनोरोगचिकित्सक नैतिकता को बहुत से ईसाइयो से अधिक समझने वाला होता है—नैतिकता की ढील स्वय उपचारक न हो, लेकिन इससे इसे और कसने की अपेक्षा उस व्यक्ति को कम हानि होती है जो उसके दबाव मे पहले से ही चकनाचूर हो रहा होता है। ऐसे भी क्षण होते है जिनमे क्रिया की अपेक्षा एस्पिरिन अधिक उपचारक होती हैं। 'भावात्मक चिन्तन की शक्ति' मे यह एक धर्मानुकूल सत्य है (पृ० 61)।"

और पूज्यपाद जार्ज क्रिश्चियन एडर्मन, जो कि धर्म और मानसिक स्वास्थ्य की अकादमी के सचालक हैं, अपनी पुस्तक 'मानव होने का मनुष्य का अधिकार' (Man's Right to be Human) के प्रथम अध्याय मे इस परिचित निग्रह की प्रतिध्वनि करते है। वे कहते हैं

"जिन आदेशो के अनुसार हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं उनकी फिर से परीक्षा करने के लिए मनोविकार-विज्ञान और व्यवहार-सम्बन्धी अन्य विज्ञान हमे आज विवश करते हैं, लेकिन इससे वे लोग जिन्होने अपने घर अपने बुजुर्गो की नीव पर बनाए है व्यथित और क्रोधित होते है (पृ० 15)।"

"अब हम यह प्रश्न करने लगे है कि हमारे गलत काम क्या पाप है अथवा सवेगात्मक रोग है—। हमारे अन्दर से फूट कर क्या निकलता है इसके बारे मे अत्यधिक अपराधी अथवा भयभीत अनुभव किए बिना इन शक्तियो (प्रेम, क्रोधपूर्ण शत्रुता की प्रबल आवश्यकताओ, पृ० 19) को बाहर निकलने देने अथवा न निकलने देने पर हमारा मानसिक स्वास्थ्य निर्भर करता है (पृ० 17)।"

"(मनोविश्लेषण के द्वारा) हमारे आन्तरिक जगत् की यात्रा निर्भय अपने सवेगो को अनुभव करने, जिन बातो को हम पहले नही मानते थे उन्हे स्वीकार करने, और जिन बातो मे पहले विश्वास करते थे उनका त्याग करने मे सहायक है। यह स्पष्ट है कि मनोविकार-विज्ञान को हमारे नैतिक सिद्धान्तो को प्रकाश मे लाना चाहिए और हमारी धार्मिक-निष्ठा के परिणामो को मापना चाहिए (पृ० 18)।"

मनोविज्ञान और मनोविकार-विज्ञान की आज क्या परिस्थिति है ? दूसरे सदर्भ मे (अध्याय 1) मनोविश्लेषण के बारे मे प्रचलित मनोविकार-विज्ञान सम्बन्धी मतो की समीक्षा मैं कर चुका हू । इसका एक उदाहरण डा० लारेंस क्रूबी (1956) का निम्नलिखित कथन है

> "इस क्षेत्र मे किसी बात के पक्ष मे अथवा विपक्ष मे होने का हमारा (विश्लेषको का) कोई अधिकार नही है । हमारा अधिकार तो केवल विनम्रता का है, ऐसी विनम्रता का जो कहती है कि आधि की प्रक्रियाओ अथवा मनोरोगचिकित्सा की प्रक्रियाओ के बहुत से महत्त्वपूर्ण तत्त्वो के बारे मे वस्तुत हम अनभिज्ञ है (पृ० 103) ।"

अमरीकी मनोवैज्ञानिक सघ ने अपने इतिहास मे प्रथम बार, 1957 के वार्षिक अधिवेशन मे, धर्म और मानसिक स्वास्थ्य पर एक परिसवाद रखा था और सितम्बर, 1959 मे उसी सस्था ने "मनोरोग-चिकित्सा मे पाप के प्रत्यय का स्थान" पर एक परिसवाद रखा था जिसने सम्पूर्ण राष्ट्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया (अध्याय 3) ।

VIII

धर्म-शास्त्री अपने नए मनोविज्ञान के लिए जिन धर्मनिरपेक्ष व्यवसायो और विज्ञानो से सामग्री एकत्रित करते है, उनमे जो हो रहा है उसका निरीक्षण करने का कष्ट यदि वे करें तो उन्हे पता चलेगा कि एक प्रकार की क्रान्ति हो रही है जो बिना किसी धार्मिक अथवा ठोस वैज्ञानिक आधार के फ्रायडीय सिद्धान्त को छाती से लगाए हुए उन्हे छोडती जा रही है । इस स्थिति का सक्षिप्त वर्णन एक पत्र मे उपलब्ध है, ("क्या मनोविश्लेषण और धार्मिक परामर्श अविरुद्ध है ?") जिसे न्यूयार्क के एक मनोवैज्ञानिक, ली आर० स्टीनर ने 'धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की सोसायटी' की हार्वर्ड विश्वविद्यालय मे नवम्बर, 1958 मे हुई एक बैठक मे पढा

> "लोग अपने कष्टो को कहा ले जाते है और जिन स्रोतो को वे ढूंढते हैं उन्हे वे क्यो ढूंढते है[1]—बीस वर्ष तक इसके अध्ययन से मैंने यह समझा है कि धर्माचार्यों के पास जो कुछ है उसे वे जब मनोविश्लेषण की मरहमपट्टी से बदलते है तो कितनी गम्भीर त्रुटि करते है । युगो से धर्माचार्य सघ वह शक्ति रहा है जिसने कम

1 देखिये स्टीनर (1945), Where Do People Take Their Troubles ?

7

हमारे चर्चों तथा धर्म-विद्यामन्दिरों को एक नई चुनौती : II कार्यारम्भ की समस्या*

विश्लेषण से आगे जाने, कर्मपरक होने, निदानमात्र खोजने की जगह निर्धारित करने का प्रारम्भिक प्रयत्न यहा दिया गया है। निश्चित की हुई हर किसी क्रिया-योजना मे परिस्थितियो तथा नये नये प्राप्त अनुभवो के अनुसार रद्दो-बदल करना होता है, लेकिन यहाँ जो दो सुझाव दिए जाते हैं वे कम से कम आशाप्रद प्रारम्भ हैं। शैक्षणिक प्रशासन मे एक कार्यकर्त्ता मित्र प्राय यह कथन दोहराया करते थे कि व्यावहारिक परिस्थिति में क्रिया कभी सीधी योजना के अनुसार नहीं होती। इसमें हमेशा कुछ न कुछ समयोचित, परिवर्तन, यहा कुछ नई क्रिया तथा वहा कुछ अप्रत्याशित नया निर्माण अथवा नया अवसर-लाभ होता ही है। लेकिन प्रगति तो तभी हो सकती है, जब एक स्पष्ट लक्ष्य हो और उसकी ओर स्थिर झुकाव हो।

1960 में गिरजा घरो की विश्व-परिषद् ने धार्मिक पूजा—एक ऐसा विषय जो इस अध्याय में व्यक्त चिन्ताओ पर अमल करने का है—को सुधारने और अनुप्राणित करने के विषय पर एक सभा की घोषणा की। "व्यक्तिगत उन्नति के लिए बने गुटो को समाप्त करने" के उद्देश्य से कोलम्बस, ओह्यो के प्रथम सामुदायिक चर्च के धर्माचार्यों ने मनोविज्ञान तथा समाज विज्ञान के सहयोग के साथ धर्म का प्रयोग करने की नई विधियो के लिए निश्चित की गई कर्म-शालाओ में से सर्वप्रथम मार्च, 1960, में चलाई। इसके कुछ समय बाद गिरजा घरो की राष्ट्रीय परिषद् ने उच्च शिक्षा में धर्म के स्थान पर एक सम्मेलन किया जिसमें बहुत से धर्मनिरपेक्ष लोगो ने भाग लिया। यदि हम एक स्वस्थ और विश्वसनीय उपपत्ति को ग्रहण कर सकें तो ये नई क्रियाएँ खोज करने और परिवर्तन लाने के नए मार्गों का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

इस अध्याय मे जो सुझाव दिए हैं उनमें से कुछ पर अधिक गहराई के साथ अध्याय 12 (देखो और भी अध्याय 8) में विचार करेंगे।

---

* फाउन्डेशन्स इतिहास और धर्म-शास्त्र की त्रैमासिक पत्रिका (अक्तूबर, 1960 3, 335—347) में प्रकाशित।

इस लेख के प्रथम भाग (अध्याय 6) मे मैंने धर्मादिष्ट परामर्श के प्रचलन के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन किया है और यह दिखाया है कि इसकी चार अवस्थाएं है- (1) मनुष्य की मनोवैज्ञानिक और भावात्मक आवश्यकताओं के बारे मे उपदेश देने तथा उन्हे नियमित करने मे बीसवी सदी के प्रारम्भ के धर्म की असफलता के प्रति बढ़ती हुई जागरूकता (बौइसन, फास्डिक तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा), (2) धर्मादिष्ट परामर्श का प्रारम्भ, अथवा "नैदानिक", प्रचलन (विशेष रूप मे बौइसन और उनके विद्यार्थियो द्वारा) और बौइसन के प्रयत्न जो 1936 की उनकी पुस्तक 'आन्तरिक जगत् का मन्थन' (Exploration of the Inner World) मे संगृहीत है और जिनका उद्देश्य इस प्रचलन को एक सैद्धान्तिक ढांचा प्रदान करना है जो परम्परागत यहूदी-ईसाई नीति के अनुकूल पड़ता है, (3) इस फ्रायडीय सिद्धान्त, कि मनुष्य मन तथा आत्मा के रोगी पाप के कारण नही होते बल्कि धर्मात्मा (अथवा "नैतिकता") की अति के कारण होते हैं, के प्रवेश से इस उद्देश्य का विफल होना, और (4) विज्ञान और धर्मनिरपेक्ष व्यवसायों मे उन नई-नई बातो का विकास जो फ्रायड के मत की प्रामाणिकता के बारे मे गम्भीर शकाएं व्यक्त करती है और इस प्रकार अनेकों पादरियों और धर्माचार्यों को "अपना जन्म सिद्ध अधिकार बेच देने के कारण" एक लज्जास्पद स्थिति मे डालती हैं।

अब यह प्रतीत होता है कि बौइसन की यह बात ठीक थी कि मनोरोग-चिकित्सा पूर्ण रूप मे एक नैतिक समस्या है और ईसाई धर्माचार्य-संघ तथा धर्म-सभाओं की सतुष्टि और असावधानी के कारण ही डाक्टरो के हाथ मे चली गई है। हाल ही मे मसाचूसैट्स के गिरजाघर की एक औरत ने मुझे एक पत्र लिखा जिसकी समाप्ति इन शब्दों मे की, "यदि इन विचारो को सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाए तो मनोरोग-चिकित्सा मे क्रान्ति आ जाए।" पिछले अध्याय की इस धारणा पर कि ये विचार "अपनाए जा रहे हैं" हम कर्म की कुछ उन उप-पत्तियों पर विचार करेंगे जिन पर हमारे गिरजा घर, और धर्म-विद्यामन्दिर औचित्य के साथ विचार कर सकते है और आशा के साथ जिनका अनुसरण भी कर सकते हैं।

I

पिछले लेख मे मैंने डा० बौइसन के 1926 के एक लेख, "हमारे धर्म-विद्यामन्दिरों को चुनौती" की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इस लेख मे उन्होंने धर्म-विद्यामन्दिरो के छात्रों से यह अनुरोध किया कि वे मानसिक अस्पताल मे कुछ दिन अन्तर्वास करें, जिससे कि वे एक नया "धार्मिक मनोविज्ञान" लोगो के लिए ला सकें और यह कि "चर्च फिर से अपने वास्तविक स्वरूप मे आ जाए और इस प्रकार से बात न करें जैसे कि धर्म-शास्त्री और पाखण्डी तथा

परम्पराओ का अर्थ लगाने वाले लोग करते है, वल्कि सनातन जीवन के नियमो के ज्ञान के अधिकार के साथ बात करें" (पृ०12)। और यह दिखाने के लिए कि इस अनुबोध का कितना पालन किया जा रहा है, धार्मिक शिक्षा के विकास पर अभिनव नीबुर-विलियमस-गस्टव्सन रिपोर्ट का उद्धरण दिया। लेकिन यह नवीन "नैदा-निक" प्रोग्राम उस मार्ग से विचलित हो चुका है जिसे प्रारम्भ मे डा० बोइसन ने सोचा था और इस पर फ्रायडीय तथा नव्य-फ्रायडीय गहरा रग चढ गया। हम यह समझ सकते है कि इससे हमारे धर्म-विद्यामन्दिरो मे एक बेचैनी पैदा हो गई है, जोकि अब तक अव्यक्त थी और अभी बाहर आने लगी है। उदाहरण के रूप मे इस उद्धृत रिपोर्ट मे इसके लेखक कहते है

> "कष्ट-ग्रस्त व्यक्तियो के बारे मे साक्षात् अनुभव ही वह सामग्री है जिस पर ईसाई आत्म-चिकित्सा की कुशलता निर्भर है। लेकिन इस बात के होते हुए भी कि यह क्षेत्र कितनी सरलता के साथ धार्मिक केन्द्रो के बाहर भी अग्रगामी हो सकता है, इन स्कूलो मे व्यक्तित्व के प्रति मनोवैज्ञानिक उपागम को चर्च और उसकी धार्मिक निष्ठा के निकट सम्पर्क मे रखने का दृढ सकल्प किया हुआ है। पाठ्यक्रम मे इस क्षेत्र के स्थान के बारे मे बहुत से स्कूलो मे काफी तनाव है (पृ० 122)।"
>
> "नैदानिक शिक्षण प्रोग्राम को स्कूलो की आवश्यकता विद्यार्थियो अथवा आर्थिक सहायता के लिए ही नही है अपितु एक रचनात्मक आलो-चना के स्रोत के रूप मे भी इनकी आवश्यकता है (पृ० 125)।"
>
> 'खतरा यह है कि कही (विद्यार्थी) हर बात का मनोवैज्ञानीकरण न करने लगें और धर्म की हर समस्या का हल मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा न करने लगें (पृ० 127)।"

II

मेरे विश्वास मे वर्तमान स्थिति बहुत गम्भीर है और यह ऐसी नही है जैसा डा० बोइसन ने प्रारम्भ मे इसके बारे मे सोचा था। नैदानिक अन्तर्वास तथा धर्म-विद्यामन्दिरो के अध्ययन काल मे विद्यार्थियो को इस मत की शिक्षा दी जाती रही है कि मनोरोग-चिकित्सा का धर्म से अपरोक्ष ही सम्बन्ध है। उन्हे इस मत की शिक्षा दी जाती रही है कि आधि और मनोविक्षिप्ति अत्यधिक "नैतिकता" के कारण पैदा होते है न कि कम नैतिकता के कारण और इस प्रकार के मामलो के साथ व्यवहार करते समय एक धर्माचार्य को अपनी सीमा सावधानी के साथ पहचाननी चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुभव का सम्पूर्ण प्रभाव अच्छा नहीं रहा।

सामान्य रूप मे विद्यार्थी जब धर्म-विद्यामन्दिर को लौटता है तो या तो धार्मिक परम्परा और मनोवैज्ञानिक तथा मनोविकार-विज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तो के विरोध के कारण सम्भ्रान्त होता है, और या यह भाव लेकर आता है कि मनोविकार-विज्ञान और मनोविज्ञान मे जो उद्धारक ("उपचारक") शक्ति है वह उससे कही अधिक है जो धर्मप्रदान करता है। इसका परिणाम यह है कि जब किसी धर्म-विद्यामन्दिर का आचार्य, जैसे एक प्रान्तीय आचार्य, किसी को परामर्श देने का कार्यभार सभालता है तो वह यह अनुभव करता है कि उसकी "मनोवैज्ञानिक विधिया" उसके धर्म-शास्त्र और ईसाई धर्म-निष्ठा से भिन्न हैं और यह कि वह अधिक से अधिक ऐसे व्यक्तियो के साथ ही निर्वर्तन कर सकता है जिनकी कठिनाइया अपेक्षाकृत सनही है। धर्मनिरपेक्ष चिकित्सा-व्यवसायो के लोगो तथा उसके अपने निरीक्षको के द्वारा उसे यह सलाह दी जाती है कि वह इस बात के महत्त्व को अच्छी प्रकार समझे कि उसने कब किस "केस को विशेषज्ञ के पास भेजना है।" दूसरे लोगो की तथा अपनी नजरो मे वह इस क्षेत्र मे एक द्वितीय श्रेणी अथवा तृतीय श्रेणी का प्रचालक है, और इस व्यापक स्थिति के सामने नीबुर, विलियम्स और गस्टफसन भी झुकते है, जब वे यह कहते है

> "हमे यहा एक और चेतावनी जोड देनी चाहिए कि विद्यार्थी को उन समस्याओ को भी समझना चाहिए जिनके लिए डाक्टर का ध्यान आवश्यक है और एक धर्माचार्य के रूप मे जिन्हे उसे छेडना नही चाहिए। उसका धर्म-विद्यामन्दिर तो मनुष्य की धार्मिक आवश्यकताओ के लिए है (पृ० 128)।"

क्या इस प्रोग्राम ने हमारे पादरियो को अधिकार के साथ बोलना सिखाया है, अथवा केवल लकीर के फकीर और पाखण्डी के रूप मे ही बात करना उनका लक्ष्य रहा है।[1]

III

हमारे बहुत से पादरियो के मन मे 'नैदानिक दृष्टि' कितनी रँग गई है यह एडर्सन की अभिनव पुस्तक (पहले लेख मे भी उल्लिखित), 'मानव होने का

---

1 इस क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक और चैकित्सिक प्रमुख की परिसीमा से बचने के प्रयास में कुछ लेखक धर्माचार्य-केन्द्रित धर्म-शास्त्र, न कि धर्माचार्य-केन्द्रित मनोविज्ञान अथवा धर्माचार्य-केन्द्रित मनोविकार विज्ञान की बातें करने लगे हैं, परन्तु यह संदेहास्पद है कि जहां सबल मनोवैज्ञानिक आधार पर बल देने की अधिक आवश्यकता है, वहां धर्म-शास्त्रीय आधार का इतना अधिक महत्त्व हो, यद्यपि यह अनुभव अवश्य किया जा रहा है कि इन दोनों में मान्य एवं स्पष्ट अभेद करना संभव नहीं है।

मनुष्य का अधिकार' (Man's Right to Be Human) जिसका दूसरा शीर्षक 'भय के बिना सवेगो को प्राप्त करना' (To Have Emotions Without Fear) है, मे विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। यहा पर यह प्रसिद्ध बात दोहराई गई है कि एक धर्माचार्य की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक, मनश्चिकित्सक, मनोविश्लेपक, सामाजिक कार्यकर्ता अथवा अन्य कोई और गम्भीर भावात्मक समस्याओ का निर्वतन करने के लिए अधिक प्रशिक्षित है। यदि सभी मनोरोग नैतिक असफलता से उत्पन्न होते है, जैसाकि ऐसा मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण है, तो यह सब कितना काल्पनिक है। लेकिन फिर भी अनेको धर्माचार्यों मे एक प्रकार की "प्रशिक्षित असमर्थता" और मानसिक रोगो की समस्याओ से जूझने की एक प्रशिक्षित आनाकानी है। वास्तव मे वे बडी कर्त्तव्य-परायणता के साथ, विशेपज्ञो की सम्मति लेते है, जैसाकि ऊपर उद्धृत पुस्तक के नीचे दिए हुए गद्याश से पता चलेगा

"यह स्पष्ट था कि जो (Joe) गम्भीर आधि से ग्रस्त था। जब जो चला गया, मैंने फोन उठाया और एक परिचित मनश्चिकित्सक को बुलाया और उसे सम्पूर्ण स्थिति समझाई। वह जो को दूसरे दिन देखने के लिए राज़ी हो गया । मैंने उसे (जो की बहन को, जिसके साथ जो रहता था) यह समझा दिया कि जो इतना पापी नही था जितना की वह बीमार था और यह कि उसे प्यार करने की, समझने की तथा चिकित्सा सम्बन्धी देखभाल की पहले की अपेक्षा अब अधिक आवश्यकता है। (पृ० 141)।"

"उस लडकी ने कहा, 'बहुत से पुरुप पशु होते है, मेरी पवित्रता के योग्य तो स्वर्ग मे रहने वाला मेरा भगवान ही है।' मैंने उसे दूसरे दिन फिर मिलने की सलाह दी, लेकिन इसी समय मैंने उसको व्यावसायिक परीक्षाए देने के लिए एक नैदानिक मनोवैज्ञानिक के पास भेजा । यह तो स्पष्ट था कि वह युवा स्त्री अपनी काम भावना के प्रति पाप के भाव मे पूर्ण एक तीव्र आधि से दु खी थी। मनोरोग-चिकित्सा को ध्यान मे रख कर उस लडकी को एक मनश्चिकित्सक के पास भेजा और उसने काम भावना को एक स्वस्थ रूप मे स्वीकार करने मे उसकी सहायता की (पृ० 172)।"

"एक व्यक्ति अपनी पत्नी की उसके प्रति बढती हुई उदासीनता के विषय मे मेरे पास आया—। दोनो मे अलग-अलग मिलने के बाद मुझे पता चला कि पत्नी पति की कामुक वृत्तियो से घृणा करती हुई भी उसके प्रति हार्दिक प्रेम रखती है। अत मैंने अन्य नैदानिक सहायता के

लिए उन्हे एक मनोविकार विशेषज्ञ के पास भेज दिया (पृ० 176)।"

धर्म-विद्यामन्दिरो मे आजकल जिसे "अच्छा प्रचलन" कहते है उसका यह एक नमूना है। और बहुत दिन नही हुए जब एक युवा पादरी ने जो हमारे वर्ग में तभी शामिल हुआ था मुझे बताया कि उसे धर्मविद्यामन्दिर मे यह समझाया गया था कि वह इनके बारे मे ही निश्चित होने की चेष्टा न करे कि "कब विशेषज्ञ के पास भेजना है" बल्कि इस बात का भी ध्यान रखे कि कही वह कोई ऐसी बात न कह बैठे जिससे किसी के मन मे "अपराधी होने का भाव" आए। उसे यह बताया गया कि लोगो मे पहले ही बहुत अपराध होता है और यदि तुम अपने भाषणों मे अपराध, पाप, और नैतिक उत्तरदायित्व की अधिक बात करोगे तो "आधि" के खतरे को ही और बढाओगे। मुझे आश्चर्य होता है कि इस युवक के प्रोफेसरो को टी० एस० ईलियट के नाटक "दि एल्डर स्टेट्समैन" (The Elder Statesman) की ये पंक्तिया ज्ञात होगी :

"तुम समझते हो कि मैं विकृत अन्त करण से दु खी हू,
जिन दोषों को भूल चुका हू उन पर चिन्ता करने के कारण दु खी हू।
तुम समझते हो कि मैं बीमार पड रहा हू, जब कि मैं ठीक हो रहा हू।"

IV

एक साधारण धर्म-शास्त्री धार्मिक कार्यकर्ता स्पष्टत यह समझ नही पाता और स्वीकार करने मे हिचकिचाता है कि धर्मशिक्षा-सम्बन्धी मनोविज्ञान के प्रशिक्षण काल मे उसे सिद्धान्त और व्यवहार के जिस तन्त्र की शिक्षा मिली है वह आजकल क्षीण अवस्था मे है और वह पतनोन्मुख है। जो लोग इन नई विकसित बातों को अन्दर से जानते है उनके दृष्टिकोण के अनुसार यह देखना दु खदायी लगता है कि पादरी लोग जिन बातो के प्रति नतमस्तक होते हैं वे वास्तव मे खोखली होती जा रही हैं। मनोविश्लेषण के जिस सिद्धान्त पर इतना मनोविकार-विज्ञान और नैदानिक मनोविज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आधारित है, उसकी अनुभवमूलक तथा तार्किक असगतियो को मैं एक दशक से अधिक समय से बताता आ रहा हू। और इस क्षेत्र मे पहले ही प्रकाशित अपनी पुस्तको तथा लेखो के अतिरिक्त बहुत सी प्रतिलिपियो तथा अनुलिपि-पत्रो की ओर पाठक का ध्यान आमन्त्रित करना चाहता हू। ये प्रतिलिपिया और अनुलिपि-पत्र निवेदन करने पर भेजे जा सकते है (जो अब इस पुस्तक के अध्यायो के रूप मे सगृहीत हैं)।

लेकिन मनोविश्लेषण से सम्बन्धित इन भ्रान्तियो तथा स्वय धर्म की

अन्तर्दृष्टि और महान् परम्पराओ की अप्रताडित सम्भानाओ के भाव को अपनाने वाला मैं अकेला ही नही हू, जिसका पिछले लेख मे सकेत किया जा चुका है। और जिस व्यवसाय के प्रति धर्म-शास्त्रियो की इतनी श्रद्धा है उसकी असफलता के और भी प्रमाण यहा प्रस्तुत करना चाहता हू। हाल ही मे, मैं ज्ञानवृद्धो के प्रशासन के एक निरीक्षक मनोवैज्ञानिक से बात कर रहा था। उसने प्रचलित मनोरोग-चिकित्सा पद्धतियो के प्रति गम्भीर निराशाए व्यक्त की, और मानसिक अस्पतालो को "रुग्ण सस्थाए" बताया और डा० एच० सी० सोलोमन को 1958 मे अमरीकन मनश्चिकित्सक सघ के अपने अध्यक्षीय भाषण मे यह कहना पडा

"बडे-बडे मानसिक अस्पताल पुराने, विगत रूप, हो गए है और वे बडी तेजी के साथ निरर्थक होते जा रहे है। हम उन्हे बना तो अब भी सकते है लेकिन हम उनमें स्टाफ नहीं भर सकते, और इसीलिए उन्हे सच्चे अस्पताल नही बना सकते । मेरी समझ मे यह नही आता कि मानसिक अस्पतालो के बारे मे वस्तु-परक दृष्टिकोण रखने वाला कोई भी व्यक्ति यह निष्कर्ष निकालने मे कैसे अफसल हो सकता है कि अब उनका दिवाला निकल चुका है और अब उनका कोई इलाज नही है। इसलिए मेरा यह विश्वास है कि इन्हे एक व्यवस्थित और उन्नतिशील ढग से जितनी जल्दी खत्म किया जा सके उतना ही अच्छा है (पृ० 7)।"

"यदि मेरा वर्णन ठीक है और मेरे लगाए हुए आक्षेप भी एक उचित सीमा तक ठीक हैं तो दीर्घकालीन रोग की 'देखभाल और सरक्षण' पर एक नया अभियान छेडने का प्रयास करना चाहिए। भले ही यह हमें अग्राह्य प्रतीत हो, लेकिन हमे इस तथ्य का सामना करना ही चाहिए कि अस्पताल की दीर्घकालिक रोगी जनता की एक बडी सख्या की कोई निश्चित चिकित्सा करने की दिशा मे कुछ नही कर रहे हैं। और यह बात भी नही है कि हम उन्हे उच्चकोटि का वातावरण प्रदान कर रहे हो, प्रेमपूर्ण सुश्रूषा की तो बात ही दूर है। इसलिए मैं तो यह सुझाव देता हू कि हम इस समस्या को एक नई दृष्टि से देखें (पृ० 8)।"

कुछ प्रामणिक लेकिन विस्तार-रहित अवलोकन डा० सोलोमन का है

"मनोरोग-विज्ञान मे विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले हमारे युवा डाक्टर बडे-बडे अस्पतालो की ओर नही बढ रहे हैं और न ही किसी अन्य वर्ग के व्यक्ति इधर मुह उठाते है। हमारे अस्पतालो मे अधिक से अधिक

जो हो सकता है वह यह है कि प्रत्येक रोगी का प्रतिवर्ष शारीरिक परीक्षण होता है और उस पर एक मानसिक टिप्पणी लिख दी जाती है। और यह काम भी पूरा करने के लिए पर्याप्त स्टाफ नही होता (पृ० 7)।"

सरकारी आर्थिक सहायता और छात्र-वृत्तियो के बावजूद, जो स्त्री-पुरुष आजकल मनोविकार-विज्ञान मे प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं वे एक विशेष कारण से राजकीय और वी० ए० मानसिक अस्पतालो मे नही जा रहे है। यह बात नही है कि इसकी अधिक आवश्यकता नही है, वे निजी व्यवसाय मे अधिक धन कमा सकते है। इसमे सदेह नही है कि कुछ आदर्शवादी मनोविकार-वैज्ञानिक और नैदानिक मनोवैज्ञानिक भी है। लेकिन स्पष्ट तथ्य यह है कि व्यावसायिक मनोरोग-चिकित्सा अधिकतर एक व्यापार है, और यदि ऐसी बात है कि रोगी गुप्त रूप से जो खरीदना चाहता है (और मनोरोग-चिकित्सक जिसे चुपचाप बेचने का वायदा करता है) वह घटिया किस्म की क्षमा और उद्धार है (अध्याय 10), तो "चिकित्सा" का सौदा एक अनिश्चित व्यापार है—जैसाकि कैटी ली ("श्रिकर मैन" मे) इन पक्तियो को गाते समय गुप्त रूप से प्रकट करती है

"मैं एक जटिल यात्रा पर जा चुकी हू,
अपनी समस्याओ को तुम्हारी समस्या बनाना चाहती हू।
ऐ श्रिकरमैन, मुझे दो-टूक स्वास्थ्य अपेक्षित है।"

क्या वह उद्यम जो रोगी मन और आत्माओ के उद्धार के अपने प्रयासो को इस प्रकार डालर और सैंट्स मे मापता है अनिश्चित काल तक हमारा सम्मान और विश्वास प्राप्त करता रह सकता है ?

V

यदि हमने कठिनाई का निदान ठीक-ठीक कर लिया है तो अब इसके लिए करना क्या चाहिए ? समग्र और अन्तिम दृष्टि से तो यही कहा जायेगा कि मै कुछ नही जानता। इस सम्पूर्ण परिस्थिति मे साहस, सामाजिक आविष्कार की कल्पना-शक्ति और सूझ की आवश्यकता है जो वास्तव मे मुझ मे नही है। लेकिन मैं दो सुझाव दे सकता हू।

मेरे विचार मे हमे अब यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रोटैस्टेंट मत ने अपराध की समस्या के साथ बुरी तरह वर्तन किया है और वर्तमान सकटाकुल परिस्थिति इस समस्या पर चार सदियो की अव्यवस्था, अनिर्णय और सम्भ्रम की स्वाभाविक परिणति है। इसलिए, इस सकट को दूर करने के लिए पहला कदम तो मेरे विचार के अनुसार यह है, जैसा कि हैरी इमर्सन फास्डिक ने 1927

मे (कुछ विरोधपूर्ण ढग से) कहा था, कि हमारे गिरजा घरो को पाप-स्वीकृति की प्रथा को फिर से अपनाना चाहिए। हमने अपराध और पाप के प्रत्ययो का उल्लघन और उपेक्षा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन यह सफल नही होगा। पाप और मुक्ति (पुनरुद्धार) की सुवार्त्ता बन्धन की बात नही है बल्कि मुक्ति, आशा और साहस की है, और मेरा तो विश्वास यह है कि हमे गम्भीरतापूर्वक इसकी ओर फिर से प्रवृत्त होना चाहिए।

धर्माचार्य-परामर्श जिस रूप मे आजकल व्यवहृत होता है वह निश्चित ही "पाप-स्वीकृति" का रूप है, लेकिन इसमे दो बडे दोष है (1) यह प्रासगिक, ऐच्छिक और प्राय विलम्बित होता है और इसलिए इसमे वह निरोधक गुण नही होता जो नियमित, विध्यनुरूप "पाप-स्वीकृति" मे होता है, और (2) आजकल "परामर्श" धर्म-निरपेक्ष मनोरोग-चिकित्सा के अनुरूप होता है जो "स्वीकृति" और "अन्तर्दृष्टि" पर तो बल देता है लेकिन पाप को गम्भीरतापूर्वक नही लेता। लोग केवल पापपूर्ण बातचीत ही नही करते, बल्कि पाप-कर्म भी करते हैं। और इसी के अनुरूप, मैं यह स्वीकार नही करता कि कोई केवल बातचीत करके ही अपने पापो से मुक्त हो सकता है। इस सम्बन्ध मे आचरण भी होना चाहिए, और इस आचरण मे उन्मुक्त ढग की स्वीकृति ही नही होनी चाहिए, बल्कि उसमे "प्रायश्चित्त" का भाव भी शामिल होना चाहिए। उद्धार के गम्भीर प्रोग्राम के बिना पाप-स्वीकृति खतरनाक हो सकती है, क्योकि इससे व्यक्ति के मन मे अपराध और आत्म-ग्लानि से घबराहट हो सकती है। लेकिन यदि हम मनुष्य की सच्ची दशा समझ सकें तो इन स्पष्ट बाधाओ को लाघने के रास्ते मिल जाएगे (देखो बाद के अध्याय)।

VI

मेरा दूसरा सुझाव हमारे गिरजा घरो के "मिशनरी" व्यापार पर बल देने के बारे मे सम्भव परिवर्तन और राजकीय मानसिक अस्पतालो मे स्टाफ रखने की समस्या के सम्बन्ध मे है, जिसकी ओर पहले भी सकेत किया जा चुका है।

आजकल कानूनी और सामाजिक परिस्थिति जैसी है, उसे देख कर भावात्मक विक्षोभ से पीडित व्यक्तियो के लिए इन बाधाओ को पार करने मे पादरियो की घबराहट उचित ही है। कभी-कभी एक व्यक्ति को अपने सुधार और स्वास्थ्य-लाभ के मार्ग मे (ऊपर बताए कारणो से) मनो-विक्षिप्ति के मध्य से गुजरना अपरिहार्य हो जाता है। ऐसे रोगियो को अपनी चिकित्सा मे लेना जिन्हे अन्त मे मानसिक अस्पतालो मे भर्ती कराना पडे, मनश्चिकित्सको के लिए कोई असाधारण बात नही है। लेकिन यदि एक व्यक्ति धार्मिक परामर्शदाता से परामर्श ले रहा है और उन्मादी बन जाता है तो तत्काल ही परामर्शदाता असुरक्षित हो जाता है। उसने उस व्यक्ति की दशा और भी विगाड दी, उसे चाहिए था कि

वह रोगी को विशेषज्ञ के पास भेजता, आदि आदि।

इस असह्य स्थिति का समाधान प्राप्त करने के प्रयत्न में कुछ वर्ग स्वयं मानसिक अस्पतालों के बारे में प्रयोग कर रहे हैं। राजकीय सहायता के बिना इनका कार्यान्वित होना वास्तव में ही बहुत खर्चीला है, और जो प्रतिवेदन मुझे अभी प्राप्त हुए हैं उनसे यह संकेत मिलता है कि ये संस्थाएं भी इस तथ्य पर अधिक गर्व करती हैं कि जो भी कुछ हुआ है वह धार्मिक उपदेश, तथा निष्ठा से उत्पन्न किसी अन्तर्दृष्टि से नहीं हुआ बल्कि—"सम्मत मनोविकार-विज्ञान के अनुसार" हुआ है।

विकल्प के रूप में, मैं यह चाहूंगा कि हमारे गिरजा घर एक महान् मिशनरी प्रयत्न के उद्देश्य से मानसिक अस्पतालों को अपनाएं। क्या यह मूढ़ापन नहीं कि हम विदेशों में अज्ञान की अवस्था से इतने चिन्तित हैं जबकि हमारे "पागल-खानों" का आकार और दशा हमारे अपने राष्ट्र के अन्तःकरण पर बोझ के ढेर का रूप लिए हुए हैं। मैं एक ऐसे मानसिक अस्पताल को जानता हूं जिसमें रोगियों की संख्या 4500 है और अमले में एक भी प्रशिक्षित मनश्चिकित्सक नहीं है। वहां जो डाक्टर हैं वे आप्रवासी हैं अथवा किसी अन्य कारण से आप डाक्टरी व्यवसाय के लिए राज्य से लाइसेंस प्राप्त करने में प्रायः असफल रहे हैं, और इस "नगर" के लिए जहां धार्मिक और आध्यात्मिक आवश्यकता इतनी ही बड़ी अन्य साधारण बस्ती की अपेक्षा अधिक है वहां केवल एक प्रोटेस्टेंट पादरी (चैपलिन) और एक कैथालिक पादरी (प्रीस्ट) है।

इसलिए हमारे गिरजा घरों को उन व्यक्तियों के साथ, जो धरातल तक पहुंच चुके हैं, जो सुरक्षित वातावरण में हैं जहां ऊपर जाने की ही एकमात्र दिशा है, रेखा के दूसरे सिरे से क्यों न प्रारम्भ करने दिया जाए? यहां एक धार्मिक कार्यकर्ता को व्यक्ति के पतन की अपेक्षा उत्थान के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है। और उस कृतज्ञता, भक्तिभाव और उत्साह की कल्पना करें जो उन लोगों में पैदा होगा जो यह अनुभव करेंगे कि मानसिक रोग के नरक में गिरने से उन्हें धार्मिक अन्तर्दृष्टि और आचरण ने बचाया है।

अन्यत्र (अध्याय 2) मैंने, बौइसन के साथ, यह तर्क दिया है कि आधि और मनोविक्षिप्ति से ग्रस्त व्यक्ति नैतिक और आध्यात्मिक संकट में है, और यह कि अन्य किसी परिस्थिति में ईश्वर का अनुभव इतना स्पष्ट सत्य नहीं मालूम देता। (और भी देखो फ्रैड्रिक वैस्ट की पुस्तक, लाइट बियोंड शैडो) लेकिन आम अवलोकन यह है कि मानसिक "रोग" वास्तव में एक रोग है और इसका ईश्वर अथवा शैतान से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या यह उन्नति है अथवा सदा की एक आम भ्रान्ति है? क्या यह बात नहीं है कि हम ईश्वर की सत्ता में संदेह इसलिए करने लगे हैं कि हमें यह मालूम नहीं है कि हम उसे कहां ढूंढें और उसके मूर्त

प्रकट रूप को कैसे पहचाने ?[2] यदि मानसिक रोग की समस्या को अपने वश मे करने के लिए हमारे गिरजा घर आज कटिबद्ध प्रयत्न करें तो वे मानवीय सेवा का एक महान् कार्य ही नही करेगे बल्कि वे, मैं भविष्यवाणी करता हू, एक नई और जीवन-दायिनी शक्ति खोज लेगे, जो धार्मिक अनुष्ठान और कर्मकाण्डो की बाहरी सतह पर सदा तिरोहित रहती है। मेरे एक मित्र ने, जो एक मनश्चिकित्सक के साथ-साथ सक्रिय धार्मिक भी है, अभी यह कहा, "जब तक तुम दानवो का सामना नही करते हो, तुम कभी भी देवताओ को नही सुन सकते।"

---

2 तुलना कीजिए, राबिंसन (1928)

8

मनोरोगचिकित्सा और अपराध, पाप-स्वीकृति और पाप-निष्कृति की समस्या*

यदि इन सम्पूर्ण पुस्तक का केन्द्रीभूत कोई अध्याय हो सकता है तो वह यही है। यहा हम अनुभव के आधार पर इस प्रश्न की पकड करते है, क्या मनोरोग-चिकित्सा मे वास्तविक अपराध शामिल होता है अथवा काल्पनिक अपराध? यदि मनस्ताप से पीडित व्यक्ति का अपराध वास्तविक नहीं है तो हमारा सब तर्क छिन्नभिन्न हो जाता है। यदि ऐसा है तो विचारधारा और सस्थाओ के परिवर्तन की लम्बी और जटिल कड़ी की आवश्यकता का हमारे ऊपर भारी बोझ हो जाता है।

कुछ पाठक इस अध्याय को समाप्त करने के बाद, "वास्तविक" अपराध, पाप, अथवा बुराई, की लाक्षणिक परिभाषा देने के प्रयास के अभाव से असन्तुष्ट हो सकते हैं। क्रमानुसार इस समस्या पर भी ध्यान दिया जाएगा। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय महत्त्व की बात तो अपरिपक्व प्रदत्त-सामग्री का अनुभव प्राप्त करना है। उपयोगितामूलक और तथ्यमूलक प्रबल सवेदन के बिना परिभाषा देना कठिन है और निष्फल भी है।

यहा जो वृत्तमूलक सामग्री और नैदानिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं वे विश्व-व्यापी अथवा निरपेक्ष सिद्धान्त के निश्चित प्रमाण नहीं हैं, ये केवल एक संभावना के द्योतक हैं। व्यक्तित्व के विकारो मे वास्तविक अपराध कारण होता है इस बात को स्वीकार करने की ओर पहले ही कुछ सुझाव हैं। वर्तमान लेखक इस प्रश्न का उत्तर नई खोज और अनुभव के प्राप्त होने तक खुला छोड़ना चाहता है। लेकिन यदि वास्तविक अपराध (मिथ्या नहीं) व्यक्तित्व के विक्षोभ के आधे अथवा तिहाई उदाहरणों मे कारण है, तब भी यह एक बहुत बड़ी

---

* बर्कले, कैलिफार्निया में फरवरी 23 से 25 तक धर्म के प्रशान्तीय स्कूल द्वारा आयोजित 1960 के धर्माचार्य-सम्मेलन में ई० टी० अर्ल भाषणों की प्रथम कड़ी के रूप में पढे जाने के अलावा यह पत्र 'तन्त्रिका विज्ञान तथा मनोविकार विज्ञान की सन्त लुई सोसाइटी' में अप्रैल 1, 1958 में पढा गया तथा पिट्स बर्ग विश्वविद्यालय द्वारा 'मनोविज्ञान की नवीन प्रवृत्तियाँ' पर आयोजित एक परिसंवाद (मार्च 12—13,1959) में पढा गया। पिट्स बर्ग विश्वविद्यालय प्रैस से 1960 में यह पत्र 'मनोविज्ञान में नवीन प्रवृत्तिया' में प्रकाशित हुआ।

व्यावहारिक समस्या है, जिस पर गिरजा घर अथवा धर्मनिरपेक्ष व्यवसाय इस समय ठीक ढग से विचार नहीं कर रहे। और यदि यह बात प्रमाणित हो जाती है कि सभी मनोरोगो का कारण वास्तविक अपराध (भले ही वह प्रच्छन्न अथवा स्थानान्तरित हो) होता है तो परिस्थिति आशाओ को और भी खण्डित करने और चुनौती देने वाली है।

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य और अशिक्षित जनता मे समान रूप से यह मत प्रचलित रहा है कि मनुष्य, मन, आत्मा और शरीर का रोगी भी ऐसे वास्तविक अपराध के कारण होता है जिसे स्वीकार नही किया गया होता और जिसका प्रायश्चित्त भी नही किया होता—अथवा, सरल शब्दो मे जिसे पुराने जमाने मे "कलक" अथवा "पाप" कहा जाता था। मगर, कुछ जटिल ऐतिहासिक कारणो से जिनका मन्थन अन्यथा किया गया है (देखो अध्याय 9 और 11), यह मत, इस युग मे, अप्रतिष्ठा की अवस्था को प्राप्त हो गया है। आन्तरिक द्वन्द्वो और विज्ञान के विवेकशून्य विरोध के कारण कमजोर हुई धर्म-सभा (चर्च) ने रोगी आत्माओ के क्षेत्र मे अपनी सामर्थ्य रखने के परम्परागत अधिकार को भी तिलाजलि दे दी और बिना विरोध प्रकट किए 19वी सदी के मनोविकार-विज्ञान द्वारा सम्मत शारीरिक और जीव-रासायनिक तत्त्वो पर बल देने की बात को स्वीकार कर लिया।

इसलिए इस अद्भुत पृष्ठभूमि मे मनोविश्लेषण का जन्म और विकास हुआ। जैसाकि फ्रायड ने अपनी आत्मजीवनी (1935) मे लिखा है कि गत शताब्दी के अन्त मे यूरोप के नगरो मे रुग्ण-तन्त्रिक लोगो की भीड थी और ज्यो ज्यो वे एक डाक्टर से दूसरे पर बिना किसी लाभ के भागे, उनकी सख्या और भी बढती गई (पृ० 27)। धर्म-सभा ने इनकी पुकार सुनी-अनसुनी कर दी और व्यक्तित्व के विकार को शरीर का दोष समझ कर जो डाक्टरी अथवा मनश्चिकित्सा की गई वह निष्फल रही। इस स्थिति मे साहस की आवश्यकता थी जो फ्रायड ने व्यक्तित्व के विक्षोभ के प्रति आम डाक्टरी पूर्वाग्रहो और परम्परागत नैतिक दृष्टिकोण मे बडी चतुराई से मेल करा कर प्रदान किया। उसने यह परिकल्पना की थी कि आधि का एक कारण अपराध है लेकिन यह मिथ्या, अवास्तविक और पगु करने वाला अपराध है, जो व्यक्ति के अतिकठोर और दमनशील समाजीकरण का परिणाम होने के कारण उसकी कुछ प्राकृतिक शक्तियो, विशेष तौर पर कामप्रवृत्ति और आक्रमण की प्रवृत्ति की शक्ति के स्वाभाविक प्रवाह मे बाध लगा देता है। इस प्रकार मनोविश्लेपक चिकित्सक अतिकठोर और तर्करहित नैतिक व्यवस्था और समाज के विरोध मे व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओ के महत्त्व का गीत गा कर रुग्णतन्त्रिक व्यक्तियो की

(देखो अध्याय 18—22) कि आधि मे "मूलप्रवृत्ति" का दमन न होकर व्यक्ति के अन्त करण की अवहेलना और "दमन" होता है, इस प्रकार आधि के फ्रायड के प्रवृत्ति-सिद्धान्त के स्थान मे अपराध-सिद्धान्त पर बल दिया था। वास्तव मे, जैसाकि अब स्पष्ट है, इस स्थिति का पूर्वाभास रुनेस्टम (1932), बोइसन (1936), और स्टेकल (1938) की कृतियो मे मिलता है। मगर दमन का सिद्धान्त, जिस पर यह मतभेद निर्भर है, बहुत सूक्ष्म है और इसका आसानी से वस्तुपरक विधि से सत्यापन नही हो सकता, इसलिए यह विवाद का विषय बना हुआ है (देखो अध्याय 2)।

लेकिन इस समस्या को प्रकट करने का एक और ढग है जिससे यह समस्या तत्काल अन्वेषणीय बन जाती है। फ्रायड और उसके अनुयायियो के अनुसार, रुग्णतन्त्रिक कष्टग्रस्त इसलिए नही होता कि उसने कोई अपराध किया है, बल्कि इसलिए कि वह जिन बातो को करना चाहता है, उनके करने मे वास्तविक आधार के बिना ही भयभीत हो जाता है। इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त यह है कि आधि (और क्रियागत मनोविक्षिप्ति) मे व्यक्ति यथार्थ मे बुरे कर्म कर चुका होता है जो अस्वीकृत और अशोधित रहे हैं और इस प्रकार उसकी चिन्ताओ का वास्तविक सामाजिक आधार और औचित्य है।

ऐसा मानने पर, दोनो स्थितियो के भेद का अध्ययन अनुभव के आधार पर कुछ सुनिश्चितता के साथ हो सकता है। फ्रायड के मत के अनुसार रुग्णतन्त्रिक का इतिहास सन्तो के समान रहा होना चाहिए, जबकि दूसरे सिद्धान्त के अनुसार उसका जीवन-वृत्त वास्तविक और निर्विवाद रूप मे (भले ही प्रयत्न-पूर्वक छुपा कर रखा हो) दुराचरण और विप्रतीपता का होना चाहिए। इस समस्या का इसके महत्त्व के अनुरूप स्तर पर हर दृष्टि से क्रमबद्ध अनुसन्धान करना चाहिए। लेकिन मैं यह स्वीकार करता हू कि जहा तक मेरी बात है मैं तो पहले से ही इसके भावी परिणामो के बारे मे निश्चित हू और इस समस्या के सम्बन्ध मे व्यापक रूप से उपलब्ध तथा मुझे प्रत्यायक लगने वाले प्रमाणो मे से केवल कुछ यहा उद्धृत करता हू।

1956 की ग्रीष्म ऋतु मे मेरे पास एक पाण्डुलिपि आई जो अब 'अप-सामान्य और सामाजिक मनोविज्ञान की पत्रिका' (1958, लेखक अनिर्दिष्ट) मे प्रकाशित हो चुकी है। इसके लिए मैंने नीचे दी हुई छोटी सी भूमिका लिखी। उस पत्र का शीर्षक "अन्तरावन्ध (Schizophrenia) का एक नया सिद्धान्त" होना चाहिए।

"यह अद्भुत पत्र लगभग दो वर्ष पहले किसी 34- वर्षीय मनुष्य के द्वारा लिखा गया था। यह व्यक्ति हमारे एक बडे वी० ए० अस्पताल के

एक बन्द वार्ड मे रहता था और इसके रोग का निदान 'सविभ्रमवत् अन्तरावन्ध' किया गया था। इस पाण्डुलिपि के (अपने एक पुराने विद्यार्थी से) प्राप्त होने के तुरन्त बाद मैंने इसकी बहुत सी प्रतिलिपिया तैयार कराईं और अपने अन्तर्वास के दिनो मे अवसर के अनुसार बहुत से नैदानिक मनोवैज्ञानिको, मनश्चिकित्सको और धर्म-शास्त्रियो की प्रतिक्रियाए इकट्ठी की। इसका मूल्याकन दो तरह का था कुछ ने कहा कि यह पत्र अपने अभिप्राय के ठीक अनुरूप है, अर्थात् यह अन्तरावन्ध का एक मौलिक और तर्कसम्मत सिद्धान्त है—जब कि दूसरो ने दृढतापूर्वक यह कहा कि यह स्वय रोग का एक प्रतिष्ठित प्रकाशन है।

इसके लेखक का जो अब अस्पताल मे नही है, वर्तमान निर्णय यह है कि उसका पत्र जैसा है वैसा अपनी सीमा तक ठीक है लेकिन कई रूपो मे इसे विस्तृत और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यह आशा की जाती है कि इस सम्बन्ध मे उसके विचार बाद मे पृथक् रूप से प्रकाशित किए जा सकते हैं। इस समय पाठक अपना मत बनाने मे स्वतन्त्र हैं चाहे वे यह समझे कि जो कृति यहा प्रस्तुत है वह मूल रूप मे अन्तरावन्ध का ठीक सिद्धान्त है यद्यपि यह अपूर्ण हो सकता है और चाहे वह केवल 'घटनाधारित सदर्श' है।

यहा केवल इतना और जोड देना चाहिए कि इस निबन्ध के लेखक का इतिहास कुमार्ग और वासना का रहा है (इसीलिए नाम अनिर्दिष्ट है) जो इसके मूल-सिद्धान्त को सरलतापूर्वक पुष्ट कर सकता है। वह अपने इस लेख को सावधानी के साथ किए हुए चिन्तन का परिणाम न मान कर अपनी अचेतन प्रक्रियाओ का प्रकाशन समझता है। वह कहता है कि यह उस समय लिखा गया था, 'जब मैं सकेतो और रगो का अनुसरण कर रहा था और इसका कुछ भाग स्वत ही लिखा गया था'। पत्र के अन्त मे लेखक अपने विषय मे और भी जानकारी देता है।"

इस पत्र की रूपरेखा प्रारम्भ करने से पहले वह जानकारी जो लेखक इस पत्र को लिखने की अपनी "योग्यता" के विषय मे देता है देना आवश्यक होगा। वह उन्हे इस प्रकार सूचीबद्ध करता है

"लगभग चार वर्ष की मनश्चिकित्सा।

लगभग दो वर्ष मानसिक अस्पतालो मे रहना।

मेरी मा का अवलोकन, जो अब चौथी बार अस्पताल मे भर्ती हुई है।

बारह से पन्द्रह वर्ष तक का आत्म-विश्लेषण।

बी० ए० की डिग्री और एक वर्ष तक दर्शनशास्त्र गौण विषय के रूप मे लेने के साथ मनोविज्ञान मे ग्रेजुएट स्तर का अध्ययन१

मनोविज्ञान की ग्रेजुएट रेकार्ड परीक्षा मे 99वां प्रतिशतक।

ज्ञानभण्डार को अपनी कुछ देन देने की, विशेष तौर पर मानसिक रोग की समस्या का समाधान करने की जीवन भर की एक अभिलाषा।"

लेकिन अब स्वय निबन्ध की बात करें। प्रारम्भ मे ही लेखक जिसे हम टिम विल्किस नाम से जानेगे कहता है

"मैं यह प्रस्तुत करता हू कि अन्तराबन्धी प्रतिक्रियाओ की प्रेरक शक्ति भय उसी प्रकार है जिस प्रकार फ्रायड के अनुसार रुग्ण-तन्त्रिक भय से प्रेरित है, लेकिन इतना भेद है अन्तराबन्ध के दीर्घकालिक भय को उसकी अति तीव्रता के कारण सत्रास अथवा गुप्त त्रास कहना अधिक उचित है, दूसरे, इसमे भय चेतना के स्तर पर होता है जैसा कि आधि मे नही होता, तीसरे, दूसरे व्यक्तियो से भय को छुपाया होता है और इसे गुप्त रखने का कारण भय ही होता है। आधि मे भविष्यत् से सम्बन्ध रखने वाली काम-सम्बन्धी अथवा विरोध-मूलक प्रवृत्तियो की रक्षा की जाती है। अन्तराबन्ध मे मेरे मत के अनुसार, किसी अपराधमय कर्म का जिसका सम्बन्ध भूतकाल से होता है अन्य व्यक्तियो के द्वारा पता लग जाने पर उसकी रक्षा की जाती है (पृ० २—३)।"

इस लेख की प्रामाणिकता को स्वीकार करने का मेरे लिए एक कारण यह है कि इसका लेखक आधि के बारे मे फ्रायड के सिद्धान्त को नि शक हो स्वीकार करता है, लेकिन अन्तराबन्ध के बारे मे अपने बिल्कुल भिन्न ही आगमनो का कथन करता है। 1946 या '47 तक जब विल्किस का शैक्षणिक मनोविज्ञान से सम्पर्क था, आधि के सम्बन्ध मे फ्रायड का सिद्धान्त अत्यधिक प्रचलन मे था, और 1956 मे लिखते समय विल्किस को शायद यह पता नही था कि कितने क्षेत्रो मे उस सिद्धान्त का स्थान उसके अपने सिद्धान्त के समान ही एक अन्य सिद्धान्त ने ले लिया है। यह तथ्य कि जहा तक आधि का सम्बन्ध है, विल्किस को इन नई विकसित बातो का पता नही था, इसीलिए अन्तराबन्धी मनोविक्षिप्ति के सम्बन्ध मे उसके सिद्धान्त को एक विशेष उपयुक्तता और स्वतन्त्रता प्रदान करता है—और शायद, सुविख्यात फ्रायड के सिद्धान्त की कमजोरी की ओर एक और सकेत प्रस्तुत करता है।

लेकिन, और स्पष्ट रूप मे, विल्किस का अन्तराबन्ध का सिद्धान्त क्या है ? जहा तक सम्भव हो सकता है इसे विल्किस के शब्दो मे ही प्रस्तुत किया जाएगा।

"मेरी परिकल्पना को (विल्किस कहता है) उपन्यास गत अपराध के सुपरिचित मानवीय जासूस कुत्ते के मान मे डिक ट्रेसी सिद्धान्त (Dick Tracy theory) कहा जा सकता है।

प्रारम्भ मे ही भय से प्रेरित होने के कारण अन्तराबन्धी मनोविक्षिप्ति (शिज़ोफ्रेनिक साइकोसिस) निष्कपटता से विच्छेद के साथ उत्पन्न होती है, "वास्तविकता से विच्छेद", के साथ नही, जैसा कि सुविख्यात परम्परा के अनुसार माना गया है। रोगी की सामाजिक प्रवृत्ति की (मेरे विश्वास के अनुसार, पादरियो की मूलप्रवृत्ति), जिसमे दूसरे व्यक्तियो और समाज के प्रति प्रेम और सम्मान की प्रवृत्ति शामिल है, जान-बूझ कर अवहेलना होती है और अन्त मे समय के बीतने के साथ साथ इसका दमन कर दिया जाता है, क्योकि सामाजिकता की पूर्ण सतुष्टि मे थोडा-बहुत दूसरो के प्रति ईमानदारी, निष्ठा और निकटता का भी अनुगमन होता है। और, सवेगात्मक महत्त्व की सूचना को दबाने से अन्तर्वैयक्तिक निकटता के सम्बन्ध मे जो तनाव पैदा होता है उससे असह्य पीडा होती है। सामाजिकता का इस प्रकार दमन अन्तराबन्धी की सुज्ञात 'विमुखता' की व्याख्या करता है। और यदि अधिक कष्ट के बिना झूठी 'शपथ' से ही सुरक्षा मिल सकती है तो और रक्षात्मक युक्ति नही अपनाई जाती। झूठी शपथ का यहा अर्थ पूर्ण सत्य और केवल मात्र सत्य को बताने से कतराना है। यदि, बहुत से सम्भव कारणो से, झूठी शपथ पर सुरक्षा का उचित और सुखद भरोसा नही होता, जैसाकि प्राय नही ही होता, तो धीरे-धीरे सामाजिक सम्पर्कों का तोडना भी शुरू हो जाता है—यह सब सम्भाव्य दण्ड से बचने के रूप मे सुरक्षा की दृष्टि से होता है। इस प्रकार सामाजिक भूख अथवा प्रवृत्ति की उपेक्षा और उस का दमन अन्तराबन्ध का केन्द्रीभूत कारण है। मेरा यह विश्वास है कि काम-प्रवृत्ति अथवा विद्वेष की प्रवृत्ति का दमन अन्तराबन्ध के लिए प्रधान कारण नही है, तथापि जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा, यह गौण कारण हो सकता है ।

अन्तराबन्ध झूठ की आदत डालना है। झूठी बात को सत्य 'सिद्ध किया जाता है'। वास्तविक सत्य यह है कि अन्तराबन्धी गम्भीर स्थिति मे दुष्कर्म करने के लिए उत्तरदायी होता है ।

मेरे विचार मे अन्तराबन्धी के आत्म-सम्मान को ठेस पहुचने का एक प्रमुख कारण उसका अपनी ही पापमय कपटता पर मनन करना है—जो ठेस एक प्रकार से रोग का कारण इतना नही है जितना कि कार्य। अपने अनैतिक सरक्षण सयन्त्रो के कारण दूसरो की नजरो मे गिरने का भय और गम्भीर लज्जा उसके मन मे पैदा होती है। इसके अतिरिक्त वे मूलकर्म—जिनका प्रकट रूप और दण्ड रोग से छिप जाता है—लज्जाजनक होते हैं ।

अधिक सामान्य शब्दो मे यह कह सकते हैं कि अन्य सभी मानसिक रोगो के समान अन्तरावन्ध मे मनुष्यो, अर्ध-देवताओ और देवताओ से प्राप्त होने वाले दण्ड का भय शामिल होता है। जिन-जिन दण्डो से भय होता है वे अपने परिवार के प्यार से बिछुडना, सामाजिक सम्मान की समाप्ति, तथा आर्थिक सुरक्षा की हानि आदि हैं, और अन्तरावन्ध के सम्बन्ध मे विशेप तौर पर घृणित दण्ड के रूप मे है अपने बन्धुओ से तिरस्कृत होना, शारीरिक विघटन, कारावास आदि।

वैयक्तिक सुरक्षा के लिए सामाजिक बन्धनो और सद्भाव का त्याग एक कठोर सरल तथ्य है, जैसाकि विकृति की अवस्था मे होता है, लेकिन प्राय इसके साथ ध्वनि, सामाजिक व्यवहार अर्थात् रुचियो, स्थायी भावो, विचारो की जान-बूझ कर भ्रान्ति मे डालने वाली अभिव्यक्ति, जान-बूझ कर अमित्रतापूर्ण 'मित्रता', केवल ऐसे प्रश्न पूछना जिनका उत्तर पहले से ही मालूम है, सावधानी के साथ आत्म-आलोचित, तथा स्व-अभ्यस्त प्रवचनो तक अपने आचरण को सीमित रखना आदि का विकास जुडा रहता है। रोगी, अन्त मे अपनी रक्षा के लिए, अपने साथियो के विरुद्ध अघोपित, निश्चेष्ट और निरोधक "युद्ध" छेड चुका होता है, और हार से बचने के लिए (विजय प्राप्ति की निराशा जल्दी ही अनुभव हो जाती है) अपने सम्पूर्ण ज्ञान, स्थायीभाव और वास्तव मे अपनी स्व-चालित व्यावहारिक प्रवृत्तियो को "परम रहस्य" घोपित कर देता है। वह जिन शब्दो का प्रयोग करता है, उन्हे स्वरक्षा के शस्त्र के रूप मे ही प्रयोग मे लाता है। मेरा डिक ट्रेसी सिद्धान्त यह व्याख्या प्रस्तुत करता है कि प्रतिक्रिया-समय के अधिक होने के कारण सावधानी के हेतु लगाया गया 'बोली का समय' है[1]। रचनात्मक ढग से ऐसी ध्वनि की (स्वजात नही, ईमानदारी की नही, सतोपजनक नही—केवल भय की बात को छोड कर) प्रतिक्रिया, जो रोगी के मानसिक जीवन को अधिक से अधिक

---

1 लेखक यहा अन्तराबन्धी के सन्बन्ध में प्रतिक्रिया-समय पर किए गए एक अध्ययन की ओर सकेत कर रहा है, लेखक इससे परिचित था।

छिपा सके और इस प्रकार सुरक्षा की ओर से उसे निश्चिन्त बना सके, के चुनाव मे समय लगता है।

अर्ध-प्रवृत्त्यात्मक प्रवचनापूर्ण रक्षा-व्यवस्था के कारण अन्तराबन्धी खदेडे गए खरगोश की तरह टेढे-मेढे रास्ते अपना लेता है और इस प्रकार पीछा करने वाले को चकमा देता रहता है। अपूर्वानुमेयता अन्तराबन्धी के व्यवहार का मूलमन्त्र है। अपने बारे मे लोगो के मन मे भ्रान्ति न होने देना इमका ममीपवर्ती लक्ष्य है। इसका अन्तिम लक्ष्य दण्ड से बचना है। इन्हे दण्ड की 'आवश्यकता नही' है (पृ॰ 227—228)।

मेरे विश्वास के अनुसार, मेरा सिद्धान्त परम्परागत सिद्धान्त से इसलिए भिन्न है कि इसमे मैंने इस बात पर बल दिया है कि अन्तराबन्धी का अधिकाश भय लक्षण नही है और इसका दमन नही किया होता, बल्कि यह एक रोगोत्पादक शक्ति है जो चेतना मे ग्रहीत हो सकती है और यदि मनोरोगी अपने कपट वेश की लगभग चेतन नीति को तोडने को तैयार हो तो उसे शब्दो मे भी प्रकट किया जा सकता है।

यह सिद्धान्त पहले विकसित क्यो नही हो सका, इसके कुछ कारण हैं जो हमारी समझ मे आ सकते है। इस सिद्धान्त के बनाने वाले को अति-कठोर और अभियोग लगाने वाला समझना स्वाभाविक है (देखो अध्याय 2)। अन्तराबन्धी के परिवार के लोगो तथा उसके अन्य सम्बन्धियो द्वारा अपराध की उपपत्तियो का विरोध करना स्वाभाविक है । (और) यह कल्पना करना अथवा विश्वास करना भी सरल है कि इस तथ्य के बाद चिकित्सक और मनोवैज्ञानिक सहयोगी होने का व्यवसाय करना पसन्द नही करेंगे और न ही वे यह पसन्द करेंगे कि वर्तमान अभिवृत्तियो के कारण समाजशास्त्र के 'वातावरण' मे उनके कार्यों का ऐसा अर्थ लगाया जाए। और न ही चिकित्सा के व्यवसाय वाले लोग रोगियो के अभियोजन का प्रबन्ध करना पसन्द करेंगे।

दूसरे शब्दो मे, यह सिद्धान्त, काम-प्रवृत्ति पर बल देने वाले फ्रायड के सिद्धान्त से भी अधिक, अपने स्वरूप के कारण ही चारो तरफ, रोगी और चिकित्सक दोनो तथा उनको परिवेष्ठित करने वाले सामाजिक वर्ग मे अप्रतिष्ठित रहेगा। वास्तव मे, यदि अन्त मे सत्य के व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक निकलने की सम्भावना न होती तो मैं भी अपने इस सिद्धान्त के गलत होने की आशा करता।

जिस प्रकार फ्रायड के लिए शेक्सपीयर का हैमलेट आधि का प्रतिनिधि था, उसी प्रकार मैं शेक्सपीयर की लेडी मैकबैथ को अन्तराबन्धी मनोविक्षिप्ति का दृष्टान्त समझता हू। 'बाहर, नरक ?' अन्तराबन्धी

मज़ाक में ग्यारहवा आदेश भी कहते हैं यह है, 'तुम पकडे मत जाना।'
इस पर से पर्दा हटाने की उसकी कुछ चेष्टाए उसे और भी रसातल मे धकेल देती है। लेकिन उसकी सच्ची प्रकृति का ज्ञान एक न एक दिन किसी को उसका निश्चित, त्वरित, सफल, और स्थायी इलाज खोजने मे सहायक होगा (पृ० 236)।"

कुछ लोग इस पर अधिक बल देते है, जैसा कि पहले ही सकेत रूप में बताया जा चुका है, कि अपराध और पापाचरण का भाव जिस पर इस पत्र का लेखक इतना बल देता है स्वय रोग है, और कुछ तो यह भी मानेंगे कि वे दुष्कर्म जिनकी ओर अन्तराबन्धी का सकेत है, यदि वास्तविक है तो, वे रोग के प्रारम्भिक प्रकाशन हैं, न कि उसके कारण। लेकिन इस स्थिति का यह तार्किक दोष है कि इसके अनुसार सभी दुष्कर्मो का अर्थ इसी प्रकार लगाया जाएगा और इस प्रकार वैयक्तिक तथा नैतिक उत्तरदायित्व की बात तो बिल्कुल समाप्त ही हो जाएगी। इसके अतिरिक्त यह और भी बात है कि अब कुछ ऐसे मनश्चिकित्सक है, जिनमे से कुछ तो प्रसिद्ध भी हैं, जो यह अनुभव करते हैं कि यदि मन को स्पष्ट रूप से "बीमार" व्यक्तियो तक ही सीमित रखा जाए तब भी यह अयुक्त है और इसमें नितान्त नए दिग्दर्शन की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में, टिम विल्किस के इस पत्र के प्रकाशित होने के बाद, डा० कार्ल मैनिगर (1958) ने इस प्रकार लिखा

"द जरनल आव एबनार्मल एण्ड सोशल साइकोलोजी" के सितम्बर के अक मे प्रकाशित अन्तराबन्ध पर लिखे हुए इस लेख को मैंने बहुत पसन्द किया। मेरी अभिलाषा है कि आप इस पत्र के लेखक को यह बताए कि यह सुन्दर है, और मेरे विचार मे यह और भी सुन्दर हो जाता यदि वे अन्तराबन्ध और अन्य लक्षणो के वर्ग मे भेद न करते। सार रूप मे प्रत्येक मानसिक रोग सामाजिक वातावरण के साथ विच्छेद के किसी न किसी प्रकार के भाव के प्रति प्रतिक्रिया है। और वास्तव मे अनेक रोगियो की यह भी विशेषता है कि वे इसका तादात्मीकरण अपनी उन आक्रामक चेष्टाओ अथवा आक्रामक कार्यो से करते हैं, जिनके लिए, जैसा कि (लेखक) कहता है, वे स्वय को अपराधी समझते हैं और जिनके प्रति वे रक्षा करने टालने और कपटता करने, का रूप अपनाते हैं।"

अथवा होक और पौलटिन (1949) द्वारा सीमावर्ती अन्तराबन्धियो—अथवा "अर्ध-रुग्णतन्त्रिक" जैसा कि वे इन्हे कहना पसन्द करते हैं—

के बडे समूह के अध्ययन के सम्बन्ध मे बनाए गए इस अवलोकन पर विचार करे

> "अपने सभी उदाहरणो के सम्बन्ध मे लेखको ने यह देखा है कि रोगी प्राय काम-सम्बन्धी पूर्वरत-चेष्टाओ को, जिनमे स्पर्शन-सम्बन्धी, तथा मुख-मैथुन और गुदा-मैथुन सम्बन्धी, समलिंग-कामी तथा विलिंग-कामी प्रवृत्तिया दिखाई देती हैं, तथा ऐसे विचारो का, जो कभी-कभी काम सम्बन्धी मनोरोग की पाठ्य-पुस्तक की विषय-सामग्री के समान लगते है, बताते है। लेखक ऐसा समझते है कि रोगी की काम-प्रवृत्ति का दुर्व्यवस्थापूर्ण सगठन, उसकी बहुरूपी वासना के प्रकाशन, इन अन्तरावन्धी उदाहरणो की विशेषता है। इस काम-सम्बन्धी सामग्री के साथ परपीडन-रति अथवा परपीडन और स्वपीडन-रति का मिश्रित व्यवहार प्राय जुडा रहता है। यह विशेषत उन रोगियो के बारे मे सच है जो साफ-साफ बिना सयम के कौटुम्बिक व्यभिचार-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करते है। इनमे से बहुत से रोगी, विशेष तौर पर 'सोडियम एमीटल' के प्रभाव मे, अपने इन विचारो को स्वतन्त्रता-पूर्वक कहते है, अथवा इन्हे चित्रो के रूप मे स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रकट करते है (पृ०253)।"

हाल ही मे एक राजकीय अस्पताल ने पादरियो के लिए दिनभर का सम्स्थान चलाया जिसके लिए समाज-सेवा विभाग के सर्वोच्च अधिकारी ने 33-वर्षीया स्त्री का वृत्त तैयार किया, जिसके बारे मे लोगो का मत यह था कि वह अस्पताल मे भर्ती होने वाले रोगियो का नमूना थी। लगभग दो वर्ष तक इस स्त्री का अपने देवर के साथ सम्बन्ध रहा था, इसने एक बार कसाई की छुरी से अपने पति पर हमला किया था, और एक अन्य मौके पर एक छोटे बच्चे को घर के पीछे की बाड के ऊपर से फेक दिया था। अत मे वह आत्मघाती बनने लगी और उसे अस्पताल मे भर्ती कराना पडा।

और इस प्रकार, एक व्यक्ति इस बात के अनगिनत प्रमाण लगातार इकट्ठे कर सकता है कि पाप और मनोरोग एक-दूसरे के लिए अपरिचित नही है और यह कि निदानशालाओ मे उपलब्ध तथ्यो की साफ-साफ अवहेलना करके ही एक व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि रुग्णतन्त्रिक और क्रियात्मक मनोविक्षिप्त व्यक्तियो का अत्यधिक समाजीकरण हुआ होता है और वे अत्यधिक कठोर, और दबाने वाली नैतिकता के शिकार होते है। इसलिए, यद्यपि यह तो महसूस किया जाता है कि यहा जो प्रमाण प्रस्तुत किया है वह विरोधी मत के मानने वाले व्यक्ति की शका का निवारण करने के लिए पर्याप्त न हो, लेकिन इसे ऐसे बहुत बडे तथ्य-समूह का एक दृष्टान्त स्वीकार कर लिया जाएगा

जो हमारे इस मत पर मनन करने का औचित्य सिद्ध करता है कि मानसिक रोग एक सामाजिक और नैतिक रोग है, और अन्तिम विश्लेषण के अनुसार इसका उपचार सामाजिक तथा नैतिक रीति के अनुसार ही हो सकता है।

II अपराध, पश्चात्ताप, और स्वीकृति

यदि यह सत्य है कि भावात्मक रोगी व्यक्तियों की यह विशेषता है कि वे अपराधी व्यक्ति होते है, अर्थात् वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमे अपराध का भाव-मात्र ही नहीं होता बल्कि यथार्थ मे वे अपराधी होते है, तो इस प्रश्न का पैदा होना स्वाभाविक है कि इस प्रकार की हालत के निराकरण के लिए क्या किया जा सकता है। दूसरों के प्रति किए गए अपने अपराध को मानने अथवा स्वीकार करने की सहज प्रवृत्ति प्रत्येक मे होती है, लेकिन यह एक बहुत ही दुखदायी क्रिया है और अत्यधिक आवश्यकता के पडने पर ही की जा सकती है। स्वीकृति और इसमें शामिल द्वन्द्व का एक नाटकीय उदाहरण नीचे उद्धृत गद्यांश मे दिया गया है। ये स्टेंडल और कौसिनी की पुस्तक (1959), "मनोरोग-चिकित्सा की गम्भीर घटनाएं" (Critical Incidents in Psychotherapy) से लिए गए हैं। मैं यहां यह और बताना चाहता हू कि रिपोर्ट देने वाला परामर्शदाता अज्ञात है, और रोगी का नाम सिर्फ 'जोन' है। परामर्शदाता पृष्ठभूमि-सम्बन्धी तथ्यों को बताते हुए प्रारम्भ करता है:

> "जोन 19 वर्षीया कालिज की नवागन्तुका है। जब वह जूनियर कालेज मे जाती थी तब उसे पहली बार देखा था। स्कूल के मनोवैज्ञानिक ने रोश परीक्षा (Rorschach test) के आधार पर उसका निदान सविभ्रमवान अन्तराबन्धी (पैरेनोइड शिजोफ्रैनिक) किया और उसे मनोरोग-चिकित्सा के लिए रोगी-केन्द्रित विधि को अपनाने वाले परामर्श केन्द्र पर भेजा।
>
> जिस मनोरोग-चिकित्सक (वर्तमान लेखक) को जोन की चिकित्सा का भार सौंपा गया था उसे उसमें छठे साक्षात्कार तक मनोरोग का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। छठे साक्षात्कार मे उसे एक निर्मूल भ्रम हुआ और उसने कुछ असगत बातें भी की। इस साक्षात्कार के बाद मनोरोगचिकित्सक ने एक मनश्चिकित्सक से विचार-विमर्श की माग की और इसके बाद रोगी और चिकित्सक के मध्य चल रहे परामर्श के साथ सयुक्त साक्षात्कार किया गया।
>
> जिस गम्भीर घटना का वर्णन किया है वह चौदहवें साक्षात्कार मे घटी। प्रारम्भ मे जोन को आठ साक्षात्कार तक देखा, इसके बाद डेढ

महीने का ग्रीष्मावकाश हो गया और फिर शहर में राज्य के विश्व-विद्यालय जाने से पहले उसके साथ पाच और साक्षात्कार हुए। विश्व-विद्यालय मे आए हुए एक सप्ताह ही हुआ था कि वह मनोरोग चिकित्सक के पास आई और उससे कहा कि वह एक निश्चित समय पर उस सप्ताह के अन्तिम दिनो मे फिर वापस आना चाहती है। इतवार की शाम के 5 बजे का समय नियत हुआ।

निरन्तर बीस से तीस मिनट देर से आने के अपने पूर्व अभ्यास को तोडते हुए उस दिन जोन बिल्कुल ठीक समय पर आई। उसने कहा कि वह उस दिन बहुत ही विक्षुब्ध थी, उसने दोपहर के बाद मेरे पास पहुचने की कोशिश भी की लेकिन मै नही मिला।

मैंने उससे पूछा कि उसके लिए कितना समय चाहिए। (उसके देर से आने पर पचास मिनट में से जितना भी समय बचता था, पिछले साक्षात्कार तो उतनी ही देर तक चलते थे।) स्पष्ट रूप में उसके विक्षोभ की मात्रा और विश्वविद्यालय मे उसके निवास-स्थान से निदानशाला तक पहुचने के साधन न होने के कारण मैंने उसे साक्षात्कार के लिए अधिक समय देने की सम्भावना स्पष्ट कर दी। उसने पूछा, 'आपका क्या मतलब है?' मैने कहा, 'मुझे लगता है कि शायद तुम्हे एक घण्टे से अधिक समय चाहिए?' उसने कहा, 'यही, मुझे चाहिए।' मैंने उससे पूछा, 'अच्छा, तुम्हे कितना समय चाहिए?' उसने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न न किया इसलिए मैंने कहा, 'यह मान लो कि जब तक हमे भूख नही सताने लगती और रात्रि के भोजन के लिए घर जाने का समय नही हो जाता, तब तक हम यहा बैठे रहेगे।'

विश्वविद्यालय के अपने अनुभवो को फिर उसने बताना प्रारम्भ किया। उसने फिर जो अकेलेपन—विच्छेद का अनुभव किया था उसका वर्णन किया। वास्तव मे उसे कोई भी प्यार नही करता था। उसे ऐसा लगता था कि इस दुनिया मे वह अकेली ही है। जीवन इतना विषाद-पूर्ण था कि उसकी किसी मे भी रुचि न हो सकी। उसमे कोई भी काम करने का जोश न रह गया था। यदि उसमे जोश होता तो, वह सोचती है, कि उसने आत्महत्या कर ली होती। यदि भविष्य वर्तमान का ही विस्तार है तो यह जीवन के योग्य नही है। वह बहुत ही गम्भीर निराशा व्यक्त कर रही थी तब फिर से उसने अपने आपको सयत किया। यदि वह अपने आपको बदल सके तो जीवन मे आशा की किरण हो सकती है। उसे यह महसूस होने लगा कि परिवर्तन की सभावना हो सकती है।

भावो का विश्लेषण करते-करते जब एक बार हम रुके तो मुझे समय

देख कर आश्चर्य हुआ। अपनी घडी वाहर निकाल कर जव मैंने देखा, तो साढे छ हो चुके थे और हम डेढ घण्टे से इकट्ठे बैठे थे। मैंने अपनी घडी डैस्क पर रख दी और उससे पूछा, 'तुम्हे कितना समय और चाहिए?' उसने कोई उत्तर नही दिया। घडी जोर से टिक-टिक कर रही थी, इस-लिए मैंने फिर इसे अपनी जेव मे रख लिया। हम लगभग सात वजे तक इसी प्रकार वातचीत करते रहे, तव मुझे कुछ कमजोरी महसूस होने लगी और ऐसा लगा कि मैं उसकी वात ठीक-ठीक नही समझ पा रहा हू। मैंने यह वात उसे वताई तो उसने डरे हुए खरगोश की सी आखो से मेरी ओर देखा। वह वनावटी ढग से मुस्कराई और अपने कोट को पहनने लगी, मानो वह जाने को तैयार हो रही है। मैंने कहा, 'जव मैंने तुमसे कहा था कि अव वन्द करने का समय है तो तुम घवराई हुई लग रही थी।' उसने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। मैंने कहा, 'उस समय तुम्हे विल्कुल ऐसा लगा जैसेकि मै तुम्हे त्याग रहा हू।' उसने कहा, 'हा, मुझे कुछ ऐसा ही लगा।' तव उसने अपने कोट को अपनी पीठ पर पहन लिया और दोनों हाथो से कोट को कस कर पकडे हुए वह दीवार की ओर घूरने लगी। उसकी आखें लाल हो गईं, लेकिन आसू कोई नही निकला। वह कापने लगी। मेरी समझ मे कुछ नही आया कि क्या हो रहा है और मैंने कहा, 'ऐसा प्रतीत होता है कि जो भाव तुम्हारे मन मे अव आए है तुम उनसे घवरा गई हो।' मेरी ओर विना देखे ही उसने केवल सिर हिला दिया। वह आठ मिनट तक कांपती और घूरती रही। तव वह मेरे सामने खडी हो गई। मैंने उससे पूछा कि क्या वह जाना चाहती है। तव फिर उसने मेरी ओर देखा, कृत्रिम ढग से मुस्कराई और सिर हिलाते हुए कहा, 'नही।' तव वह अपने हाथ मलने और दीवार की ओर घूरने लगी और उसका सारा शरीर कापने लगा। कभी-कभी उसका शरीर मेरी ओर झुकता फिर पीछे हट जाता। मेरा दिल चलते हुए हथौडे की तरह धडक रहा था। मुझे डर था कि कही मनोविक्षिप्ति का विघटन न हो जाए। लगभग दस मिनट की धडकती हुई चुप्पी के वाद मैंने कहा, 'मुझे यह समझना कठिन है कि तुम्हे कैसा भाव अनुभव हो रहा है।' तव उसने वताया कि वह दीवार पर वने मेमनो के चेहरो को देख रही थी। (दीवार पर फूलो का एक चित्र था।) 'उनकी दो आँखें है। उनमे से एक आख नीच है और दूसरी दयालु है। मुझे अपनी मा और दादी के चेहरे दिखाई दे रहे है। वे मुझे अपने पर सयम रखने के लिए कह रहे है और मैं उनसे घृणा करती हू।' (पृ० 38—40)।"

जब मैं पहले इस सामग्री को जनता मे प्रस्तुत करता तो इसी बिन्दु पर रुक जाता और यहा वास्तव मे क्या हो रहा है उस सम्बन्ध मे दूसरो से उनके विचार पूछता । साधारण व्यक्ति भी इसका ठीक-ठीक मूल्याकन कर सकते है । सबसे पहले तो हल्के पर्दे से ढकी हुई रोगी की काम-प्रलोभन की वृत्ति उन्हे दिखाई देगी अर्थात् जब वह जाने को होती है तब प्रकटित अकेलेपन और अस्पष्टता का भाव । जब चिकित्सक ने दूसरी बात पर दबाव डाला तो जोन ठगी हुई सी, चोट खाई सी लगी – और चिकित्सक इसका यह अर्थ लगाता है, और शायद ठीक भी है, कि जोन के मन मे यह भाव था कि उसे "त्यागा" जा रहा है । यह तो स्पष्ट है कि जहाँ तक यौन-सम्बन्ध मे जोन को आगे बढने देने की बात है उसे चिकित्सक ने त्याग ही दिया था । जब स्थिति इस प्रकार स्पष्ट तथा "पुनर्गठित" हो गई तो बाते होने लगी । इसके तत्काल बाद ही "उसने अपना कोट पीठ पर पहन लिया । दोनो हाथो मे कोट को कस कर पकड लिया और वह दीवार की ओर घूरने लगी ।" इतने मे ही चिकित्सक के सामने खडी हो गई और आगे तथा पीछे झुक-झुक कर अपने मानसिक द्वन्द्व का शारीरिक क्रियाओ द्वारा प्रदर्शन किया । तब उसे निर्मूल भ्रम हुआ । आँखे तो जनवाद के अनुसार भी प्रभुत्व और अन्त करण की प्रतीक होती है, और जोन ने प्रत्येक मेमने की एक आख को अच्छा और दूसरी को बुरा देख कर, उनके प्रति अपनी द्वैध वृत्ति को प्रकट किया । तब जोन अपनी मा और दादी के चेहरे अर्थात् वे चेहरे जो उसके अन्त करण के "पीछे थे, दिखाई दिए ।" "वे सयम रखने के लिए मेरे से कह रहे हैं और मैं उनसे घृणा करती हू ।" यहा यह बात स्पष्ट है कि नैतिक सत्ता बाहर से अन्तर्मन मे तो आई है, लेकिन उसे आत्मसात् नही किया गया, और यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि इस प्रकार की सत्ता को स्त्रीरूपिणी ही दिखाया है—यहा पिता का सा चेहरा कोई नही था ।

तेजी के साथ चल रहे इस नाटकीय दृश्य को इस प्रकार रुक कर अच्छी प्रकार समझने के बाद हम फिर से परामर्शदाता के वर्णित विषय पर आते है ।

> "मैंने उससे कहा कि मैं भ्रमित हू । तब मैंने कहा, 'मुझे आश्चर्य होता है कि शायद तुम यह कह रही हो कि कुछ अश मे तुम अपने आप को पसन्द करती हो और कुछ अश मे पसन्द नही करती हो ।' उसने कहा, 'नही । यह दूसरे व्यक्तियो की मेरे प्रति प्रतिक्रिया है । वे आशिक रूप से मुझे पसन्द करते है और आशिक रूप से पसन्द नही करते ।' उसने कहा कि एक आख ऊन से ढकी हुई थी । मैंने कहा, 'शायद तुम यह कहना चाहती हो कि यदि लोग तुम्हे जानते—तुम्हारे असली रूप को देख

सकते—तो वे तुम्हे पसन्द न करते।' उसने कहा, 'हा।'[2] जब तक हमने बात-चीत की, वह खडी रही, कापती रही, अपने हाथों को मलती रही और दीवार की ओर घूरती रही। तब उसने बडे टेढे-मेढे ढग से अपने पिता के साथ अपने सम्बन्ध के बारे मे बताना प्रारम्भ किया। उसने यह कहते हुए प्रारम्भ किया कि जब वह तेरह वर्ष की थी तब उसने अपने मा-बाप के तलाक के कागजात देखे थे। उन कागजो मे यह कहा गया था कि उसके जन्म से पहले उसका पिता उसे नही चाहता था। तब अपने प्रति अपने पिता की अभिवृत्ति का वर्णन करने लगी और बहुत से सकेतो के बाद उसने अपने पिता के साथ सम्भोग कर चुकने की बात भी बताई। उसने इस अनुभव का वर्णन यह कह कर किया कि इसने उसे अपवित्र, नीच और भयावह बना दिया है।

वह लगभग आधे घण्टे से खडी थी और काप रही थी लेकिन पिता के साथ सम्भोग की यह बात बताने के बाद वह बैठ गई और उसने आराम किया। जब वह बातचीत कर रही थी, उसने मेरी ओर देखा, और ऐसा लगा कि जब से वह खडी हुई है शायद उसने पहली बार ही मुझे देखा हो, और उसने यह भी बताया कि इस अनुभव ने उसके जीवन के प्रत्येक भाग को किस प्रकार प्रभावित किया है। इससे पहले उसने यह बात किसी को नही बताई थी। वह यह महसूस करती थी कि वह अपनी मा और दादी को भी यह बात न बता सकी। वह अपने पिता के साथ भी ऐसी बात कभी न हुई होने का छल ओढ लेती और कभी इसकी चर्चा न करती। अब उसके अपने पिता के साथ काम-सम्बन्ध नही थे लेकिन जब भी वह उसके पास जाती है (उसके मा-बाप तलाक से अलग हो गए है) तो अपनी रक्षा के लिए अपनी किसी मित्र को साथ ले जाती है।

जब आठ बजने वाले थे, तो मुझे फिर भूख लगने लगी। मैंने कहा, 'अच्छा, मुझे तो फिर कमजोरी महसूस हो रही है।' उसने कहा, 'आप जानते हैं कि मेरे सिर मे दर्द है और भूख लग रही है। मै बिल्कुल थक चुकी हू और आज अब और कुछ कहने को नही है। लेकिन मैं आप से कह न सकी और रुकने का सुझाव भी न दे सकी।' बात यह निकली कि उसे यह डर था कि कही इसका अर्थ मुझे त्यागना न हो।"

यहा क्या हुआ है इस बात को समझने के लिए कोई विशेष योग बुद्धि की आवश्यकता नही है। जोन जब साक्षात्कार के लिए आई तो उसके मन मे पिता

2. रोगी ने अथवा परामर्शदाता ने "दूसरे की आखों पर ऊन फैलाना" इस सामान्य उक्ति, जो धोखे की रूपकोक्ति है, की ओर कोई स्पष्ट सकेत नहीं किया, लेकिन ऐसा लगता है कि इसे दोनों समझते थे और स्वीकार करते थे।

के साथ सम्भोग-सम्बन्ध के अंगीकार करने की सम्भावना और परामर्शदाता के साथ इसकी पुनरावृत्ति की सम्भावना का द्वन्द्व था। यदि परामर्शदाता पहली सम्भावना को स्वीकार कर लेता तो उसकी प्रतिक्रिया कैसी होती, इसका हम अनुमान ही लगा सकते है—पहली बात तो यह है कि ऐसा हुआ नही, और दूसरी बात यह है कि यदि ऐसा हुआ भी होता, तो उस वृत्त का कोई रिकार्ड न होता, या कम से कम परामर्शदाता के द्वारा स्वय प्रस्तुत रिकार्ड तो न मिलता। लेकिन इस रहस्य का हल अभी पूरा नही हुआ। जोन ने इसी व्यक्ति को क्यो चुना ? इसमे सदेह नही है कि स्पष्ट रूप मे प्रौढ दिखाई देने वाले, सम्भवत विवाहित और व्यवसाय की दृष्टि से उत्तरदायित्व वाले इस व्यक्ति की अपेक्षा उसे अपने ही दरिद्र वातावरण मे अधिक उपयुक्त और सुलभ व्यक्ति उसकी काम-सम्बन्धी इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए मिल सकता था। वास्तव मे इस विरोधाभास मे ही इसकी कुजी है। जोन ने परामर्शदाता के साथ शनिवार सध्या का समय इसलिए नही मांगा कि वह काम से सताई हुई थी, बल्कि इसलिए कि वह नैतिक हीनता से दु खी थी, और यदि वह पितृतुल्य इस व्यक्ति पर अपना मोहजाल डालने मे सफल हो जाती, जैसाकि अपने असली पिता के साथ हुई थी, तो वह भारी परिमाण मे नीति-सम्बन्धी थोथी विजय, कम मे कम थोडी देर के लिए, प्राप्त करने मे सफल हो जाती।[3]

निश्चय ही यह बात कारणरहित नही थी कि दीवार से और भूतकाल से, जो चेहरे जोन की ओर घूर रहे थे उनमे उसके पिता का चेहरा नही था। पिता के रूप मे तो वह मर चुका था—और जोन ने उसे मारने मे सहायता की थी। जोन के सहयोग से परिष्कार की सीमा से अधिक अपने आपको इस पद के लिए अपमानित और अयोग्य बनाने के बाद, मुह उसका सामना नही कर सकता था। लेकिन अपनी मा और दादी से वह इतनी आसानी से छुटकारा नही पा सकती थी, और यद्यपि जोन उनसे घृणा करती थी, उन्होने उसे चैन से नही बैठने दिया। इसलिए भाग्य की शनिवार की इस सध्या को जोन मोहित करने के लिए नही आई बल्कि भ्रान्त और स्वीकृति तथा "हत्या" के मिले जुले इरादे के साथ आई थी। लेकिन इस समय उसका सम्भाव्य शिकार उसके जाल मे आने वाला नही था। निर्भ्रान्ति-रूप से काम-सम्बन्धी आमन्त्रण का उसे सामना करना पडा तो उसने सिर्फ कमजोरी और भूख अनुभव करने की बात कही। और उसने ठीक ही यह समझा कि जोन को, अथवा कम से कम उसके एक अश को, यह लगा कि उसे त्याग दिया है। इस समय जोन की भिडन्त समान बल वाले व्यक्ति के

3 केवल वे ही व्यक्ति जिनका मनोरोग-चिकित्सा की परिस्थिति का अनुभव नहीं है इस कथानक में निहित काम के गुप्त नाटक को असामान्य या असत्य समझेंगे। यहां जो प्रश्न है वह केवल इसका अर्थ लगाने का "प्रेरक" अर्थ मालूम करने का है।

साथ हुई थी। यह पिता व्यभिचारी नही हो सकता था। इसलिए इसका पूरा लाभ उठाने के लिए उसका साहस और चरित्र जाग उठा तब उसके सामने उसने अपना पाप स्वीकार कर लिया। वह उसकी परीक्षा ले चुकी थी, और वह इस प्रकार की भिन्न भूमिका निभाने के योग्य प्रमाणित हुआ था।

परामर्शदाता के वृत्तान्त का कुछ ही अश शेष है। बहुत से प्रश्न उठा कर वह अपने वृत्तान्त को समाप्त करता है

> "इस साक्षात्कार मे समय के निर्वाह ने क्या काम किया है ? क्या चिकित्सक के निर्णय न ले सकने के कारण मोहक गुप्त अभिनय किया गया जिसने सक्रामक प्रतिक्रियाओ को जन्म दिया, जिसने मनोविक्षिप्ति सम्बन्धी विघटन की क्रिया को थोडी देर के लिए तेज कर दिया ? यदि ऐसा है तो, मनोरोग-चिकित्सा की दृष्टि से इसका किस प्रकार मूल्याकन करना चाहिए ? क्या चिकित्सक द्वारा प्रारम्भ मे अपनी सीमा की स्पष्ट परिभाषा कर देने से जो तीव्र रेचन उसे घण्टे के अन्त मे हुआ उसकी सम्भावना समाप्त हो गई थी ?
>
> चिकित्सक ने रोगी के निर्मूल भ्रम सम्बन्धी विचारो का अर्थ उसकी अपने प्रति अभिवृत्ति तथा उसके दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध के रूप मे लगाया। जिन विचारो को वह बोलती जा रही थी, उन पर केवल मनन करने का क्या परिणाम होता ? सक्रामक आधि के रूप मे उसके व्यवहार का अर्थ लगाने का क्या परिणाम होता ?"

यद्यपि परामर्शदाता को स्थिति की अच्छी सहज पकड थी और इसका निर्वाह भी अच्छा हुआ, लेकिन यह स्पष्ट है कि उसके मन मे "टैक्नीक" के प्रश्न पहले से ही ऐसे बैठे हुए थे कि जो बाते प्रकाश मे आई उनके गम्भीर महत्त्व के प्रति उसने जान-बूझ कर आखें बन्द कर ली। जब जोन ने यह कहा, "लेकिन मैं आपसे यह न कह सकी (और) यह सुझाव न दे सकी कि अब हम बन्द कर दे," तो उस पर उसकी टिप्पणी यह है "बात यह निकली कि उसे डर था कि कही इसका अर्थ मुझे त्यागना न हो।" वास्तव मे इन शब्दो से जो बात प्रकट की जा सकती है उससे अधिक गम्भीर कोई और बात यहा चल रही थी, और हमारा सम्बन्ध इसी और बात से है।

III क्या स्वीकृति पर्याप्त है ?
पाप-निष्कृति की समस्या

बाइबिल के इस उपदेश, कि सच्चाई के साथ की गई स्वीकृति आत्मा के लिए

पर्याप्त है, के बावजूद इस बात को मानने मे शका की जा सकती है कि इसका लाभ निरपेक्ष और आवश्यक रूप से स्थायी है, और हमने जिस वृत्त की समीक्षा की है उसमे भी स्थायी तौर पर कितनी सफलता मिली है यह भी एक प्रश्न ही है। इसमे सन्देह नही है कि इसके तत्काल बाद जोन को दु ख मे मुक्ति मिल गई, लेकिन क्या वह "रोगमुक्त" हो गई थी ? इसकी क्या प्रतिभूति थी कि उसका अपराध वास्तव मे धुल गया था—अथवा, वास्तव मे यह कि वह भविष्य मे फिर ऐसे व्यवहार का सहारा नही लेगी, जिसके कारण उसकी अन्तरात्मा इतनी दु खी हुई थी। डिक ट्रेसी सिद्धान्त का लेखक अपने पत्र के अनुद्धृत भाग मे यह प्रश्न उठाते समय इस बात को ठीक प्रकार से प्रकट करता है किसी ऐसे व्यक्ति के सामने अपनी पिछली गलतियो को स्वीकार करने का क्या लाभ जो उन्हे इतना ही गुप्त रखेगा जितना कि आप स्वय रखते हो ? वह आगे कहता है कि व्यक्ति के लिए अपने व्यक्तित्व की नई सामाजिक परिभाषा करने और अपना सच्चा उद्धार करने का यह उपाय नही है। जिस प्रकार अपराध समाज के विरुद्ध—अर्थात् मनुष्य और ईश्वर के नियमो के विरुद्ध—किया जाता है, इसी प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि स्वीकृति और क्षमा ("अपनाना") भी उतना ही व्यापक होना चाहिए जितना कि स्वय पाप।

स्टैडल और कोर्सिनी ने जो "निर्णायक घटनाए" सग्रहीत की है उनमे से एक और घटना का सम्बन्ध इसी प्रश्न से है। यहा एक विवाहित स्त्री मनश्चिकित्सक से परामर्श करते हुए शिकायत करती है कि उसे यह विषाद और सनक है कि कही वह अपनी छोटी बेटी को चोट न पहुचा दे। (कई साक्षात्कारो मे) जब अनवस्थित बात-चीत से उसके अनुकरणीय जीवन के अलावा और कुछ पता न चला तो मनश्चिकित्सक ने रोगी के सामने सीधे ढग से ही उसके लक्षण और उसने अपने बारे मे उसे जो बताया था, उसकी स्पष्ट असगति रखी। तब बडी कठिनाई से उसने अपने बारे मे आश्चर्य मे डालने वाली बहुत अपमान-जनक वामता स्वीकार की, लेकिन इससे चिकित्सा-सम्बन्धी कोई लाभ नही हुआ। वास्तव मे यह रिपोर्ट मनश्चिकित्सक की इस टिप्पणी से समाप्त हो जाती है कि रोगी का "अभी इलाज हो रहा है।"

इसलिए कोई यह शका कर सकता है कि इस प्रकार की परिस्थियो मे स्वीकृति का रूप यदि और अधिक सार्वजनीन होता तो उसका क्या परिणाम होता। सौभाग्य की बात है कि डा० एटन बोइसन (1958) ने सक्षेप मे जो वृत्त दिया है, उसमे कुछ-कुछ इस प्रकार का उत्तर हमे मिल जाता है। वे कहते है

> "यहा जिस रोगी का प्रश्न है वह अडतीस वर्ष का था और उसे बहुत ही उत्तेजित हालत मे अस्पताल लाया गया। वह यह सोचता था कि

उसने कोई अक्षम्य पाप किया है और उसके बच्चो और पत्नी को कुछ होने वाला है। इसलिए, वह उन्हे अपनी आख से ओझल नही होने देगा। वह सोचता था कि विश्व-युद्ध होने वाला है और जब उससे पूछा गया कि युद्ध मे तुमने क्या करना है तो उसने उत्तर दिया, 'एक छोटा बच्चा उनका नेतृत्व करेगा।' स्पष्ट है कि छोटा बच्चा वह स्वय था।

उसके जीवन के रिकार्ड के अनुसार वह भला, मिलनसार, प्रिय-स्वभाव का व्यक्ति था, जो अपने विवाह से पहले और उसके बाद भी काम-सम्बन्ध मे उदासीन था। उसे सबसे अधिक कष्ट इस बात से था कि अपने से आयु मे दस वर्ष अधिक बडी, स्पष्टत माँ के बराबर, एक स्त्री के साथ उसके सम्बन्ध थे। वह दो बार गर्भपात करा चुकी थी और इनके लिए वह ज़िम्मेदार था। वह कैन्सर से मरी थी। उसकी मृत्यु के लिए उसने अपने आपको दोषी बताया और उसके कुछ दिनो बाद ही उसका विक्षोभ शुरू हो गया।

उसका पहला लक्षण अत्यधिक शराब पीना था। यह तब तक चलता रहा जब तक वह अपनी नौकरी मे हाथ न धो बैठा। इसके बाद उसे दुःख हुआ और उसने पीना बन्द कर दिया। तब उसके मन मे यह विचार पनपने लगा कि 'औड फैलोज़' उसे पकडने पर तुले हुए है क्योकि उनकी फर्म मे काम प्रारम्भ करते समय उसने जो शपथ ली थी वह उसने तोड दी थी। कई महीने तक वह उत्पीडन के विचारो से परेशान रहा। वह इस अवस्था तक पहुच गया कि वह पुलिस के पास यह प्रार्थना करने चला गया कि उसे अपने दुश्मनो से रक्षा करने के लिए अपने साथ बन्दूक रखने की अनुमति दे दें। अन्त मे वह इतना विक्षुब्ध हो गया कि उसने अपनी पत्नी के सामने पाप को स्वीकार कर लिया और उसे अपने व्यभिचार की बात बता दी।

उसकी पत्नी ने इस पाप-स्वीकृति को उसके सच्चे मन का प्रकाशन समझा, लेकिन इस तथ्य के बावजूद भी उत्तरोत्तर व अधिक उत्तेजित होता गया। उसके मन मे यह विचार आया कि उसे (उसकी पत्नी को) कुछ होने वाला है और ससार का सारा बोझ उसे अपने छोटे कन्धो पर ही उठाना है। तब उसे अस्पताल मे बन्द करना आवश्यक हो गया। अस्पताल मे उसने अत्यधिक चिन्ता प्रकट की। उसे यदि निश्चय था तो सिर्फ एक बात का कि जैसी बातें दिखाई दे रही हैं वे वैसी नही है। उसमे गम्भीर धार्मिक भावना भी जाग्रत हो उठी। हमारे लिए यहा इससे अधिक उसके इतिहास को दुहराना आवश्यक नही है कि लगभग दो महीने मे उसने अत्युत्तम सुधार कर लिया, और लगभग तीस वर्ष के बाद, अब उसे

> और कोई कष्ट नही हुआ। अब वह एक सफल ठेकेदार है और उसका परिवार सम्पन्न और सुखी है।"

इसे मानने के बाद कि इस व्यक्ति का अपराध वास्तविक और घोर था बौइसन तब यह प्रश्न करते है

> "अपनी पत्नी के सामने पाप स्वीकार करने के बाद उसकी बेचैनी उग्र क्यो हो गई ? उत्तर स्पष्ट है। भावनात्मक विक्षोभ पाप-स्वीकृति का फल नही था बल्कि उसका पूर्व कारण था। मन की सामान्य दशा रहते हुए स्वीकृति असम्भव थी। लेकिन उग्र सवेग ने पाप-स्वीकृति के लिए विवश कर दिया था, जैसाकि प्रकृति की उपचार-शक्ति के कारण पहले कोई फोडा अथवा घाव हो जाता है और फिर उसमे से विषैला पदार्थ बाहर निकलता है। अन्य उदाहरणो की तरह इस उदाहरण मे विक्षोभ के कारण कुछ हद तक समाजीकरण हो गया। इसमे प्रवञ्चना और दम्भ का पर्दा हट गया और कष्ट ग्रस्त-व्यक्ति यथातथ्य स्थिति को स्वीकार करने में समर्थ हो गया। और यदि इस प्रबल सवेग को शान्त होने मे कुछ समय लगा तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है (पृ० 5—6)।"

यह सब कुछ अत्यधिक युक्ति-सगत है लेकिन क्या इसमे एक और सम्भावना की उपेक्षा नही की गई ? कानून के विरुद्ध किए गए अपराध को स्वीकार करने पर उस पर मिलने वाले दण्ड मे नर्मी तो की जा सकती है, लेकिन उसे बिल्कुल क्षमा नही किया जा सकता। इसी प्रकार, क्या हम यह नही मान सकते कि अनैतिकता की स्वीकृति मात्र से ही मामला समाप्त नही हो जाता ? मेरी यह कल्पना है कि डा० बौइसन के रोगी का अस्पताल मे रहने का समय उसकी स्वीकृति की अभिप्रेरणा के कारण आवश्यक हो गया था। इस व्यक्ति ने, सम्भवत इस प्रकार की परिस्थिति मे, अन्य व्यक्तियो के समान, यह महसूस किया था कि वह अपना लेखा-जोखा तब तक चुकता नही कर सकता जब तक, जैसाकि हम प्राय कहते हैं, "वह अपनी दवा की घूट न ले ले", और अपने पिछले दुष्कृत्यो का बदला न चुका दे। क्या हम अपने मानसिक अस्पतालो और अस्पताल मे भर्ती करके रोगी की चिकित्सा की इस क्रिया को ठीक-ठीक नही देखते है ?

क्या कानूनी अपराध की स्वीकृति मात्र से एक व्यक्ति आगे के सभी उत्तर-दायित्वो अथवा दण्ड से मुक्त हो जाता है ? मान लो दस वर्ष पहले मैंने कोई कत्ल किया और पकडा नही गया और न ही किसी ने मेरे ऊपर सदेह किया। लेकिन जैसे जैसे समय बीतता जाता है उस कर्म का मेरा अपना ज्ञान ही मुझे

उत्तरोत्तर सताने लगता है और अन्त मे स्थानीय पुलिस के पास जाता हू और कहता हू "तुम्हे याद होगा कि कुछ वर्ष हुए, स्मिथ नाम के एक व्यक्ति का रहस्यपूर्ण ढग से कत्ल हो गया था। बात यह है कि मै यह सोचता था कि आप यह जानना पसन्द करेंगे कि मैंने ही उसे मारा था।" तब क्या होगा ? क्या पुलिस कहेगी, "कितनी मनोरजक बात है। हम इसी आश्चर्य मे थे कि उस व्यक्ति को क्या हो गया। फिर भी कभी आना।" स्पष्ट ही ऐसी बात नही है। मुझे हिरासत मे ले लिया जाएगा और मुकद्दमे का सामना करना पडेगा, और, यदि कानूनी तौर पर अभियुक्त सिद्ध हो जाऊ तो जो भी दण्ड उचित समझा जाएगा वह भी मुझे दिया जाएगा।

अब प्रश्न यह है कि क्या नैतिक नियम सिविल अथवा आपराधिक कानून से कम कठोर होता है ? क्या न्यायालय की अपेक्षा अन्त करण कम न्यायप्रिय होता है ? जब तक हम इस प्रश्न का उत्तर 'हा' मे न दे सकें तब तक यह निष्कर्ष निकलता है कि कानून के क्षेत्र मे ही नही अपितु नैतिक क्षेत्र मे भी स्वीकृति ही पर्याप्त नही है। इसके साथ प्रत्यर्पण भी होना चाहिए। हमारे समय मे इस सम्भावना की प्राय उपेक्षा की जाती है और व्यापक सम्भ्रान्ति तथा दुर्निर्देशित चिकित्सा और उद्धार के प्रयत्नो की भी इससे व्याख्या होती है। मनोवैज्ञानिको तथा मनश्चिकित्सको ने व्यक्तिगत अपराध तथा पश्चात्ताप की अपेक्षा "अन्त-र्दृष्टि" के महत्त्व पर अधिक बल दिया है, डीट्रिक वौन हाफर (1948) जिसे सस्ती कृपा का सिद्धान्त कहता है और जो उसकी दृष्टि मे कोई कृपा नही है, चर्च भी उसका उपदेश देता है (देखो अध्याय 11)।

इसलिए क्या यह सत्य हो सकता है कि पाप के बाद पश्चात्ताप की आवश्यकता को औपचारिक रूप से (सस्था के रूप मे) स्वीकार न कर सकने के कारण आधुनिक स्त्री और पुरुष, साधारणत इस कालिमा, अप-मान तथा कष्ट को अचेतन रूप से ही "उन्मत्त होने" तथा अस्पताल मे भर्ती होने के साथ जोडते हैं ? डा० बौइसन (1936) ने पागल व्यक्ति को आत्म-तिरस्कृत कहा है और इसमे हम यह भी जोड सकते है कि वे आत्म-दण्डित भी होते है। स्पष्ट तौर पर ही, अपने आप थोपा गया कष्ट है, और कई बार यह शक किया जाता है कि बिजली के झटके के 'इलाज' से विक्षिप्त व्यक्ति के सुधार की गति तीव्र होने का कारण यह है कि इससे प्रायश्चित्त के काम मे सहायता मिलती है। निस्सन्देह ही यह कम शिक्षाप्रद नही है कि जिस विक्षोभ की चिकित्सा नही की जाती वह भी अपनी "मियाद पूरी करता है" और यह कि किसी भी प्रकार के "दौरे" के उपचार की सम्भावना सदा अच्छी होती है लेकिन साख्यिकीय के अनुसार फिर से दौरे पडने की सम्भावना बनी रहती है (इसीलिए इसका निदान चक्र विक्षिप्ति (साइक्लौथीमिया) किया जाता है)।

धकेला है जो उसकी मुक्ति की दिशा नही है बल्कि विनाश की दिशा है।

बीसवी सदी के मध्य मे, धर्मनिरपेक्ष मनोविज्ञान शायद एक पुरातन धार्मिक सत्य की नई खोज कर चुका है और एक अन्य सत्य खोजने वाला है।[4] प्रतिष्ठित मनोविश्लेषण, जो "स्वतन्त्र साहचर्य" पर प्रधान रूप से बल देता है, के प्रारम्भ मे दु खदायी और उत्पादक होने तथा बाद मे वर्षों की उत्साहहीन निरर्थक बातचीत का रूप ले लेने का एक कारण यह है कि यह विश्लेषित व्यक्ति को स्वतन्त्र साहचर्य (पाप-स्वीकृति) की अवस्था से प्रायश्चित्त की अवस्था की ओर बढने मे इसलिए सहायक नही होता, कि विश्लेषण मे जो आर्थिक त्याग शामिल है, और जो अस्थायी प्रायश्चित्त अथवा "लाक्षणिक" प्रायश्चित्त का रूप ले

---

4 उपर्युक्त लेख के बाद लेखक को ज्ञात हुआ कि डा० अलबर्ट एगलश के सम्पादकत्व के अधीन एक पुस्तक तैयार हो रही है जिसका शीर्षक होगा "रचनात्मक प्रतिदान अपराधियों का निर्देशन और उनका पुनर्वास" (क्रियेटिव रेस्टीट्यूशन गाइडैंस एण्ड रिहैबिलिटेशन ऑव ओफेंडर्स)। यद्यपि इस पुस्तक का सम्बन्ध कानून की दृष्टि से अपराधी व्यक्तियों के सशोधन से है, लेकिन मानसिक रोगियों के लिए भी इसका अर्थ हो सकता है—यदि उन्हें भी अपराधी माना जाए। यह तथ्य कि कानूनी अपराधियों के बारे में स्वीकृति या कम से कम "अपराध-सिद्ध" हो चुकी होती है इसलिए मानसिक रोगियों की अपेक्षा उनके पुनर्वास का कार्य अपेक्षाकृत सरल हो सकता है, लेकिन, उपरोक्त स्वतिरक्त होता है और इस कारण से उसमें वह क्षमा होती है जिसका कानूनों को तोड़ने वाले 'साइकोपैथ' में प्राय अभाव समझा जाता है। इस अध्याय में जो कहा है उसका सशोधन करते हुए यह और जोडा जा सकता है कि यहा इस बात की कोई सूचना नहीं होती कि एक मानसिक रोगी जिन 'अपराधों' को स्वीकार करता है, वे वास्तव में अवश्य ही घटे होते हैं या नहीं। जैसाकि टिम विल्किस का अवलोकन है कि उनके पत्र के एक भाग में जिसे उद्धृत नहीं किया गया), कोई अगण्य अथवा अघटित अपराध की भी रिपोर्ट वास्तविक दुष्कृत्य को 'छिपाने' के लिए दी जा सकती है (रदरफोर्ड, 1950, मौरर 1953, फ्लीस, 1957)। कुछ मनश्चिकित्सकों का यह मत है कि विक्षिप्त व्यक्ति को अपने कृत दुष्कर्मों के बारे में बातचीत करने को प्रोत्साहित करना (उसकी अनुमति देना भी) त्रुटि है। उनकी मान्यता यह है कि यद्यपि वह ठीक रिपोर्ट से आरम्भ कर सकता है लेकिन वह जल्दी ही काल्पनिक अपराधो की ओर बढ जाएगा और इस प्रकार निर्मूल भ्रम में फँस कर पथ-भ्रष्ट हो जाएगा। दो विचार यहा महत्त्वपूर्ण हैं (क) यदि चिकित्सक कुकर्मों के बारे में रोगी की पहली रिपोर्ट को गम्भीरतापूर्वक ले और तुरन्त ही उसके प्रतिदान के बारे म रोगी के साथ योजना पर विचार करना शुरू कर दे (इसे महत्त्वहीन समझ कर छोडने की अपेक्षा) तो शायद अपने वास्तविक पापों के साथ काल्पनिक पापों को जोडने की अवश्यकता रोगी को महसूस न हो, और (ख) यदि रोगी काल्पनिक बातों से आरम्भ करे तो क्या यह अधिक लाभप्रद नहीं होगा कि उसे यह सुझाव दिया जाए कि वह कम नाटकीय लेकिन अधिक ठोस और वास्तविक उन कर्मों की फिर से चर्चा करे जिनके कारण अपराध पैदा हुआ हो?

सकता है उसे छोड दिया जाता है। यदि हम सार्थक तथा प्रभावोत्पादक प्रतिदान का ही प्रयोग पाप-स्वीकृति के नियत और अपेक्षित सहचारी के रूप मे करना सीख लें तो यह अग्रिम अर्ध शताब्दी का सदुपयोग होगा (देखो ओल्ड टैस्टा-मेंट मे लैविटिक्स की पुस्तक) । मानसिक अस्पतालो मे वन्दी बनाने की अपेक्षा आत्म-प्रताडन और प्रायश्चित्त के शायद ऐसे और रूप हैं जो वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से अधिक रचनात्मक हैं।"

9

मनश्चिकित्सा और ऐतिहासिक संदर्भ में मूल्यों की समस्या अथवा, शैतान और मनोरोग*

मानसिक रोगो के नैतिक आधार की परिकल्पना को स्वीकार करने मे सावधानी रखने का एक कारण, इस विरोधी मत की व्यापकता है जिसके अनुसार यह वास्तव में एक रोग है और इसका ऐसी किसी बात से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसके लिए रोगग्रस्त व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराया जा सके। या तो इसे रोग के रूप में समझना ठीक है, अथवा यदि यह गलत है तो इसकी परीक्षा और व्याख्या एक ऐसी अद्भुत अनियमितता के रूप में करनी चाहिए, जिसके दृष्टान्तो की कमी संस्कृति के इतिहास मे नहीं है। इस समस्या की ऐतिहासिक गहराई को मापने के जो प्रयत्न हमने अध्याय 6 में प्रारम्भ किए हैं उन्हे और विस्तृत करते हैं और इस प्रकार आशावान हो ऐसी परिस्थितियो की खोज करते हैं जिनसे आजकल के सभ्रमो पर नया और अभिलषित प्रकाश पड़ता है।

अन्वेषण की यह क्रिया हमें फिर एक बार अचेतन के स्वरूप के प्रश्न पर ले आती है, और इस शका के आधार पर कि यह दुष्ट नहीं है, अपितु उदार है (जैसाकि फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार यह होगा), अवचेतन मनोविज्ञान और धर्म के समन्वय की सम्भावना के द्वार खुल जाते हैं अर्थात् इस बात से सहमति होती है कि जिसे अब तक अचेतन के रूप में ग्रहण किया गया है वह पवित्र आत्मा के समान है। जिस स्थिति का अध्याय 2 में विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है वह स्थिति उसके अनुकूल है और उसका ही विकसित रूप है। अचेतन का इस प्रकार पुनर्मूल्याकन करने और अर्थ करने से समन्वय प्राप्त करने में ही सहायता नहीं मिलेगी बल्कि जिस निराशा और असमर्थता से मनोरोगचिकित्सा का सम्पूर्ण क्षेत्र जकड़ा पड़ा है उसे दूर करने मे भी सहायता मिलेगी।

---

* प्रारम्भ में यह पत्र ओह्यो राज्य विश्वविद्यालय में मई 28–29, 1959 में "मनोरोग और मूल्य" पर आयोजित एक परिसंवाद के लिए तैयार किया गया। यही पत्र मिन्नेसोटा विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के तत्वावधान में 16 अप्रैल को प्रस्तुत किया गया और बाद में मनोविश्लेषण और यहूदी-ईसाई नीति पर 1960 में अर्ल भाषणों में दूसरे भाषण के रूप में भी प्रस्तुत किया गया।

एक सम्बन्धित पत्र (अध्याय 8) मे लेखक ने यह सुझाव दिया है कि हमने चिकित्सा के सम्बन्ध मे अपराध को स्पष्ट, विवाद-रहित दुराचरण से पैदा होने वाला वास्तविक अपराध न मान कर अपराध-भावना समझ कर बहुत गम्भीर भूल की है। इस मत के पक्ष मे "अन्तराबन्ध का एक नवीन सिद्धान्त" शीर्षक के अनिर्दिष्ट लेखक (1958) का पत्र भी उद्धृत किया है जिसमे यह स्वीकार किया गया है कि अन्तराबन्ध एक ऐसी दशा है जिसमे एक व्यक्ति उत्तरोत्तर बढते हुए इस भय से कि कही उसके पाप उसके चेतनस्व को न जकड ले, प्रेरित होता है। तब, जोन नाम की (स्टैंडल और कोर्सिनी, 1959) युवती के साथ एक नाटकीय साक्षात्कार के वर्णन मे हमने यह देखा कि कुछ अन्तराबन्धी व्यक्तियो मे अपने दुराचरण को प्रकट करना और इस प्रकार आशावान हो शान्ति और समन्वय प्राप्त करना कितना सुखद होता है। लेकिन, पाप-स्वीकृति, जैसा कि हम जानते हैं, अस्थायी शान्ति तो दे सकती है, मगर स्थायी चिकित्सा के बिना। इस विचार का एक उदाहरण हाल मे बौइसन (1958) द्वारा प्रकाशित एक जीवन वृत्त मे मिलता है, जिसमे एक व्यक्ति भावात्मक रूप से विक्षुब्ध हो जाता है और व्यभिचार तथा नैतिकता विरोधी अन्य गम्भीर बातो को अपनी पत्नी के सामने स्वीकार करता है, लेकिन ईमानदारी के साथ की गई इस पाप-स्वीकृति से उसकी आत्मा को शान्ति मिलने की बात तो दूर रही, वह और भी अधिक विक्षुब्ध हो गया और उसे अस्पताल मे भर्ती होना पडा। बौइसन ने इस घटनाक्रम का जो अर्थ लगाया है वह इस प्रकार है

> "भावात्मक विक्षोभ पाप-स्वीकृति का फल न होकर उसका कारण था। लेकिन प्रबल सवेग ने पाप-स्वीकृति को बलात् इसी प्रकार पैदा कर दिया जिस प्रकार प्रकृति की उपचार शक्ति पहले फोडा अथवा दरार पैदा करती है और फिर उसमे से विषैले द्रव को बाहर निकालती है। और यदि इस प्रबल सवेग के शान्त होने मे कुछ समय लगा तो कोई आश्चर्य की बात नही है।" (पृ० 5–6)

दूसरे शब्दो मे, बौइसन ने जो मत यहा प्रस्तुत किया है वह यह है कि जब तक आन्तरिक सकट उस बिन्दु पर पहुचता है जहा यह पाप-स्वीकृति करवाने मे समर्थ हो जाता है, तब तक यह इतना वेग प्राप्त कर चुका होता है कि यह अपने क्रियात्मक उद्देश्य, पाप-स्वीकृति और अनावरणता की प्राप्ति से आगे भी व्यक्ति को खीचे चला जाता है। पहले उद्धृत पत्र मे मैंने एक अन्य सम्भावना का सुझाव दिया है कि पाप-स्वीकृति के बिंदु से आगे भी विक्षोभ इसलिए चलता रहता है (और इस प्रकार पाप-स्वीकृति निरर्थक और हानिकारक भी प्रतीत

कुछ समय तक, अपराध से उद्धार पाने के लिए इतना ही आवश्यक नही था कि अपराधी व्यक्ति अपराध स्वीकार करे और साधारण तप करे बल्कि इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक था कि वह अपने लिए और अपने उन प्रिय जनो के लिए, जिन्हे वर्तमान मे अथवा भविष्य मे किसी और समय पाप-शोधक स्थान मे रहना पडे, विशेष सेवा की माग करे (बैटन, 1950)। इस सम्बन्ध मे कोई भी उस मन्दिर के दृश्य की याद किए विना नही रह सकता जहा क्षमा का व्यापार करने वाले मुद्रापरिवर्तको को ईसा मसीह ने कोडो से पीटा था। ईसा मसीह के जीवन के अन्य किसी एक कर्म अथवा सभी सम्मिलित कर्मों की अपेक्षा इस विस्फोट ने रूढिवादी यहूदी धर्म के चारो ओर घेरा डालने वाली शक्तियो को उनके विरुद्ध कर दिया और वे उनकी हत्या का करण बनी। ,अपने समालोचको तथा अपनी अविनय के परिणामस्वरूप उत्पन्न आक्रोश से लूथर परिस्थितियो के बहुत ही असम्भाव्य सयोग के कारण बच सका, यदि कोई यह कहे कि जो क्रान्ति आई वह ईसाई "सुधार" की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण थी, तो कौन कह सकता है कि यदि लूथर भी शहीद हो गया होता तो क्या घटित होता ?

प्रोटैस्टेंट सुधार के घनीभूत होते ही, पाप-स्वीकृति और तप के सम्बन्ध मे आमूल परिवर्तन के लिए प्रेरित किया जाना, वास्तव मे, अपरिहार्य था। साधारण परिवर्तनो की तो तत्काल कल्पना की जा सकती थी, लेकिन इसके परिणामस्वरूप इन दोनो ही क्रियाओ का उन्मूलन कर दिया गया। यह तर्क दिया गया कि अनुकम्पा किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ की बात नही है, यह केवल ईश्वर से ही प्राप्त होती है। इसलिए, आपको अपनी बात प्रार्थना के रूप मे सीधे ही ईश्वर तक ले जानी चाहिए और किसी पादरी के व्यवधान के बिना सीधे ही उससे क्षमा याचना करनी चाहिए। यह प्रबन्ध प्रतिभा का एक महान् कार्य समझा गया। और मुझे अपने बचपन मे अपने पिता जी का बताया हुआ "चुटकला" याद है जो इस प्रकार है कुछ समय तक एक छोटे बच्चे को एक डालर प्रतिदिन दिया जाता और उससे कहा जाता कि वह पादरी के पास जाकर पाप-स्वीकृति कराए। अन्त मे, लडके के मन मे जिज्ञासा पैदा हुई और उसने अपने माता-पिता से पूछा कि पादरी को पाप-स्वीकृति किसने कराई थी ? उत्तर था कि बिशप ने। उसने फिर पूछा कि बिशप को पाप-स्वीकृति किसने कराई थी ? उत्तर मिला कार्डिनल ने। कार्डिनल को किसने पाप-स्वीकृति कराई ? पोप ने। और पोप को किसने पाप-स्वीकृति कराई ? पोप को कोई भी पाप-स्वीकृति नही करा सकता, लडके को मा-बाप ने बताया, वह अपने पापो को आप ईश्वर के पास ले जाता है। इस पर वह लडका, प्रेरणा से प्रफुल्लित हो उछल कर बोला "मेरे विचार मे मैं भी वैसे ही करूगा जैसे पोप करता है, मैं भी अपने पाप सीधे ही ईश्वर के पास ले जाऊगा और अपना डालर बचाऊगा।"

ईश्वर के पास पहुचने और पाप से मुक्ति प्राप्त करने के छोटे मार्ग के इस प्रबन्ध को एक महान् खोज, बन्धनो से मुक्ति तथा विजय के रूप मे स्वीकार किया गया। लेकिन इतिहास ने अभी यह व्यक्त करना है कि यह एक दु खद और व्ययसाध्य भूल थी। सामान्यत निश्चय ही, इसे मानने से इनकार नही किया जा सकता कि प्रोटैस्टेंट मत ने अपराध की समस्या के साथ बहुत बुरी तरह निर्वर्त्तन किया है। इसने अपने अनुयायियो को ऐसी अवस्था तक पहुचा दिया, जहा उन लोगो मे "रचनात्मक" और "महत्त्वाकाक्षी" होने का भूत सवार हो गया, लेकिन इसने हमारे लिए बडे पैमाने पर पैदा होने वाली आधि और चिन्ता की, जो आधुनिक युग का एक पहलू है, धरोहर भी दी है।[1]

धीरे-धीरे प्राटैस्टेंट मत अपने सिद्धान्त और व्यवहार मे अपनी इस सदिग्धता को स्वीकार करता जा रहा है और पाप-स्वीकृति की पुनर्स्थापना कर रहा है। यदि यह कथन आवेश-मात्र लगता हो तो मैं यहा "ईसाई बन्धु के लिए पाप-स्वीकृति" के विकास का उद्धरण दूगा जिसकी वकालत डीट्रिक बानहाफर (1954) ने अपनी पुस्तक "सम्मिलित जीवन" (Life Together) मे की है और जर्मन लूथरन चर्च मे जिसका व्यवहार होता है। लेकिन इससे भी और अधिक प्रसगानुरूप बात बताने के लिए मैं आपका ध्यान इस देश मे तथा अन्य देशो मे फिर से एक बडे पैमाने पर प्रयुक्त होने वाले धर्माचार्य के परामर्श की ओर आकर्षित करना चाहूगा, यद्यपि इसका बाहरी रूप धर्मनिरपेक्ष मनोरोग-चिकित्सा का है लेकिन निश्चय ही यह वेशान्तर से पाप-स्वीकृति का पुनरागमन है। (देखो विशेष तौर पर, मीहल वर्तमान, 1958, पृ० 68–69) [देखो और भी अध्याय 11 और 12]

---

1. एक पाद-टिप्पणी में फ्राम (1955) कहता है "सभी गणनाओं से यह प्रदर्शित होता है कि कैथालिक देशों की अपेक्षा प्रोटैस्टेण्ट देशों में आत्म-हत्या की दर बहुत ऊची है। कैथालिक और प्रोटैस्टेण्ट धर्मों के आपसी भेदों की अनेक बातों पर यह आधारित हो सकता है, जैसे, अपने अनुयायियों के जीवन पर कैथालिक धर्म का अधिक प्रभाव, कैथालिक चर्च के द्वारा अपराध-भाव के साथ निर्वर्त्तन करने के लिए अधिक युक्त उपायों का प्रयोग में लाना, आदि। लेकिन यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रोटैस्टेण्ट देश वे देश हैं जिनमें उत्पादन का पूजीवादी रूप अधिक विकसित हुआ है और कैथालिक देशों की अपेक्षा, इन देशों में जनता का स्वरूप अधिक परिवर्तित हुआ है, इसलिए प्रोटैस्टेण्ट और कैथालिक देशों में जो भेद है वह आधुनिक पूजीवाद के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अधिकतर भेद है" (पृ० 151)। इस प्रकार जो छोटी-सी कहानी ऊपर बताई गई है वह दो प्रकार से प्रकाश डालती है यह वैयक्तिक अपराध के साथ निर्वर्त्तन करने की प्रोटैस्टेण्ट मत की न्यून क्षमता ही प्रदर्शित नहीं करती, बल्कि समृद्धि और आर्थिक सम्पन्नता के प्रोत्साहन को भी प्रकट करती है।

मगर, क्योकि धर्माचार्य परामर्श धर्मनिरपेक्ष मनोरोग-चिकित्सा मे इतना अधिक प्रेरित है और उसके अनुरूप इतना ढला हुआ है कि यदि इसमे भी दोप हो तो कोई आश्चर्य की वात नही है। हमे यह वात यहा फिर स्मरण करनी चाहिए कि धर्मनिरपेक्ष मनोरोग-चिकित्सा अपराध मे विश्वास नही रखती है, यह केवल अपराध-भावना मे विश्वास रखती है (अथवा एक "अपराध-भाव" मे, व्हाइट, 1956), और इस प्रकार की पाप-स्वीकृति जिस उद्देश्य को प्रोत्साहित करती है—स्वतन्त्र साहचर्य के द्वारा, वह "अन्तर्दृष्टि" है, पश्चात्ताप और प्रतिदान नही। इसके अतिरिक्त भी, जैसाकि वानहाफर (1948) ने अपनी पुस्तक, 'शिष्यत्व का मूल्य' (The Cost of Discipleship) मे तर्क देते हुए प्रदर्शित किया है, प्रोटैस्टेण्ट मत जिसे "अल्पमूल्यी अनुकम्पा" कहता है उसके वदले मे उसने "पाप-स्वीकृति और प्रायश्चित्त" की विधि को वास्तव मे त्याग दिया है।

> "अल्पमूल्य अनुकम्पा पश्चात्ताप के विना क्षमा का उपदेश देना है, चर्च के अनुशासन के विना नामकरण करना है, पाप-स्वीकृति के विना भगवद् सामीप्य प्राप्त करना है, अनुताप के विना पाप-मुक्ति है। सुलभ अनुकम्पा शिष्यत्व के बिना अनुकम्पा है, क्रौस के विना अनुकम्पा है, जीवित और सशरीर जीसस क्राइस्ट के बिना अनुकम्पा है ।
>
> बहुमूल्यी अनुकम्पा बार-बार अभ्यर्चनीय सुवार्ता है, प्रार्थनीय अनुदान है, बार-बार खटखटाने योग्य द्वार है।
>
> इस प्रकार की अनुकम्पा बहुमूल्यवान् है क्योकि इसमे अनुसरण करने का आग्रह होता है और यह अनुकम्पा इसलिए है कि इसमे ईसा मसीह (Jesus christ) का अनुसरण करने का आग्रह होता है। यह बहुमूल्यवान् इसलिए है कि इसमे व्यक्ति को अपना जीवन चुकाना होता है, और यह अनुकम्पा इसलिए है कि यही मनुष्य को सच्चा जीवन प्रदान करती है। यह अधिक मूल्यवान् इसलिए है कि यह पाप की निन्दा करती है और अनुकम्पा इसलिए है कि यह पापी का पक्ष लेती है (पृ० 38—39)।"

इसलिए धर्मनिरपेक्ष चिकित्सा के अनुरूप धर्माचार्य-उपदेश मे भी जैसा कि इसे हम जानते हैं, धर्मनिरपेक्ष चिकित्सा की तरह, मुक्ति और वैयक्तिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए निर्णायक और अन्तिम कदम की कमी रह जाती है। यदि रुग्णतन्त्रिक के अपराध को गम्भीरतापूर्वक लिया जाए, अर्थात् यदि आधि को पाप की स्थिति और सामाजिक विघटन का, चिकित्सा की दृष्टि से, मगलकारी

नामान्तर ही समझा जाए, तो इसकी चिकित्सा के लिए, स्पष्ट ही परामर्श-मात्र से आगे भी जाना होगा, इसके लिए अपने मन की बातो को, चिकित्सक के सामने ही नही, बल्कि उन सब व्यक्तियो के सामने जो रोगी के जीवन मे महत्त्व रखते हैं, साफ-साफ प्रकट करना होगा, और फिर जिन पापो के लिए व्यक्ति स्पष्ट तौर पर उत्तरदायी है उनके परिमार्जन के लिए अपनी पूर्ण शक्ति से किए गए प्रयत्नो के रूप मे रोगी के सचेष्ट उद्धार के मार्ग पर आना होगा।[2]

इस अवस्था मे, वस्तुत कठिन धर्मशास्त्रीय विवाद मे ग्रस्त हो जाना सरल है कि मुक्ति "अच्छे कर्मों" से मिलती है अथवा "अनुकम्पा मात्र" से। जहा तक मेरी बात है, मैं तो इस बात पर अधिक तर्क देना नही चाहता, लेकिन इतना अवश्य कहूगा कि मै ईश्वर-दूत पाल और मार्टिन लूथर के विरोध मे, अथवा कम से कम उनके उपदेशो का जो अत्युक्तिपूर्ण अर्थ लगाया जाता है उसके विरोध मे ईश्वर-दूत जेम्स और डीट्रिक वानहाफर के पक्ष मे हू। यह बात तो स्वीकार कर ही लेनी चाहिए कि किसी व्यक्ति को अपने सदाचारी होने का दावा करना शोभा नही देता—निश्चय ही इसका निर्णय तो दूसरो को करना होता है। लेकिन यह मान्यता कि अनुकम्पा, उद्धार अथवा परिवर्तन केवल दैवी चयन अथवा वरण से प्राप्त होता है, मेरे विचार मे, सम्पूर्ण समस्या को जड़-मूल से नष्ट करने के समान है (देखो अध्ययन 11, और मौरर, 1961)।

---

2 वास्तव में कैथालिक चर्च ने सदा ही अपराध को इस सीमा तक गम्भीरता के साथ लिया है कि इसने अनुताप, पाप-स्वीकृति और सन्तुष्टि अथवा तप की आवश्यकता स्वीकार की है (कैथालिक एनमानक, 1959 पृ० 277)। और इसलिए कभी-कभी प्रश्न किया जाता है कि यदि पाप की व्यवस्था और मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध है तो कैथालिक लोगों में व्यक्तित्व के विक्षोभ मे जितना वर्तमान में संरक्षण मिलता है, उससे अधिक संरक्षण क्यों नहीं मिलता? उत्तर यह प्रतीत होता है (क) बहुत से कैथालिक लोगों का वास्तव में प्राय अच्छा मानसिक स्वास्थ्य होता है, (ख) कुछ कैथालिक लोग—और वास्तव में उन्हें पाप-स्वीकृति कराने वाले (आचार्य) पाप-स्वीकृति और तप के प्रति अनास्था रखते हैं, अर्थात् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दण्ड का अपराध के साथ युक्त सम्बन्ध नहीं बैठता, और (ग) कैथालिक चर्च अनुताप, पाप-स्वीकृति, और तप को पवित्र संस्कार (sacrament) मानता है जिसका प्रधान उद्देश्य मानसिक स्वास्थ्य अथवा इस जन्म में समायोजन न होकर परलोक में मुक्ति होता है। इसीलिए, कैथालिक धर्म, सिद्धान्त अथवा व्यवहार में इस बात की कोई स्पष्ट परीक्षा प्रस्तुत नहीं करता कि पाप-स्वीकृति और तप का प्राकृतिक क्रिया के रूप में क्या फल हो सकता है।

कैथालिक प्रसंग में स्वीकृति के प्रकृतिवादी (मनोवैज्ञानिक) अभिप्रेत अर्थ के बहुत ही अनूठे तथा असाधारण विचारण के प्रयास के लिए विल्मन (1954) देखिए (अध्याय 11 तथा 12 भी देखिए)।

इस समय कोई भी चिकित्सा-सम्बन्धी अथवा "उद्धार-सम्बन्धी" विचार-धारा, चर्च के अन्दर अथवा बाहर, इतनी सफल नही हुई है जितनी कि 'एलकोहोलिक्स एनोनिमस'। इसमे अपराध को मूल माना गया है और इसे वास्तविक मानते हुए साफ-साफ स्वीकार करना पहला आवश्यक कदम माना गया है, जिसके बाद अनुदान और अच्छे कार्यों की निश्चित योजना आती है। कभी-कभी जब "एलकोहोलिक्स एनोनिमस" की कृतियो का उल्लेख किया जाता है तो यह प्रश्न उठता है लेकिन आक्सफोर्ड वर्ग भी सफल क्यो नही हुआ ? कुछ सीमा तक आक्सफोर्ड वर्ग को भी सफलता मिली है (देखो क्लार्क, 1951), और वह सीमा यह थी कि इसने पाप-स्वीकृति और मन की बात को बाहर प्रकट करने को प्रोत्साहित किया लेकिन अपने सदस्यो को इससे आगे ले जाने का इसके पास कोई प्रबन्ध न था। यदि इस विचारधारा ने इससे अधिक और कुछ नही किया तो भी इसे एए के सगठन को जिसमे शुद्ध बकमैनिज्म (Buchmanism) की कमजोरियो को "मिशन" और दया के निश्चित प्रोग्राम के द्वारा प्रकट किया गया है, प्रेरित करने का श्रेय तो मिलना ही चाहिए।

एए ने जिस प्रयोग को प्रकाशित किया है वर्तमान मे उसी पर से भविष्यत् के मार्ग की ओर टकटकी लगा सकता हू और उसे देख भी सकता हू। दूसरे प्रकार के सभ्रान्त और दु खी व्यक्तियो की आवश्यकताओ का सामना करने के लिए, एए के सिद्धान्तो को किस प्रकार अनुकूल और परिवर्तित किया जा सकता है यह मुझे पूरी तरह स्पष्ट नही है। लेकिन मैं जितनी स्पष्टता से किसी और बात को देख सकता हू उतनी ही स्पष्टता से इस बात को भी देखता हू कि जो चिकित्सा-पद्धति रुग्णतन्त्रिक के अपराध को गम्भीरतापूर्वक नही लेती और जो व्यक्ति की त्रुटियो को सबके सामने स्वीकार करने मे और सच्चाई के साथ उनका सुधार करने और उनके लिए प्रतिदान करने मे उसकी सहायता नही करती वह बुनियादी और व्यापक तौर पर सफल नही हो सकती।

एक सक्रिय चर्च के सदस्य के नाते मेरा यह विश्वास है कि ईश्वर का प्रत्यय मार्मिक और सारगर्भित है और ईश्वर और मनुष्य के बीच तथाकथित सीधी ऊचाई का आयाम भी मार्मिक अथवा सारगर्भित हो सकता है। परन्तु मेरा विश्वास है कि यह सम्बन्ध तभी मार्मिक और सारगर्भित हो सकता है, यदि इसकी पूर्ति के लिए, तथा प्राय इससे पूर्व, क्षैतिज आयाम, अर्थात् मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्ध को व्यक्ति अत्यधिक महत्त्व प्रदान करे। सम्पूर्ण परिस्थिति को ठीक ही "त्रिभुजरूपाकार" बताया गया है जिसके तीन कोनो पर ईश्वर, व्यक्ति और उसके दूसरे साथी हैं। इस सम्बन्ध के स्वरूप को अच्छी तरह इन पक्तियो मे भी व्यक्त किया गया है

वह दूषित मिट्टी तैयार की जिसमे मनोविश्लेपरण पैदा हुआ और विकसित होने लगा। "(प्रारम्भ मे) मेरी चिकित्सा सम्बन्धी औषध-शाला मे," फ्रायड ने कहा, "दो अस्त्र थे, विद्युत्-चिकित्सा और सम्मोहक, क्योकि एक बार के परामर्श के बाद ही रोगी को जल-चिकित्सा सस्थान मे अपने को दिखाने का परामर्श देना आमदनी का पर्याप्त स्रोत नही था" (पृ॰ 25)। और आखिरकार फ्रायड जब विद्युत्-चिकित्सा और सम्मोहन दोनो से दु खी हो गया तो उसने अपने मरीज की बात सुननी शुरू कर दी। देखने मे अशोभनीय लगने वाले इस प्रारम्भ से प्रख्यात विश्लेषणात्मक विधि निकली।

जैसाकि हम इस समय देख रहे हैं, फ्रायड ने भावात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दु खी व्यक्ति को जो हल दिया था वह धार्मिक हल से बहुत दूर था और अब हमे यह भी सदेह होने लगा है कि यह वैज्ञानिकता से भी बहुत दूर था। फिर भी तथ्य यह है कि फ्रायड और उसके वे शिष्य जिन्हे उसने शीघ्र ही आकर्षित कर लिया कम से कम इन दु खी, विक्षिप्त व्यक्तियो के साथ अन्धकार की घाटी मे इस प्रकार चलते थे जिस प्रकार चलने के लिए उस समय का कोई डाक्टर या कोई पादरी तैयार नही था। निश्चय ही एक धर्म-शास्त्री का हाल का यह कथन महत्त्वहीन नहीं है "इस बात को अलग रखते हुए कि फ्रायड का सिद्धान्त ठीक था अथवा गलत उसने कम से कम दु खी व्यक्तियो के एक ऐसे वर्ग का उपचार करने का प्रयत्न किया जिनकी ओर चर्च ने, समान रूप से प्रोटैस्टेंट तथा कैथालिक दोनो ने, अपनी पीठ फेर ली थी। यह हमारे लिए अपरिहार्य और स्थायी लज्जा की बात है!" (डी वाइर, 1958)।

19वी सदी के अन्त मे कैथालिक चर्च 'सुधार' के कारण पैदा हुए अपने घावो को सहला रहा था और गैलिलियो के साथ निर्वर्त्तन करने मे जो भूलें हो चुकी थी उनकी याद करके घोर व्यथा का अनुभव कर रहा था। जो दशक अभी बीते हैं, उनमे चर्च के प्रामाण्य को, वास्तव मे, डार्विन के विकासवाद ने और भी चुनौती दी है। यद्यपि प्रोटैस्टेण्ट मत ने विज्ञान का, शायद उतनी मात्रा में विरोध प्रदर्शित नही किया, लेकिन यह भी अपराध की समस्या का प्रभावहीन ढग से निर्वर्त्तन करने के कारण, जिसके साथ कुछ अन्य कारण भी थे, सदिग्ध अवस्था मे ही था। इसलिए जब फ्रायड ने, विज्ञान के नाम मे, मन के क्षेत्र मे अपनी खोजो को उतना ही क्रान्तिकारी बताना प्रारम्भ किया, जितनी क्रान्ति-कारी कौपरनिकस और गैलिलियो की खोजें ज्योतिष-विज्ञान मे, और डार्विन की खोजें जीव-विज्ञान के क्षेत्र मे थी तो इसका विरोध करने की धर्म मे शक्ति न थी।

यद्यपि फ्रायड ने इस प्रकार जो कुछ कहा वह सब विज्ञान के नाम मे कहा और धर्म-सम्बन्धी सभी विचारो को इससे अलग रखा फिर भी उसका यहूदी

होना और मनोविश्लेपण जिस ढग से विकसित हुआ है उसका उस ढग से विकसित होना कोई आकस्मिक बात नही है। जिसे उसने "सुसहत बहु-सख्या" कहा उसके हाथो से बार-बार प्रताडन और निराशा मिलने पर, सगठित धर्म की असफलताओ और व्याकुलता पर सतोप की साँस लेने के सिवाय और कोई चारा न था, और जिसे वह अपनी वैयक्तिक अवज्ञा का ही कारण नही समझता था बल्कि मानव जाति मात्र का शत्रु समझता था उस पर प्रहार करने का कोई भी अवसर उसने चूकने नही दिया (सदर्भ, फ्रायड, 1928)। उन सुअवसरो और अधिकारो से वञ्चित होने पर, कम से कम वह ऐसा सोचता था, जो उसके ईसाई होने पर उसे सुलभ होते, उसने पारम्परिक मर्यादा की सीमा मे कार्य करना बन्द कर दिया और ऐसी अभिवृत्ति विकसित की जिसे वह शोभनीय अल्पोक्ति का रूप देकर, "स्वतन्त्र निर्णय की विशेप मात्रा कहता है" (पृ० 11)।

III फ्रायड और कब्बाली परम्परा

विचारो और मूल्यो की परम्परा से फ्रायड को कितनी अरुचि थी यह तब स्पष्ट हो जाता है जब हम यह देखते है कि वह ईसाई धर्म से ही दूर नही था बल्कि यहूदी धर्म की प्रधान धाराओ मे भी दूर था। डैविड बकन की एक अद्भुत पुस्तक 1958a से, जिसके सम्बन्ध मे अगले भाग मे विस्तार से विचार किया जाएगा, हमे पता चलता है कि फ्रायड का परिवार, वियाना के अनेक अन्य यहूदियो के साथ, प्रवासी के रूप मे गलीसिया से आया था, जो, बकन के कथनानुसार, "कब्बाली प्रकार के यहूदी रहस्यवाद के रग मे रँगा हुआ था (पृ० 80)।" यह जाति अथवा विभाजित वर्ग परम्परागत रबीनी यहूदी धर्म से अनेक प्रकार से भिन्न था, जिसमे, जैसाकि बकन ने दक्षतापूर्वक दिखाया है, मनोविश्लेपण की महत्त्वपूर्ण और भेदक विशेपताओ का पूर्वाभास मिलता है। निम्नलिखित सकलित उद्धरण कब्बाल परम्परा की प्रधान विशेपताए लिए हुए है और इसमे मनोविश्लेपण के साथ इसके सम्बन्ध के बारे मे आकस्मिकता के विचार मे कुछ परिवर्द्धन होता है।

> "श्रुतपरम्परा के अर्थ मे कब्बाल का एक अर्थ परम्परा है। इसका दूसरा अर्थ योगियो को ईश्वर के सामने स्वीकार किये जाने के सदर्भ मे स्वीकृति भी है। इसका तीसरा अर्थ वह व्यक्ति है जिसे स्वीकार किया जाता है, जिसमे इसका ब्रह्म ज्ञान का स्वरूप लक्षित होता है। कब्बाल को एक प्रकार का गुप्त ज्ञान बताया जाता है जिसमे यह प्रकट है कि इसे दीक्षित व्यक्ति ही समझ सकते है ।
>
> सदा ही कब्बाल के इर्द-गिर्द, खतरे की गन्ध रही है, शायद इसका

कोई शुभ कारण है । बाद मे हुए मनोविश्लेषण के विकास के प्रकाश मे यदि हम इस खतरे को, अवरुद्ध सामग्री के चेतना मे लाने के खतरे से सम्बन्धित करे तो अच्छी प्रकार समझ सकते है (पृ० 70) ।

फ्रायड और फ्लीस की मित्रता की जो चर्चा हम पहले कर चुके हैं उसे याद करने पर कब्बाली परम्परा से इस सम्बन्ध के स्वरूप के विषय मे और भी एक सकेत मिलता है । *मनोविश्लेषण सम्बन्धी अपनी कृति मे,* जो हमारे मत मे कब्बाली विचारधारा की है फ्रायड को एक "सहारे" की आवश्यकता थी, क्योंकि किसी व्यक्ति के लिए अपने अध्ययन मे अकेले ही कब्बाली विचार का बोझ उठाना बहुत कठिन था ।

सारी परम्परा रहस्य के भाव से व्याप्त है ।

कब्बाली लोग रहस्य और शक्ति से सम्पन्न थे (पृ० 71) ।

जैसाकि आगे आने वाली पक्तियो मे स्पष्ट होगा, दमन का एक सिद्धान्त और दमन मे अह के *हाथ* का सिद्धात बीज रूप मे पहले *ही था ।* आत्मा की वाछनीय मुक्ति प्राप्त करने के लिए अबुलफिया (तेरहवी सदी के एक स्पैनिश कब्बाली) के पास ध्यान लगाने की दो विधिया थी। इनमे अर्थ लगाने की पहली विधि वह है जो वर्णमाला के अक्षरो के साथ मनमानापन करने पर आधारित है (पृ० 76) ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण विधि जिसके लिए पहली विधि तैयारी मात्र है 'उछल कूद' कहलाती है (जिसे बकन स्वतन्त्र साहचर्य विधि की पूर्वगामी समझता है) (पृ० 77) ।

इस प्रकार के ध्यान से सम्बन्धित बौद्धिक आनन्द भी है जिसका मनोविश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि से तादात्म्य हो सकता है (पृ० 79) ।

इससे *आगे यह बात* और *भी है कि,* अबुलफिया *कब्बाली शिक्षा* को बहुत ही महत्त्वपूर्ण, सक्रमण के विचार का अग्रदूत मानता है (पृ० 80) ।"

फ्रायड का कब्बाली विचारधारा से सम्पर्क था, यह बात ऊपर बताए हुए तथ्यो से निश्चित हो जाती है, लेकिन इनमे यह तथ्य भी जोडा जा सकता है कि उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध मे अडोल्फ जैलिनक, जो कब्बाल का अपरोक्ष रूप से शिष्य था, बकन के कथनानुसार, 'वियाना शहर का अपने समय का सबसे अधिक लोकप्रिय यहूदी उपदेशक था ।" यह कहा जाता है कि जब जैलिनक सप्ताह के अत मे वीयाना के यहूदियो को उपदेश देता तो अगले सप्ताह भर यह चर्चा होती रहती थी कि उसने क्या कहा है ।" (पृ० 81)

यहा हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि फ्रायड ईसाई धर्म से ही दूर नही

था, उसे रूढिवादी जूडाइज्म से भी कोई लगाव नही था। मगर इस बात की बहुत सम्भावना है कि वह अमगलकारी प्रकार के एक मात्र यहूदी रहस्यवाद से, जाने या अनजाने रूप से, प्रभावित हो। विज्ञान के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करते हुए तथा अन्य प्रकार से भी फ्रायड ने प्रख्यात यूनानी सस्कृति की प्रशसा और उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है—यह एक ऐसा तथ्य है जो सर्वविदित है। लेकिन कब्बाली धर्म के साथ उसके सयोजन, जैसाकि बकन ने बताया है, का ज्ञान नया है, और यह मनोविश्लेपण को एक आश्चर्यजनक सदर्भ मे ला रखता है, जिस पर और विचार अगले अनुभाग मे होगा।

IV क्या फ्रायड ने "वैताल का अभिनय" किया ?

यह एक विलक्षण बात है कि जिन वास्तविकताओ के सत्य होने की हम आशा नही रखते अथवा उनके सत्य होने की कामना नही करते उन्हे देखने मे हम कभी कितने सुस्त होते हैं। आज से तीस वर्ष पहले इस लेखक की मनोविश्लेपण मे पहली बार रुचि हुई और इसने इसे मनोरोगचिकित्सा की विधि तथा एक नवीन जीवन-मार्ग के रूप मे अपनाया। दो दशको के काल मे उसने इसे "सफल" बनाने का प्रयत्न किया लेकिन सब व्यर्थ, और इसलिए धीरे-धीरे वह मनोविश्लेपण के विषय मे शकालु हो गया और परम्परागत विचारो और मूल्यों पर वापिस आ गया और आज इस प्रकार का अनुभव असाधारण नही है। फिर भी एक व्यक्ति को आश्चर्य होता है, उसके मन को आघात भी पहुचता है, जब बकन द्वारा अपनी पुस्तक 'फ्रायड और यहूदी रहस्यवादी परम्परा' (1958 a) मे सकलित किए गए उन प्रमाणो को पढता है जो उसने इस विश्वास को पैदा करने के लिए इकट्ठे किए है कि फ्रायड ने ईश्वर के विषय मे मोजाइक और ईसाई प्रत्यया को ही नहीं ठुकराया, बलिक वैताल (Devil) के साथ तादात्म्य किया।

यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि, जैसा बकन कहता है, फ्रायड का धर्म-प्रणेता मोजज के साथ जीवन-मौत का द्वन्द्व था। शायद मनोविश्लेपण का सबसे बुनियादी सिद्धान्त यह है कि आधि पराहम् की अतिकठोरता के कारण होती है, और यह कहा जा सकता है कि फ्रायड ने अन्त करण, पराहम्, धर्म, और उपपत्ति मे, धर्म-प्रणेता का विरोध करने के स्पष्ट उद्देश्य को लेकर मनोविश्लेपण का "आविष्कार" किया। तब, बकन (1958b) अपना तर्क प्रस्तुत करता है

> "यदि फ्रायड अपने आपको नया धर्म-प्रणेता समझता है तो वह एक साथ निश्चय से पूर्व धर्म-प्रणेता मोजज के समान होना चाहिए और

उसकी गद्दी उसे मिलनी चाहिए और वह मौजज का विध्वसक होना चाहिए। नए धर्म-प्रणेता को पुराने धर्म का प्रतिसहरण करना चाहिए। मौजज के साथ तादात्मीकरण का आशय इसके विल्कुल विपरीत, मौजज का विध्वस बैठता है" (पृ० 323–24)।

"तालमड और अन्य रबीनी लेखो मे मोज़ाइक सहिता के आदेशो का विस्तार है जिन्हे प्रत्येक यहूदी प्रतिक्षण प्रत्येक कर्म का पथप्रदर्शक मानता है। एक शब्द मे, मौजज पराहम् का, अर्थात् उस शक्ति का, जो व्यक्ति को 'मूलप्रवृत्त्यात्मक परितुष्टि' से दूर रखने के लिए उसके अन्दर पैदा होती है, प्रतिनिधि है। यह शक्ति जो मूलप्रवृत्त्यात्मक परितुष्टि के त्याग को बनाए रखती है, दण्ड का भय है। (मिकलगेलो द्वारा निर्मित मौजज की) एक मूर्ति पर विचार-विमर्श के रूपक मे फ्रायड कहता है कि जिस दण्ड का भय होता है वह कभी नही घटता। पराहम् सयमित हो जाता है (पृ० 324)।"

"फ्रायड, जो बार-बार अपना परिचय एक यहूदी के रूप मे देता है वह मौजज और एकेश्वरवाद के द्वारा और अधिक प्रकाश मे आता है। यदि यहूदी ही ऐतिहासिक पराहम् का बोझा उठाने वाला है तो वास्तव मे एक यहूदी ही पाप के भाव को समाप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध मे हमे फ्रायड का यह कथन स्मरण हो आता है कि मनोविश्लेषण की रचना कोई यहूदी ही कर सकता था, अपने एक स्विस मित्र, ओस्कर फिस्टर को एक पत्र मे उसने लिखा था, '—अच्छा, यह कैसे हुआ कि कोई भी ईश्वरवादी मनोविश्लेषण की रचना न कर सका और इसके लिए किसी अनीश्वर-वादी यहूदी की प्रतीक्षा करनी पडी ?' यदि यहूदी लोग धर्म (Law) के प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं तो एक यहूदी ही यह घोषणा कर सकता है कि धर्म (Law) मृत हो चुका है। इस वृहत्तर सास्कृतिक अर्थ मे मनोविश्लेषण के विषय मे हम यह समझ सकते है कि यह यहूदियो की चिर-प्रतिष्ठित प्रतिमा को बदलने का मूलभूत प्रयत्न है। इस प्रकार फ्रायड नवीन मौजज का अभिनय करता है जो वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता के लिए समर्पित नए धर्म को लेकर उतरा है (पृ० 329)।"

फ्रायड और मनोविश्लेषण के लिए रुग्णतन्त्रिक व्यक्ति की चिकित्सा करने का अर्थ इस प्रकार, मानव जाति को मौजाइक धर्म से मुक्ति दिलाना मात्र था। इस कार्य को बकन (1958a) ने "मसीही" बताया है। वह कहता है

"मसीहवाद की एक प्रमुख विशेषता दासता और दमन से लोगो को

> मुक्त कराने का लक्ष्य है। इस प्रकार इस दृष्टि से मनोविश्लेषण की रचना करने के फ्रायड के सम्पूर्ण प्रयत्न को मसीही कहा जा सकता है (पृ० 170)।"

लेकिन क्योकि दमनकर्ता शक्तिशाली मौजज के अतिरिक्त अन्य कोई नही था और क्योकि उसका परम्परागत विरोधी स्वय वैताल था, इसलिए यह बात तर्क-सम्मत लेकिन आश्चर्य-चकित करने वाली लगती है कि फ्रायड ने जान-बूझ कर अपना तादात्म्य वैताल के साथ किया हो। अध्याय 22 के अन्त मे बकन ने अपने सहयोगियो से एक बार की गई फ्रायड की एक टिप्पणी का उद्धरण दिया है

> "क्या आप लोग यह नही जानते हो कि मैं वैताल हू ? अपने जीवन भर मैं एक वैताल का कार्य इसलिए करता रहा ताकि दूसरे लोग उस *सामग्री से, जो मैंने पैदा की है, सुन्दर महामन्दिर बना सकें (पृ० 181)।"*

इसके बाद वे पाच अध्याय है जिनमे "निलम्बित पराहम् के रूप मे वैताल" शीर्षक का बकन की पुस्तक का चतुर्थ भाग समाहित है। 1923 मे फ्रायड ने "सत्रहवी सदी मे पैशाची अधिकार" पर एक अद्भुत पत्र प्रस्तुत किया जिसमे वह चित्रकार क्रिस्टोफ हैज्रमन की कहानी सुनाता है जिसने हतोत्साह और अवसाद के समय वैताल से यह सविदा किया कि अपनी कला मे सफलता और विपाद से निवृत्ति मिलने पर नौ वर्ष के अन्त मे वह बदले मे वैताल को अपने शरीर और आत्मा के रूप मे स्वीकार कर लेगा। जब सविदा पूरा करने का समय आया तो हैजमन बहुत अधिक उत्तेजित हो गया (ऐसे लक्षण प्रकट करते हुए जो आजकल अन्तरावन्ध के लक्षण माने जाते है—देखो मकालपाइन और हटर, 1956) और उसने सफलतापूर्वक पादरी की मध्यस्थता और सरक्षण प्राप्त किया।

'फ्रायड और यहूदी रहस्यवादी परम्परा' मे बकन यह सिद्धान्त विकसित करता है और इसके पक्ष मे प्रतीतियोग्य लिखित प्रमाण देता है कि, कम से कम लाक्षणिक अर्थ मे, लगभग 20 वर्ष पहले फ्रायड ने "शैतानी सविदा" किया और मनोविश्लेषण उसका परिणाम था। 1900 मे डाइ ट्रामब्यूटिंग (Die Traumbeutung) (जिसे फ्रायड अपनी उत्कृष्ट कृति मानता है) के प्रकाशित होने से पहले कुछ समय तक फ्रायड निरुत्पादन, हतोत्साह, और विपाद की अवस्था मे रहा (जैसाकि अब फ्लीस के पत्र-विनिमय से पता चलता है, देखो बकन, 1958a, पृ० 221 और पृ० 224)। लेकिन फिर उसके सवेगो और

मानसिक शक्ति मे परिवर्तन अथवा पुनर्गठन हुआ, और—इस सम्बन्ध मे कि यह परिवर्तन कैसा था इस पुस्तक के शीर्षक पृष्ठ पर लैटिन मे दिए हुए आदर्श वचन से हमे सकेत मात्र से अधिक कुछ और मिलता है। वर्जिल की एनीड (Aeneid) के एक गद्यांश से यह उद्धरण लिया गया है, सम्पूर्ण को अनूदित करने पर पाठ इस प्रकार बनता है

"अच्छा, यदि मेरी शक्तिया पर्याप्त नही है, तो जहा कही भी मुझे सहायता मिल सकेगी, वहा से सहायता मागने मे मैं कोई सकोच नही करूगा—यह निश्चित है। यदि ऊपर के देवगण मेरे किसी काम के न निकलें तो मैं सम्पूर्ण नरक को हिला दूंगा।"

और यहा पर बकन अन्तर्दृष्टिपूर्ण अपनी टिप्पणी देता है

"यदि ईश्वर का तादात्मीकरण पराहम् से किया जाए तो उसकी प्रतियोगी प्रतिमा नरक मे रहने वाले पिशाच की होगी। जैसाकि हम पहले सकेत कर चुके है, मनोविश्लेपणात्मक सम्बन्ध मे मनोविश्लेषक एक साथ पराहम् और सहनशील विवेकी पिता की मूर्ति का प्रतिनिधि होता है। अब, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैताल क्या है ? एक स्तर पर इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। यह वैताल निलम्बित पराहम् है। यह अनुमोदक पराहम् है। वैताल व्यक्ति का वह अश है जो उसे पराहम् के आदेशो को तोडने की स्वीकृति देता है (पृ० 211)।"

सक्षेप देने वाले अध्याय 27 मे, बकन कहता है

"सम्मोहन, कोकेन और सक्रमण पर विचार-विमर्श करते हुए, पराहम् के निलम्बन के सकेतो का सुझाव दिया गया था। इस विचार-विमर्श मे वैताल के विचार के समावेश से उस बडे नाटक का भेद खुल जाता है जो मनोविश्लेषण की रचना करते समय फ्रायड के मन मे रचा जा रहा था (पृ० 212–213)।"

और अन्त मे अध्याय 30 के अन्त मे जो पाठ है वह इस प्रकार है

"तो फिर निराशा का इलाज वैताल है। जब सब आशाए समाप्त हो जाती हैं तो उसे एक अभावोत्पादक कर्म के रूप मे याद किया जाता है। इस मोहक देव का मूल सदेश यह है कि प्रलोभन पर सयम रखने से सम्बन्धित जिस पुरस्कार की आशा की जाती है वह कभी प्राप्त नही

होता, और धर्म-निष्ठा निराधार है। यह बैताल नई आशा उपस्थित करता है, और अपने अनुग्रह के तात्कालिक संकेत के द्वारा वह इस वायदे को पूरा करता है। लेकिन क्योंकि इन संकेतों से इतनी राहत मिलती है, इसलिए व्यक्ति वैताल के साथ अपने सम्बन्धों में वैताल को अपने ऊपर पूर्ण अधिकार करने देता है क्योंकि वह समझता है कि ईश्वर का तो उसके ऊपर अधिकार पहले ही हो चुका है।

और अधिक धर्मनिरपेक्ष शब्दों में, फ्रायड अत्यधिक विषादग्रस्त था। उसका आत्म-विश्लेषण, और मनोविश्लेषण की रचना उसके विषाद की चिकित्सा थे। उसे अपने चिकित्सा व्यवसाय में इस बात के काफी प्रमाण मिल चुके थे कि जिन रोगों से दूसरे व्यक्ति दुःखी हैं और जिनके लिए कोई और आशा नहीं है, उनकी चिकित्सा इसी प्रकार से हो सकती है। अपनी जीविका कमाने में निराश होने पर और यहूदी-विरोध के कारण निराश होने पर वह अपनी इस 'धृष्टता' से कुछ खोने वाला नहीं था। इसके साथ यह बात भी है कि वह जिन विधियों की रचना करने में लगा हुआ था उनसे कम से कम, उसके पास रोगियों का आना तो निश्चित हो गया था और इसमें कम से कम जीविका कमाने की समस्या तो हल हो गई थी (पृ० 236)।"

इस प्रकार क्या बकन विकसित और लिखित प्रमाणों से अपना यह मत सबल बनाना चाहता है कि फ्रायड ने, कम से कम आलंकारिक रूप से वैताल का कर्म अभिनीत किया—लेकिन उसने यह सब किसी अच्छे लक्ष्य के लिए किया। जैसा कि हम जानते हैं, वैताल द्वारा इस प्रकार अभिनय करने का अर्थ अन्ततोगत्वा विनाश पैदा करना है। स्थिति के इस पहलू पर अब हम ध्यान देते हैं।

V मनोविश्लेपणकर्ता का कार्य—
चिकित्सक के रूप में अथवा मोहक के रूप में ?

जिस अर्थ में मध्य युग में लोग वैताल के विषय में सोचते थे उस अर्थ में अब कोई वैताल में "विश्वास" नहीं करता। इसके स्थान में, अब हम फ्रायड और मनोविश्लेषण में विश्वास करने लगे हैं। लेकिन अब हमें आश्चर्यचकित करने वाली इस सम्भावना का सामना करना पड़ रहा है कि फ्रायड और उसके कार्य 20 वीं सदी के वैताल के कार्य हैं जिन पर हल्का सा पर्दा पड़ा हुआ है। और इस सम्भावना की यथार्थता इस तथ्य से और भी अधिक हो गई है कि स्वयं बकन ने, जो फ्रायड का प्रशंसक और पक्षपाती था, इस सम्भावना की ओर बड़ी स्पष्टता

के साथ हमारा ध्यान आकर्पित किया है। बकन जिस तर्क से स्पष्ट विरोध को दूर करता है और अपनी "धृष्टता" को तर्क-सम्मत बताता है, उसे यहा पुनरुल्लिखित नही किया जा सकता। इसका आशिक कारण तो यह है कि यह एक जटिल गुत्थी है और आशिक कारण यह भी है कि मुझे यह निश्चय नही है कि मैं इसे पूरी तरह समझता हू। लेकिन बकन अपने अद्भुत सिद्धान्त के पक्ष मे जो प्रमाण देता है (1958a) उसमे से दो और प्रमाणो की ओर हम ध्यान दे सकते है और हमे उनकी ओर ध्यान देना भी चाहिए

> "शैतानी समझौते मे फ्रायड के बचनो की गम्भीरता का प्रश्न उठाया जा सकता है। फ्रायड एक अर्वाचीन व्यक्ति था जो अलौकिक तत्त्वो मे विश्वास नही रखता था? (पृ० 215)।"
>
> "क्योकि फ्रायड वैताल की अलौकिक सत्ता में विश्वास नही रखता था, शायद इसलिए उसने इस रूपक की पूर्ण शक्ति के उपयोग की अपने आप को अनुमति दी हो। हम इस बात की कल्पना कर सकते है कि कभी-कभी स्वामित्व का भाव बहुत प्रबल हो गया है, और फ्रायड अपने पत्र मे इसी भाव का विश्लेषण (17वी सदी के चित्रकार, क्रिस्टोफ हैजमन पर विशद रूप से लिखते हुए) करता है (219)।"

बकन के अनुसार फ्रायड और हैजमन दोनो ने पराहम् के कार्यरूप विषाद के विरुद्ध सघर्ष करते हुए वैताल की सहायता मागी थी। इसलिए, कम से कम लाक्षणिक अर्थ मे, पराहम् के विरुद्ध आन्दोलम मे, जो आन्दोलन मनोविश्लेषण के अनुसार सभी आधियो की चिकित्सा के लिए अति आवश्यक है, वैताल की शक्तियो को सामान्यत उपयोगी समझा है। बकन कहता है

> "मध्ययुग भर मे जो आध्यात्मिक नाटक रचा जा रहा था उसमे वैताल महत्त्व रखता था। जैसाकि फ्रायड ने युक्त वचनो मे कहा है कि यद्यपि अब वैताल मध्य युग की भाति एक व्यक्ति नही माना जाता तथापि उसकी प्रतिमा से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक बातें अब भी प्रचलित और महत्त्वपूर्ण है। वैताल की प्रतिमा का मनोवैज्ञानिक महत्त्व, जैसा कि हम पहले ही सकेत कर चुके हैं, पराहम् के विरुद्ध सहायी होना है, अथवा यह उसका निलम्वन है (पृ० 231)।"
>
> "और अधिक सीधे शब्दो मे इस बात को इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं रुग्णतन्त्रिक का अपराध उसका रोग है। यह अपराध स्वय मे एक बुराई है और इसका निराकरण अच्छाई है । यदि ईश्वर अपराध-

उत्पादक प्रतिमा है तो वैताल उसकी विरोधी शक्ति है ।"

"एण्टोल फ्रैंक की 'देवदूतो का विद्रोह' (Revolt of the Angels) पर चर्चा करते हुए फ्रायड ने कहा था, "युद्ध से युद्ध उत्पन्न होगा और विजय से पराजय। पराजित ईश्वर शैतान बन जाता है और विजयी शैतान ईश्वर बन जाता है (पृ० 233) ।"

लेकिन इस प्रकार की कल्पनाए और अच्छी प्रकार गढे हुए अनुमान बहुत हो चुके। वास्तविक व्यवहार मे, मनोविश्लेपरण की क्या प्रणाली है और क्या इसका उद्देश्य है ? विश्लेपरण मे वस्तुत क्या होता है इसका एक-एक शब्द बताते हुए विश्लेपक कुछ हिचकिचाते है। और जब किसी अवसर पर इस हिचकिचाहट पर काबू पा लिया जाता है और विश्लेपरण के प्रतिलेख का एक-एक शब्द व्यक्त किया जाता है तब यह समझ मे आ जाता है कि विश्लेपरण, वैतालिकाओ के विश्राम-दिवस (सब्बाथ) की तरह, अन्धकार और रहस्य के वातावरण मे अच्छा पनपता है। डी ग्रेज़िया (de Grazia) (1952) द्वारा लिखित एक मनोविश्लेषण के प्रतिलेख से उद्धृत निम्नलिखित उद्धरण इस बात का एक दृष्टान्त है

रोगी एक औरत के साथ निकट सम्बन्धो मे फँसने का ही मुझे भय नही है, बल्कि मेरा मन इस ईश्वरनिन्दक विचार से भी ग्रस्त रहता है। इसका यह कारण है कि सिर्फ इसी बात को सोचते हुए ही मैंने वैताल के हाथ अपने आपको बेच दिया है। यह भय इस बात का है कि वैताल ने मुझे ग्रस लिया है। मैं यह जानता हू कि यह सब अनर्थक है और पुराने धर्म-दर्शन पर आधारित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो भी कुछ पापमय है या बुरा है वैताल उसका प्रतिनिधित्व करता है। .

मेरा यह भय कि मैंने वैताल के हाथो अपने आपको दिया है मेरा ध्यान एक स्वप्न की ओर ले जाता है जो मैंने उस समय देखा था जब मैं 5 या 6 वर्ष का था। मैं उस समय अपनी मा के साथ सो रहा था। बहुत जोर से कापता हुआ मैं जग पडा। मैंने समझा कि मैंने कमरे मे से उडता हुआ एक भूत देखा है। यह एक चिनगारी के समान था और साथ ही साथ मेरी ओर घूरते हुए वह एक बाल-भूत के समान था। मैं डर के मारे मर गया।

चिकित्सक यदि आप अपनी मा के साथ सो रहे हो तो कैसी चिनगारी आपको मिलेगी ?

रोगी मेरे विचार मे, मा का प्यार।

चिकित्सक यदि आप किसी युवती के साथ सो रहे हो तो आपको कैसी चिनगारी मिलेगी ?

रोगी कामोत्तेजना।

चिकित्सक क्या आपको कमोत्तेजना होगी ?

रोगी नही, मुझे तो आशा है कि मैं तो डर के मारे तीव्रता से कापता हुआ मर जाऊगा, जैसी कि मेरी हालत स्वप्न मे थी।

अब मेरी मुख्य चिन्ता का विषय यह विचार अथवा ग्रस्तता है कि मुझे वैताल चिपटा हुआ है।

चिकित्सक मान लो वैताल चिपटा हुआ है ?

रोगी इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने सकल्प पर अधिकार खो बैठेगा।

चिकित्सक • स्वाभाविक क्या है ?

रोगी क्या आपके कहने का अर्थ यह है कि मैं जिस बात से डरता हू, वह सामान्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने की मेरी स्वाभाविक आकाक्षा है ?

और दूसरे सत्र मे

रोगी शायद मैं एक लडकी से इसलिए भयभीत हू कि मुझे इस बात का डर है कि कही मैं कामवासना मे न बह जाऊँ और विवेक के साथ आचरण न कर सकूं।

चिकित्सक तुम क्या कर सकते हो ?

रोगी मैं उस लडकी को अत्यधिक प्रेम कर सकता हू ।

चिकित्सक इससे क्या होगा ?

रोगी मेरी इच्छा होगी कि मैं अपनी बाहो मे उसे लपेट लू और उससे कहू कि मैं तुम्हे प्यार करता हू। लेकिन मुझे भय लगता था।

चिकित्सक क्या यह बात इतनी भयानक लगती है ?

रोगी देखिए, मैं उसके साथ सम्भोग कर सकता था यह बहुत अधिक आगे बढ जाना होता है।

चिकित्सक क्या यह ऐसा होता ?

रोगी शायद उससे सम्भोग करना तो इतना आगे बढना नही था। यदि यही वैताल है तो शायद यह तो बिल्कुल ही मासूम वैताल है। तब तो जितनी जल्दी मैं वैताल के पास पहुच जाता, उतना ही अच्छा है।

चिकित्सक . यदि कुल बात यही है तो फिर यह भय क्यो ?

रोगी स्पष्ट है कि मैं इस समय अपनी प्रकृति के काबू मे आने से भयभीत रहा हू। जो बात मैं अन्य किसी और बात से अधिक चाहता हू वह सामान्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है। जब से मैं आपके पास आया हू मैंने यह समझा है कि अपने आपको वैताल के हाथ बेच देने का यह भय एक ओर तो मेरी अपनी प्रकृति के ही भय से न कम है न अधिक और दूसरी ओर, यह इसकी ओर झुकाव भी है, जिसे मैं वैताल की ओर झुकाव समझता रहा हू ।

सारी आश्चर्यजनक बात मुझे बिल्कुल स्पष्ट हो गई है। यह आश्चर्यजनक है कि आपके साथ उस बातचीत के बाद किस प्रकार ग्रस्तता ने मुझे छोड दिया (पृ० 100–102) (सदर्भ, वर्ग, 1948, पृ० 78–80)।

मानव के प्रलोभन और पतन, जो ईडन के बाग मे हुआ माना जाता है, के पुनर्रभिनय के लिए शायद कोई नाटककार इससे अच्छा लिपि-लेख नही रच सकता था। यहा आदम और ईव ज्ञान के वृक्ष के फल चखने की सम्भावना से आकर्षित हुए थे लेकिन ईश्वर के विरोधी कमाडेंट (पराहम्) के द्वारा रोक दिए गए। लेकिन धीरे-धीरे, वैताल ने उन्हे यह दिखला दिया कि फल का खाना कितना सुखद, प्राकृतिक और हानिरहित होगा। वैताल को सफलता मिली, आदम और ईव की सेब खाने की अन्तर्बाधा की "चिकित्सा" हो गई। लेकिन अन्त मे चिकित्सा रोग से भी बुरी सिद्ध हुई, यह मनोविश्लेषण के फलो के बारे मे भी लागू होती हुई प्रतीत होती है। अन्त मे जो पत्र लिखे थे उनमे से अपने एक पत्र मे फ्रायड (1937) ने मनोविश्लेषण की चिकित्सा सम्बन्धी उपलब्धियो पर पुनरावलोकन किया और वे उसे सतोषजनक नही लगी। फ्रायड ने कहा कि यह सामान्य बात हो गई है कि रोगी यह दिखावा करते है कि उनमे अच्छा सुधार हो रहा है और विश्लेषण छोड देते है, लेकिन फिर, जल्दी या देर से, उन्हे अपने पुराने कष्टो अथवा नए कष्टो का पुनस्फुटन अनुभव होने लगता है।

"विकसित हुई विविध प्रकार की बातो तथा परिवर्तनो का अध्ययन करते समय हम अपना ध्यान पूर्णत परिणाम पर केन्द्रित करते है और इस तथ्य की एकदम अवहेलना कर देते हैं कि इस प्रकार की प्रक्रियाए प्राय अपूर्ण होती है, अर्थात्, ऐसे जो परिवर्तन होने हैं वे वास्तव मे एकागी ही होते हैं। प्राचीन आस्ट्रिया के एक विदग्ध आक्षेप-वादी ने एक बार

कहा था, 'प्रत्येक उन्नति प्रारम्भ मे जितनी महान् लगती है, वह वास्तव मे उसकी आधी ही महान् होती है।' कोई भी यह मानने का प्रलोभन कर सकता है कि दुष्टतापूर्ण यह उक्ति एक सार्वभौम सत्य है (पृ० 330)।"

और इसके दो दशक बाद, एक प्रख्यात अमरीकी विश्लेपक (कूबी, 1956) यह स्वीकार करने के लिए प्रेरित हो गया

"इस सम्बन्ध मे मुझे एड्वर्ड ग्लोवर का यह कथन (व्यक्तिगत पत्रो से) स्मरण हो आता है कि विश्लेषको को सबसे अधिक सफलता की प्रतीति तब होती हैं जब वे नए होते हैं। यद्यपि ग्लोवर का यह कथन आशिक रूप मे व्यग्यपूर्ण और कष्टदायी परिहास था, लेकिन इससे चिकित्सा के क्षेत्र मे सर्वशक्तिमान अथवा सर्वज्ञ होने का दावा करने के हमारे अधिकार के विषय मे स्वस्थ भाव की ओर सकेत मिलता है। विश्लेषण की पराजय के बारे मे अपने ज्ञान से मैं इस सम्बन्ध मे विश्वस्त हू कि रोग और उसकी चिकित्सा की प्रेरक प्रवृत्तियो के हमारे ज्ञान में मूलभूत रिक्तता रह गई है—।

कुछ ही वर्ष पहले (यद्यपि विश्लेपक के रूप मे मेरे जीवन मे यह लम्बा समय लगता है) मैंने यह सुखद आशा सँजोई हुई थी कि विश्लेषण के क्षेत्र मे बढते हुए परिष्कार और अनुभव से चिकित्सा की सफलता की प्रतिशता बढेगी—। मेरा अवाञ्छित अनुभव यह है कि यह आशा पूर्ण नहीं हुई (पृ० 87)।"

विश्लेषण के मित्रो तथा शत्रुओ से प्राप्त प्रमाणो के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि विश्लेषण अधिक से अधिक मन्त्रमुग्ध तो कर देता है लेकिन चिकित्सा नही करता। रोगी के इद (id) का साथ देकर विश्लेषक ("वैताल"-?), जैसा बकन ने कहा है, वास्तव मे पराहम् को निलम्बित करने मे सफल हो सकता है, लेकिन पराहम् (अथवा अन्त करण) हमारे विश्वास से कही अधिक स्थायी सामाजिक वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है और विश्लेषण मे इस पर नियन्त्रण करके हमे जो लाभ प्राप्त होता है उसके बदले कई गुणा अधिक महगा मूल्य चुकाना पडता है। मानव को अपनी मुक्ति, नीचे की ओर देख कर और नीचे को बढ कर प्राप्त नही करनी, बल्कि ऊपर की ओर गति से, पाप-स्वीकृति और स्पष्ट प्रतिदान के द्वारा सामजस्य और सामाजिकता की ओर बढ कर प्राप्त करनी है।

व्यक्तिगत और व्यावसायिक अनुभव की निरन्तरता के परिणामस्वरूप, जिसके वर्णन के लिए अन्य अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी, पिछले दस-पन्द्रह वर्षों मे फ्रायड के सामान्य आधार-वाक्यो के मूलभूत दोपो के बारे मे मुझे उत्तरोत्तर निश्चय होता गया है और अब मै अपने आपको उस अवस्था मे पाता हू, जिसे मोटे तौर पर यहूदी-ईसाई धर्म की अवस्था कह सकते है। मगर कुछ ही दिन पहले मेरे हाथो एक पुस्तक लगी जो बडी स्पष्टता और विश्वास के साथ वह बात कहती है जो समकालीन धार्मिक साहित्य और उपदेशो मे नही मिलती, मेरा सकेत हेनरी पी० वान् डुसन की पुस्तक, 'आत्मा, पुत्र और पिता' (Spirit, Son, and Father) (1958) की ओर है। काश कि मेरे पास उन कारणो को विकसित करने का समय होता जो इस छोटे से ग्रन्थ पर मुझे इतना उत्तेजित कर रहे हैं। अब हमे यह जान कर ही सतोष करना है कि डा० वान् डुसन क्या कहते हैं। लेकिन पहले मैं यह बता देना चाहता हू, जो बहुतो को अच्छी प्रकार ज्ञात है, कि हेनरी पिटने वान् डुसन कोई अचानक ख्याति-प्राप्त धर्म-शास्त्री अथवा दूसरो के ज्ञान को उधार लेकर बने हुए विद्वान् नही हैं। वे इस समय न्यूयार्क शहर मे स्थित केन्द्रीय धर्म-शास्त्रीय विद्यामन्दिर के अध्यक्ष है, अनेक महत्त्वपूर्ण बोर्डों और सस्थानो के सदस्य है तथा कोई 18 ज्ञानर्मित पुस्तको के लेखक और सम्पादक है। और अब वे ऐसा तर्क प्रस्तुत करते है जो एकदम क्रान्तिकारी और साथ ही इतना स्पष्ट और बुद्धिसम्मत है मानो यह सम्पूर्ण जीवन का अनुभव हो।

इस तर्क का सार यह है कि ईसाई त्रिगुट का हमने जो अर्थ लगाया है उसमे हमारी त्रुटि रही है और उनको, परमपिता परमात्मा, पुत्र, और पवित्र आत्मा के क्रम मे रख कर अपने आपको दिग्भ्रान्त कर लिया है। वान् डुसन विरोधाभास-पूर्ण और चतुराई के साथ इस बात पर बल देते हैं कि इस त्रैरूप्य के जिस पहलू को सबसे कम महत्त्व दिया है और जिसे सबसे कम समझा गया है वह वास्तव मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा साक्षात् ज्ञान-ग्राह्य है। "कुछ छूट गया है और जो छूट गया है वही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है" (पृ० 11), वे बडी विदग्धतापूर्ण सरलता के साथ कहते है। डा० वान् डुसन अपने पाठक का विश्वास जल्दी प्राप्त कर लेते हैं जब वे अत्यधिक ग्राम-जन के समान यह स्वीकार करते है कि वे जीवन भर पवित्र आत्मा, अथवा पवित्र भूत के प्रत्यय को एक अत्यधिक अस्पष्ट और कम से कम कुछ अप्रिय और अरुचिकर मानते रहे है। और फिर भी वान् डुसन तर्क देते हैं कि ऐसे बहुत से प्रबल ऐतिहासिक और ईसाई धर्म सम्बन्धी आधार हैं जिनसे हमे यह विश्वास करना चाहिए कि पवित्र आत्मा के विचार तथा तत्सम्बन्धी अनुभव से ही शेप सभी धार्मिक बाते और आचरण प्रेरित और प्रामाणिक हो सके है। फिर ऐसे अन्य लेखको का उद्धरण देने पर जो आजकल इस मत के हैं, वे प्रश्न करते हैं "क्या यह ईसाई

VII पवित्र आत्मा, मनोरोगचिकित्सा और अचेतन

जैसाकि सर्वविदित है फ्रायड का सिद्धान्त यह मानता है कि रुग्णतन्त्रिक के अचेतन मे जो प्रवृत्तिया बन्द पडी रहती हैं और जो मनोरोग का स्रोत होती है, वे वास्तव मे "बुरी", अर्थात् वे स्वभावत शत्रुता और काम की प्रवृत्तिया होती हैं।[4] इस आधार-वाक्य को स्वीकार करने पर, विश्लेषणात्मक चिकित्सा का उद्देश्य, स्पष्ट तर्क के अनुरूप, इन प्रवृत्तियो को दमन से छुटकारा दिलाना है— अर्थात् बुराई को खुली छुट्टी देना है, और इसीलिए तो (इस प्रकार की) चिकित्सा को, कम से कम लाक्षणिक अर्थ मे, वैताल का कार्य समझा गया है। रुग्णतन्त्रिक व्यक्ति के विषय मे आचरण की अच्छाई और सद्वृत्तता के प्रति चिन्ता ने तो इतना अच्छा काम कर लिया है कि उसके प्रतिरोध की आवश्यकता पडी है।

लेकिन अब हमे इस पर पुर्नविचार करना है, और इसकी एक अत्यधिक सम्भावनीय अवस्था यह है कि दबी हुई और भडकी हुई जैविक शक्तियो का परिणाम आधि नही है बल्कि बिल्कुल भिन्न अर्थ मे यह "पाप" का प्रकाशन और परिणाम है। फ्रायड के अनुयायी यह तो स्वीकार करते हैं कि आधि के सम्बन्ध मे अपराध केन्द्रीभूत तत्त्व है, लेकिन यह अपराध भविष्य से सम्बन्ध रखता है। एक व्यक्ति जो कुछ कर चुका है उसके कारण वह "रोगी" नही बनता बल्कि जो वह करने की अभिलाषा करता है लेकिन कर नही पाता उसके कारण रुग्ण होता है। इसके विपरीत, जिस नए मत का प्रादुर्भाव, अथवा पुन-पुन प्रादुर्भाव हो रहा है, वह यह है कि तथाकथित रुग्णतन्त्रिक वस्तुत पापी है, उसका अपराध वास्तविक है और वह उसके भूतकाल का है और उसके कष्ट दबावो के कारण पैदा नही हुए है बल्कि उनका कारण सामाजिक और नैतिक दृष्टि से निषिद्ध कर्मों का करना और उन्हे सावधानी के साथ गुप्त, अस्वीकृत और अशोधित रखना है। ऊपर फ्रायड की स्थिति का जो वर्णन किया है उसके

---

4 यह मान्यता इतनी सर्वविदित है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, लेकिन क्योंकि फ्रायड के एक पत्र, "सत्रहवीं सदी में वैतालिक अधिकार की आधि" की ओर हम पहले ही एक सकेत कर चुके हैं, इसलिए इस सम्बन्ध में फ्रायड जिन शब्दों का प्रयोग करता है उनको भी ध्यान में रख लें "जिन बातों को उन दिनों में पापात्मायें कहा जाता था वे हमारे लिए नीच और बुरी इच्छाएं हैं जो उन प्रवृत्तियों से उत्पन्न होती हैं जिन्हें त्याग दिया है और जिनका दमन कर दिया है। मध्य युग में प्रचलित इन बातों की व्याख्या को केवल एक ही दृष्टि से हम स्वीकार नहीं करते, हमने इनके बाह्य जगत् में उत्क्षेपण को त्याग दिया है और जिस रोगी में ये प्रकट होती हैं उसके आन्तरिक जीवन में ही इनकी उत्पत्ति मानी है" (पृ० 437)।

"मनोविश्लेषण और ईसाई धर्म"[6] शीर्षक से प्रकाशित की, जिसमे वे लिखते हैं

"दमन के प्रति मनोविश्लेषण का सिद्धान्त और उस पर आधारित व्यापक आधियो से यह ग्रहीत होता है कि आधुनिक नैतिकता से प्रेरित जीवन के अनावश्यक रूप से कठोर सेंसर के प्रति मनोविश्लेषण का दृष्टिकोण घोर विद्वेष का रहा है। अपने समग्र रूप मे मनोविश्लेषण, सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो मे, अपने आपको प्रभावोत्पादक बनाने के लिए स्वाभाविक मूल-प्रवृत्तिप्रेरित जीवन के अधिकार का सबल समर्थक रहा है। वास्तविकता ऐसी नही है जैसाकि इस सिद्धान्त मे निहित यह कथन आभासित करता है कि सभी नैतिकता आवश्यक रूप मे बुराई है। लेकिन नैतिकता एक वास्तविक अच्छाई न होकर एक आवश्यक बुराई के रूप मे प्रकट होती है। अन्त करण और 'पराहम्' केवल निषेधात्मक और सयमकारी के रूप मे, उस तत्त्व पर, जिसे 'जीवन का अधिकार है' अर्थात् जो 'स्वय जीवन-धारा है' किया करते है (पृ० 37)।"

"मगर दमन के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के प्रति दो आरोप लगाए जा सकते है। अन्त मे ये दोनो एक ही हैं। इस सिद्धान्त के *सम्बन्ध मे कि यह काम-प्रवृत्ति तथा इसमे निहित भावात्मक शक्ति ही वह तत्त्व* है जिसका विश्लेपक के मतानुसार अनावश्यक रूप से दमन हुआ है यह प्रश्न किया जा सकता है यदि वर्तमान परिस्थिति और समसामयिक नैतिक दशा का कोई अवलोकन करे तो क्या उसे कोई ऐसी बात दिखाई देगी जो यह सकेत करती हुई प्रतीत हो कि इस प्रकार की प्रवृत्ति को वास्तविक आघात पहुचा है, उसको कोई भयकर हानि हुई है ? इसके विपरीत क्या यह अधिक सप्रमाण प्रतीत नही होता कि जिस दमन से आधि पैदा होती है वह अन्य, प्राय ऊची समझी जाने वाली, मूल प्रवृत्तियो के दमन के कारण है ? क्या वर्तमान की प्रधान शक्तियो, क्या धार्मिक और नैतिक प्रवृत्तियो—अथवा, यदि हम उन्हे 'मूल प्रवृत्तियाँ' कहना पसन्द न करें, उन वास्तविक, वशपरम्परानुगत अथवा अर्जित धार्मिक और नैतिक शक्तियो, सवेगो, विचारो, आवश्यकताओ—के प्रति वर्तमान मे शासन करने वाली शक्तियो ने निम्न मूल प्रवृत्तियो की अपेक्षा अधिक सहृदयता दिखाई है? क्या वास्तविकता यह नही है कि उच्च मूल-प्रवृत्तियों, धार्मिक तथा नैतिक आवश्यकताओ और शक्तियो को अधिक

---

6 यह पुस्तक 1932 में प्रकाशित मूल स्वीडिश सस्करण का अनूदित और सशोधित सस्करण है। अपने समय में मूल सस्करण वास्तव में ईश्वरोक्ति था।

"मनोविश्लेषण और ईसाई धर्म"[6] शीर्षक से प्रकाशित की, जिसमे वे लिखते हैं

"दमन के प्रति मनोविश्लेषण का सिद्धान्त और उस पर आधारित व्यापक आधियो से यह प्रहीत होता है कि आधुनिक नैतिकता से प्रेरित जीवन के अनावश्यक रूप से कठोर सेंसर के प्रति मनोविश्लेषण का दृष्टिकोण घोर विद्वेष का रहा है। अपने समग्र रूप मे मनोविश्लेषण, सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो मे, अपने आपको प्रभावोत्पादक बनाने के लिए स्वाभाविक मूल-प्रवृत्तिप्रेरित जीवन के अधिकार का सबल समर्थक रहा है। वास्तविकता ऐसी नही है जैसाकि इस सिद्धान्त मे निहित यह कथन आभासित करता है कि सभी नैतिकता आवश्यक रूप मे बुराई है। लेकिन नैतिकता एक वास्तविक अच्छाई न होकर एक आवश्यक बुराई के रूप मे प्रकट होती है। अन्त करण और 'पराहम्' केवल निषेधात्मक और सयमकारी के रूप मे, उस तत्त्व पर, जिसे 'जीवन का अधिकार है' अर्थात् जो 'स्वय जीवन-धारा है' क्रिया करते हैं (पृ० 37)।"

"मगर दमन के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के प्रति दो आरोप लगाए जा सकते है। अन्त मे ये दोनो एक ही है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कि यह काम-प्रवृत्ति तथा इसमे निहित भावात्मक शक्ति ही वह तत्त्व है जिसका विश्लेषक के मतानुसार अनावश्यक रूप से दमन हुआ है यह प्रश्न किया जा सकता है यदि वर्तमान परिस्थिति और समसामयिक नैतिक दशा का कोई अवलोकन करे तो क्या उसे कोई ऐसी बात दिखाई देगी जो यह सकेत करती हुई प्रतीत हो कि इस प्रकार की प्रवृत्ति को वास्तविक आघात पहुचा है, उसको कोई भयकर हानि हुई है ? इसके विपरीत क्या यह अधिक सप्रमाण प्रतीत नही होता कि जिस दमन से आधि पैदा होती है वह अन्य, प्राय ऊची समझी जाने वाली, मूल प्रवृत्तियो के दमन के कारण है ? क्या वर्तमान की प्रधान शक्तियो, क्या धार्मिक और नैतिक प्रवृत्तियो—अथवा, यदि हम उन्हे 'मूल प्रवृत्तियाँ' कहना पसन्द न करें, उन वास्तविक, वशपरम्परानुगत अथवा अर्जित धार्मिक और नैतिक शक्तियो, सवेगो, विचारो, आवश्यकताओ—के प्रति वर्तमान मे शासन करने वाली शक्तियो ने निम्न मूल प्रवृत्तियो की अपेक्षा अधिक सहृदयता दिखाई है? क्या वास्तविकता यह नही है कि उच्च मूल-प्रवृत्तियो, धार्मिक तथा नैतिक आवश्यकताओ और शक्तियो को अधिक

---

6 यह पुस्तक 1932 में प्रकाशित मूल स्वीडिश सस्करण का अनूदित और सशोधित सस्करण है। अपने समय में मूल सस्करण वास्तव में ईश्वरोक्ति था।

हानि हुई है, और दमन तथा आधि का आधार इसी मे है ? (पृ० 41–42) ।"

क्या अचेतन, जैसाकि इसका नवीन अर्थ ऊपर उद्धृत लेखको ने लगाया है, की तुलना पवित्र आत्मा के साथ करना, जैसा कि वान् डुसन ने किया है, बहुत ऊची छलाग मारना है ? यदि ऐसा तादात्मीकरण (अथवा इसका एक अंश भी) स्वीकार कर लिया जाए तो धर्म और मनोविज्ञान के मिलन का एक नया और शक्तिशाली आधार मिल जाए। यहा मानव व्यक्तित्व और विश्व मे स्थित वह शक्ति है जिसके प्रदर्शन और क्रिया का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया जा सकता है और जो साथ-साथ (वान् डुसन के अनुसार, "वह सामाजिक तत्त्व जिसे ईश्वर कहते है" की ओर बौइसन का सकेत भी देखिए) धार्मिक अनुभव का हृदय और सार है।

विख्यात फ्रायडीय सिद्धान्त इस सिद्धान्त से कितना भिन्न है इसका सकेत इस तथ्य से मिलता है कि जहा फ्रायड बुराई देखता था और अपनी शैतानी क्रिया-विध द्वारा उसे मुक्त करने का प्रयत्न करता था, वही अब पवित्रात्मा का निवास माना जाता है। अचेतन के बारे मे परिवर्तित होते हुए मत का और अधिक विशद वर्णन अन्यत्र किया (अध्याय 2 और 8) है और यहा उसकी अधिक चर्चा नही की जा सकती। लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से यह दिखाने के लिए कि यह सब कितना क्रान्तिकारी है पर्याप्त रूप से पहले ही कहा जा चुका है और यह बुद्धि मे न आने वाली बात नही है कि धर्म और मनोविज्ञान दोनो के क्षेत्रो मे व्यावहारिक प्रणाली मे अनुरूप सुधार होगे। फ्रायड ने, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपराध को गम्भीरतापूर्वक नही लिया, वह तो मूल-प्रवृत्त्यात्मक सतुष्टि से वचित रहने और नैराश्य मे ही विशेष रुचि रखता था और उसी के विषय मे अधिक चिन्तित था। यदि परिवर्तन के लिए हम अपराध को गम्भीरता-पूर्वक लें और इसके साथ निर्वर्त्तन के लिए उन विधियो का प्रयोग किया जाए जो प्रोटेंस्टेंटवाद और अपने सर्वाधिक निर्जीव रूप मे कैथालिक मत मे शामिल विधियो की अपेक्षा अधिक वस्तु-परक और प्रभावोत्पादक है तो हमे चकाचौध करने वाली सम्भावनाएँ दिखाई देगी।

अपनी पुस्तक "आत्मा, बेटा और पिता" (Spirit, Son and Father) मे वान् डुसन इस सम्बन्ध मे एफ० डी० मौरिस की कुछ वर्ष पहले की गई "निर्भीक भविष्यवाणी" का उद्धरण देते है

"मैं यह सोचे बिना नही रह सकता कि हमारे समय मे जो सुधार हो रहा है और जिसके बारे मे मैं यह आशा करता हू कि वह गहन और

व्यापक होगा उसका सम्बन्ध आत्मा की उपस्थिति और जीवन से होगा, जैसाकि पुत्र के द्वारा अपनी बात को उचित ठहराने के सम्बन्ध मे हुआ था (पृ० 15)।"

और कुछ पृष्ठो के बाद स्वय वान् डुसन ने कहा

"समय-समय पर, पवित्र आत्मा ध्यान के केन्द्र से गिरा दी गई है क्योकि यह अनुभव के केन्द्र से विलुप्त हो गई, धार्मिक सगठनो के घनीभूत होने और धार्मिक विवादो के कारण मनुष्य अपने-अपने धार्मिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तो और विश्वासो तथा उनके बाहरी रूप और रचना को अधिक महत्त्व देने लगा है जिसके परिणामस्वरूप ऐसे नए-नए गलत रहस्योद्घाटन किए गए है जिनका मनुष्य के पवित्र आत्मा के विचार पर एक निश्चित और प्राय विनाशकारी प्रभाव पडा है। लेकिन हमेशा, अन्त मे, मनुष्य की आत्माओं को पुन जीवन प्रदान करने और उनमे व्याप्त असफलता और निराशा की भावना को समाप्त करने के लिए और फिर धार्मिक सगठनो की मुर्दा काया मे प्राण फूंकने तथा अन्ध विश्वासो का सुधार करने के हेतु पवित्र आत्मा का अवतरण होता ही रहा है—पहले व्यक्तिगत अनुभव के रूप मे और फिर एक सिद्धान्त के रूप मे (पृ० 27–28)।"

यदि धर्म और मनोविज्ञान की शक्तियो का सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो मे मेल हो जाए, तो हम यह कल्पना कर सकते है कि हमारे ही जीवन मे मनुष्य की आत्मा जीवित हो उठे और उसमे व्याप्त असफलता और निराशा की भावना समाप्त हो जाए।

10

मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र तथा सामाजिक स्व*

पाप अथवा वास्तविक अपराध व्यक्तित्व के कष्टो का कारण है, इस सिद्धान्त के प्रति जो आम आरोप लगाया जाता है वह यह है कि इस प्रकार की दशा अथवा अवस्था को वस्तुपरक वैज्ञानिक परिभाषा नहीं दी जा सकती। यह प्रश्न किया जाता है कि वह माप-दण्ड क्या है जिसके अनुसार अच्छाई बुराई, पुण्य और पाप का भेद किया जाता है ? और उपपत्ति से यह अर्थ निकलता है कि यदि किसी घटना की उसके व्यापार के रूप मे ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती तो इसका अर्थ यह है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। हममे से बहुत से व्यक्ति नैतिक मूल्यो से छुटकारा पाना चाहते हैं और यह विश्वास करना चाहते हैं कि सत्ता नीतिनिरपेक्ष है और यह कि किसी अनुभव अथवा कर्म को अच्छाई अथवा बुराई का केवल मात्र यही अर्थ है कि उसका परिणाम सुख (काम सतुष्टि) अथवा असंतोष (काम तृप्ति न होना) होता है। लेकिन धीरे-धीरे हम फिर से यह खोज रहे हैं कि मानव-अस्तित्व जैविक मात्र से कुछ अधिक है और आचरण तथा भावो के आदिष्ट तथा निषिद्ध आदर्शों के बिना सामाजिक सगठन (और वास्तव मे स्वय व्यक्तित्व) नहीं रह सकता (देखो अध्याय 3)।

कुछ प्रारम्भिक विचार के बाद इस अध्याय मे हम नीति की समस्या पर क्रियापरक तथा वस्तुपरक दृष्टि से विचार करने की और जिन अभीप्सित सदेहो मे पहले फँसे पड़े थे उन्हे दूर करने की कम से कम विचार की एक विधि पकड सके हैं। यहां पर हम आजकल की बहुचर्चित अनुरूपता (conformity) तथा अनुरूपहीनता (non-conformity) की समस्या को भी स्पर्श करेंगे। यह आरोप कि मूल्य और नीति अवैज्ञानिक प्रत्यय हैं (और इसलिए इन्हें गम्भीरता-पूर्वक नहीं लेना चाहिए) अब इस मत के लिए मार्ग खोलता हुआ प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व और समाज का ऐसा कोई भी सिद्धान्त जो इन विचारो की अवहेलना करता है सच्चे अर्थों मे वैज्ञानिक नहीं हो सकता।

---

* "मनोविश्लेषण और यहूदी-ईसाई नीति" के सामान्य विषय पर दिए गए तीन भाषणों में से अन्तिम भाषण, ई० टी० अर्ल वार्ता अधिष्ठान और धर्म के प्रशान्त स्कूल, बर्कले, कैलिफोर्निया के धर्मशास्त्रीय सम्मेलन के तत्वावधान में फरवरी, 23–25, 1960 को प्रस्तुत किया गया।

इस वास्तविक भाषण-माला के प्रथम भाषण मे मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि मानव प्रधानत एक सामाजिक प्राणी है--अथवा, धर्म-शास्त्र के शब्दो मे, ईश्वर का बच्चा है—और उनकी सबसे तीव्र वेदना का स्रोत शारीरिक असुविधा अथवा मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी असतोष नही है,वल्कि उसकी सामाजिकता का विच्छेदन, विघटन, और अस्वीकृति तथा प्रायश्चित्त-विहीन वास्तविक अपराध है। और दूसरे भाषण मे ऐसे कुछ ऐतिहासिक तर्कों (अथवा जिन्हें बुद्धिचापल्य कहना चाहिए ?)पर विचार किया जिनके कारण हमने इस प्राचीन और अनुभवाश्रित स्थिति को छोड दिया और जीवन की वह शैली अपना ली जिसे "फ्रायडवाद" के नाम से सगृहीत किया गया। अब यह स्पष्ट है कि, उसके दार्शनिक अभिप्राय की स्पष्ट अस्वीकृति और उसके अपने आपको केवल वैज्ञानिक तथा चिकित्सक वताने के बावजूद, सिगमड फ्रायड ने अपने आपको ससार मे मसीही मिशन का प्रवर्त्तक समझा और उसने माना कि वह सास्कृतिक तथा नैतिक क्रान्ति से कम किसी अन्य उद्देश्य की ओर काम नही कर रहा था।

लेकिन अब इस बात के व्यापक और उत्तरोत्तर बढते हुए सकेत प्राप्त है कि वे आधार-वाक्य जिन पर यह सुधार आश्रित था त्रुटिपूर्ण थे और फ्रायड के उद्देश्य और प्रेरक तत्त्व मसीही नही थे, शैतानी थे। हमारे पास यह मानने के लिए उचित प्रमाण है कि मनोरोग अप्रकाशित काम-प्रवृत्ति तथा शत्रुता की प्रवृत्ति के कारण नही होते अपितु प्रकुपित अन्त करण और, मानव-मर्यादा और उत्तरदायित्व के भग हुए भाव के कारण होते हैं। मानसिक रोग की प्रकृति और आधार के विषय मे हमारा यह सशोधित अवलोकन चिरप्रतिष्ठित तथा समकालीन पवित्र आत्मा के साथ सादृश्य की याद दिलाता है और समकालीन मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञान तथा धर्म के एक नवीन समन्वय के मार्ग की ओर सकेत करता है।

तो इस तीसरे और अन्तिम भाषण मे हम किस प्रकार इस विषय पर वार्ता करेंगे ? क्योकि पहले दो भाषण कुछ महीने पूर्व लिखे गए थे इसलिए मैं यह प्रस्तावित करता हू कि हम सबसे पहले इस मध्य विकसित बातो का सक्षेप से परीक्षण और मूल्याकन करें और फिर भावी विचार-विमर्श की दिशा निश्चित करें।

I फ्रायडवाद के शक्तिपात के और नए चिह्न

यद्यपि यह विशेषत नवीन बात नही है, तो भी मै अमरीकन मनोविकार-विज्ञान सघ मे 1956 मे आमन्त्रित डा० पर्सीवल बैले के अभिभाषण के उद्धरण से आरम्भ करना चाहता हू। डा० बैले इलिनोइस राज्य की मनोरोग सस्था के निदेशक हैं और उनके भाषण का शीर्षक, जो मेरे ध्यान मे अभी आया

और सलेम (ओरेगन) राज्य अस्पताल मे स्टाफ मनश्चिकित्सक (और 1957 की, 'फ्रायड से परे' शीर्षक पुस्तक के लेखक) डा० कामिला एन्डर्सन, नेहाल के एक पत्र मे इसी स्वर मे कहा, "मै यह अनुभव किए बिना नही रह सकता कि शैतान के साथ फ्रायड की साठगाठ (इस माला का दूसरा भाषण) चिकित्सा की दृष्टि से, तथा सामाजिकता की दृष्टि से भी, सुदृढ है। मेरा विश्वास है कि उसके घातक प्रभाव से हम जल्दी नही बच सकते।"

'रीडर्स डाइजेस्ट', जनवरी, 1960 मे लिखते हुए डा० एच० जे० आइजेंक जोकि लन्दन विश्वविद्यालय मे मनोविकार-विज्ञान की सस्था की मनोविज्ञान-प्रयोगशाला के निदेशक है, "मनोविश्लेपरण मे क्या सत्य है ?" शीर्षक के लेख मे कहते है, कि व्यक्तित्व के विकारो की चिकित्सा मे मनोविश्लेषरण अपनी अवधि के समय मात्र के व्यतीत होने से अधिक सफल नही रहा है। डा० बैले के समान, आइजेंक भी उस क्रान्ति की ओर सकेत करते है जो विश्लेषरणात्मक सिद्धान्त और व्यवहार के कारण मनोविकार-विज्ञान के क्षेत्र मे पैदा हुई मानी जाती है, और फिर सक्षेप मे अपना अनुभव कहते है

> "फ्रायडीय क्रान्ति पूर्ण हो चुकी प्रतीत होती है। केवल एक ही त्रुटि रह गई है रोगियो की हालत नही सुधरी (पृ० 40)।"[1]

आपमे से बहुतो ने 'लुक' मैगज़ीन' (फरवरी 2, 1960) मे 'मनोविकार-विज्ञान—एक विक्षुब्ध विज्ञान' शीर्षक 21 पृष्ठ का एक लेख देखा होगा। प्रोफैसर रिचार्ड लापीरे, समाज-विज्ञान विभाग, स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय की गत वर्ष प्रकाशित 'फ्रायडीय नीति' शीर्षक पुस्तक भी विशेष महत्त्व रखती है। इसका छ पृष्ठ का सार 'उदासीन नीति' शीर्षक से 'सैटर्डे रिव्यू' (Saturday Review) के अगस्त 1, 1959 के अक मे प्रकाशित हुआ। इस सार मे अनेक ध्यानाकर्षक तथा उद्धरणीय गद्याश है, लेकिन निम्नलिखित मे इसका सामान्य

भाव और सुझाव निहित है

"आचरण-संहिता के रूप में, फ्रायडीय नीति, जैसा कि इसे हम आगे पुकारेंगे, पूर्ण रूप में निषेधात्मक है। यह मानव की शक्तियों के प्रति उन स्थायी भावों और अभिवृत्तियों में निहित है जिन्हें यदि पूर्णत: व्यवहार में लागू किया जाए तो इनसे कोई नवीन बात निकालने के लिए प्रयत्न करना तो दूर रहा, ये विध्यात्मक सभी प्रयत्नों से विमुख कर देंगे। इस मत के मानने वालों के द्वारा, इस सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्दावली का कुछ गुण-दोष-विवेचन समझा जा सकता है। उनके विवेचन में अपराध-भाव व्यक्तिगत असुरक्षा, अस्थिरता, निराशा, अभिमान तथा 'तनाव' की ओर बार-बार संकेत किया जाता है। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग स्पष्ट असामान्य अवस्था वाले व्यक्तियों के प्रति ही नहीं अपितु सर्व-साधारण के लिए भी किया जाता है। इसी भाव के और भी अधिक द्योतक फ्रायडीय विवेचन में ऐसे शब्दों, जैसे आत्म-विश्वास, वैयक्तिक सत्य-निष्ठा, आत्म-निर्भरता, उत्तरदायित्व, अथवा 'साहस' (गट्स) आदि का नितान्त अभाव है (पृ० 40)।"

हमारे उद्देश्य के लिए निम्नलिखित गद्यांश भी प्रसंगानुरूप है:

"इस अध्ययन का यह सिद्धान्त है कि हमारे समाज में जो परिवर्तन कुछ वर्षों से हो रहे हैं वे विकृत हैं और यदि वे संशोधन के बिना ऐसे ही चलते रहे तो विनाश का गुप्त मार्ग बन जाएंगे। अनेक प्रकार के तथा अनेक व्यवसायों वाले व्यक्तियों मनश्चिकित्सकों, फ्रायडीय विचार के बाल-मनोविज्ञान-शास्त्रियों, बच्चों को खुली स्वतन्त्रता देने वाले मां-बाप और प्रगतिशील अध्यापकों, समाज-कल्याण के कार्य-कर्ताओं और चित्ताकर्षक न्यायाधीशों, व्यापार और उद्योगों के मैनेजरों, और श्रम तथा विद्या के क्षेत्र के नेताओं और राजनीतिज्ञ तथा अनेक प्रकार के राजनीतिक प्रशासकों का इस परिवर्तन को पैदा करने में हाथ है। इसके अतिरिक्त यह बात और है कि प्राय: प्रत्येक व्यक्ति इन परिवर्तनों का स्वागत करता है, अथवा कम से कम निश्चेष्ट भाव से इन्हें स्वीकार कर लेता है (पृ० 44)।"[2]

---

2. धर्म के प्रशान्त स्कूल, बर्कले, कैलिफोर्निया के 1960 के धर्मशास्त्रीय सम्मेलन में डीन आर० ई० फिच की दी गई "धर्म में लम्पट की उन्नति" (Rake's Progress in Religion) शीर्षक तीन भाषणों की एक भाषण-माला भी देखिए।

मैं यहा प्रोफैसर लापीरे के कथन मे एक-दो सशोधन जो महत्त्वहीन नही है प्रस्तुत करता हूँ। किसी विचित्र सयोग के कारण वे उस व्यावसायिक वर्ग को जो फ्रायडीय नीति के प्रचार के लिए सबसे अधिक सक्रिय है, गिनना भूल गए। जिस समय मनश्चिकित्सक और मनोवैज्ञानिक सामान्यत मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त और सयोग को छोडते जा रहे हैं, धर्माचार्य और धर्म-शास्त्री-गण, एक वर्ग के रूप मे, गुप्त रूप से अथवा प्रकट रूप से इसका प्रचार कर रहे हैं। मगर, यह मानता हू कि ऐसे बहुत से पादरी है जो इस कथन के निर्विवाद अपवाद है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय धर्म-शास्त्री-गण एक व्यवसाय के रूप मे अन्य किसी तुलना योग्य वर्ग, जिसमे मनोवैज्ञानिक और सम्भवत मनश्चिकित्सक भी शामिल है, की अपेक्षा, फ्रायडीय आदर्श के प्रभाव मे सबसे अधिक है (अध्याय 4, 6 और 9)।

चर्च और धर्म-विद्यामन्दिर, मेरा ऐसा विश्वास है, अपने घर की सफाई मे लगे हुए है और आशा है कि इस पथ-भ्रष्टता से शीघ्र बच निकलेगे। हाल ही मे मुझे वाई० एम० सी० ए० और वाई० डब्ल्यू० सी० ए० की राष्ट्रीय विद्यार्थी परिषद् की वार्षिक बैठक के उद्‌घाटन अधिवेशन मे हार्वे कोक्स के अगस्त, 1959 मे दिए गए भाषण के टेप रिकार्ड को सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस टेप से एक भाग उद्धृत करने की मुझे अनुमति दे। "कष्ट" और "समस्याओ" के भेद के सम्बन्ध मे, जिस पर हम वापिस आएगे, कोलम्बया के समाजशास्त्री सी० राइट मिल्स का उद्धरण देने के बाद कौक्स कहते है

> "वाई एम तथा वाई डब्ल्यू विद्यार्थी के रूप मे, मैं सोचता हू कि अवचेतन मनोविज्ञान के साथ जल्दबाजी मे प्रेम-सम्बन्धो के कारण हम कष्टो और रोग-लक्षणो से आहत हैं। अपने आपकी खोज करने मे, अपने सच्चे और छद्म-वेप-रहित अह को निरावरण करके उसे प्रकट करने मे कितनी स्याही उडेली है—इस पर क्षण भर के लिए विचार कीजिए। मेरे विचार मे, मैं कौन हू ? इसकी पर्याप्त मात्रा हमे मिल चुकी है। इस भ्रामक प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए जो अनगिनत प्रोग्राम बनाने का प्रयत्न हम कर रहे है उन पर थोडी देर के लिए विचार कीजिए। और फिर विचार कीजिए कि यह कहा तक धार्मिक आमूलपरिवर्तनवाद के कारण है।"

मुक्ति-सेना (Salvation Army) के सदस्य ने हाल ही मे मुझे महत्त्वपूर्ण सूचना दी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सेना "आकडो" पर आश्रित है। और ये

क्या दर्शाते है ? कुछ वर्ष पहले अनेक धार्मिक सस्थानो के साथ इस सगठन ने यह निश्चित किया कि यह भी एक अच्छी चीज के लिए कुछ खोने को तैयार है अर्थात् इसे भी "अवचेतन मनोविज्ञान" को, जिसकी ओर मिस्टर कौक्स ने सकेत किया है, अपनाना चाहिए। और इसका परिणाम क्या निकला ? भ्रान्त तथा विघटित पुरुष तथा स्त्रियो का उद्धार करने की क्षमता की दृष्टि से इस सस्था मे निरन्तर गिरावट आती रही। इसलिए शिकागो स्थित मुक्ति सेना के प्रधान कार्यालय के कमिश्नर ने अपने सभी स्कूलो और प्रशिक्षिण केन्द्रो को "अवचेतन" उपागम त्यागने और परम्परागत विधियो को फिर से अपनाने के लिए निदेश भेजा।[3]

मेरा विश्वास है कि अधिक परम्परावादी धार्मिक सस्थानो मे इसी प्रकार की बहुत सी प्रवृत्तिया है। लेकिन यहा एक और सभ्रान्त करने वाली जटिलता उपस्थित है, यथा, चर्च की उपस्थिति और सदस्यता मे अपूर्व वृद्धि। मै व्यक्तिगत तौर पर यह सदेह नही करता कि "धर्म की ओर यह पुनरावर्तन" वैयक्तिक समस्याओ मे पादरियो की बढती हुई रुचि से, अर्थात् व्यक्तिगत परामर्श और धर्म प्रचार-मन्दिरो पर इस रुचि के बढते हुए प्रभाव से सम्बन्धित है। लेकिन मैं आपसे यह भी अनुरोध करता हू कि हार्वे कौक्स ने इसका जो दूसरा अर्थ लगाया है इस पर भी विचार करें। वे कहते है

> "मेरे विचार मे धर्म की ओर पुनरावर्तन त्रुटिपूर्ण पक्ष का ही प्रमाण है। मेरे विचार मे इसका बहुत कुछ अश उन्नीसवी सदी की जीवन-शैली से जो अब निरर्थक है, चिपके रहने के उत्सुकता-पूर्ण प्रयत्न का एक चिह्न है।"

और यह तथ्य मेरे जैसे विचारो के व्यक्ति को, यहा धर्म के प्रशान्त स्कूल मे तथा 38वें वास्तविक धर्माचार्य सम्मेलन मे इन भाषणो को देने के लिये आमन्त्रित किया है इस बात का एक और चिह्न है कि गिरजा घर जाने वाले लोग इस सम्भावना को मानने के लिए तत्पर हैं कि उन्होने इस क्षेत्र मे गलतिया की हैं और उन्हे अपनी महान् परम्पराओ और स्वकीय शक्तियो पर फिर से विचार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। किसी भी दृष्टि से इसका यह अर्थ नही है कि फ्रायड से पहले धर्मशास्त्र और धार्मिक सिद्धान्तो को हमे फिर से अपनाना चाहिए। जैसाकि मैं दूसरे भाषण मे बता चुका हू, मनोविश्लेषणवाद

---

3 देखिए "God at the Scrap Heaps" एच० एफ० मिलन्स (1945), और एस० एल० ब्रैन्गले की "Helps to Holiness" (1948)।

उन्नीसवी सदी के धार्मिक सिद्धान्त और व्यवहार की आलोचना के रूप मे प्रादुर्भूत हुआ। लेकिन हमे धर्माज्ञा, धर्म-अभियोग और स्वय शाप को ही चिकित्सा नही मान लेना चाहिए जैसाकि मेरे विचार मे बहुत से धर्म-शास्त्री मानते है।

सक्षेप मे, मैंने जिस बात का सुझाव दिया है वह यह है कि नयी-नयी विकसित होती हुई बातो से उत्तरोत्तर स्पष्टता के साथ इस बात का सकेत मिलता है कि प्रोफेसर लापीरे ने जिसे फ्रायडीय नीति कहा है उसकी निरन्तर गिरावट हो रही है और हमारे पास अपना काम चलाने के लिए इसकी जगह और कोई उचित और वास्तविक उपाय ढूंढने के सिवाय और कोई चारा नही रह गया है। विज्ञान के क्षेत्र मे कोनन्ट का यह सिद्धान्त सर्वविदित है कि एक सिद्धान्त को कभी विरोधी तथ्यो के द्वारा त्यागा नही जाता बल्कि उससे अच्छे दूसरे सिद्धान्त के द्वारा ही उसे हटाया जाता है। यह बात तो निश्चित है कि फ्रायड की मूल्य-मान्यताओ का खण्डन करने के लिए अनुभवाश्रित प्रमाण हमेशा ही मिलते रहे हैं। लेकिन उन्नीसवी सदी के धर्म-शास्त्र ने तत्त्वविद्या सम्बन्धी ऐसी असगत बातो मे अपने आपको फँसा दिया था कि जब फ्रायड अपनी विदग्धता-पूर्ण विधर्मता की रचना के साथ उपस्थित हुआ तो चर्च उसका कोई मुकाबला न कर सका। अब हम फ्रायड को सच्चे रूप मे देखते है, मसीह के रूप मे नही बल्कि एक प्रवचक के रूप मे, और चर्च अपने विनाश पर भी अपनी श्रद्धाजलिया उसे अर्पित करता रहेगा।

II तो हमे अब बचाव के लिये क्या करना चाहिए ?

इलिनोस विश्वविद्यालय के ग्रीष्मकालीन सत्र मे बहुत से वर्षों तक अपने शिक्षण महाविद्यालय मे "शिक्षको के लिये मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान" शीर्षक एक पाठ्य-क्रम पढाया जाता रहा है और अब हम इस पाठ्य-क्रम का आधा अथवा दो-तिहाई भाग पूरा कर चुके है (जिसमे हम उतना ही पथ चल पाते हैं जितना कि इन भाषणो मे पूरा किया है, यद्यपि उस समय और अधिक व्यवस्थित ढग से पूरा किया जाता है)। विद्यार्थी यह पूछना शुरू कर देते हैं तो हम इस परिस्थिति के बारे मे क्या कर सकते है? जैसे ही हमारी कष्टावस्था का निदान स्पष्ट होता है तैसे ही वे फलानुमान के बारे मे अर्थात् सुधार के लिए नुस्खो के बारे मे प्रश्न करने लगते है। पिछले वर्षों मे मैं यह कहने के लिए विवश रहा हू कि इसका उत्तर मैं नही जानता। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि अब स्थिति धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही है। जसाकि मैं पहले ही सकेत कर चुका हू (अध्याय 7) कि चर्च को एक नये और प्रभावपूर्ण ढग से मानसिक स्वास्थ्य के बारे मे चिन्तित होना चाहिए। अब और अधिक दिन इसे ऐसे व्यवसाय का अनुचारी नही होना चाहिए जो अपनी स्वीकृति के अनुसार इस

समस्या को हल करने में असफल रहा है (उदाहरण के लिये देखो अध्याय 4)। इसके स्थान में इस समस्या को स्वकीय ढंग से ही, अर्थात् धर्म की ही महान् अन्तर्दृष्टि और प्रामाणिकता के द्वारा हल करना चाहिए। और यदि उसके वर्तमान आदेश और सिद्धान्त इस कार्य के लिये पर्याप्त नहीं है तो उन्हे तब तक परिवर्तित और संशोधित करना चाहिए जब तक कि वे इस योग्य नहीं हो जाते हैं।

इस प्रोग्राम के एक अंग के रूप में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हम अनेक प्रोटेस्टेंट संस्थाओं में लागू होने वाली पाप-स्वीकृति की पुनर्स्थापना की ओर बढ़ रहे हैं। धर्माचार्य परामर्श, "स्वैच्छिक तथा अनिर्देशित परामर्श", पापस्वीकृति का ही प्रिय नाम है और यदि ठीक तरह से इसका प्रयोग किया जाय, तो मेरे विश्वास के अनुसार, जितना यह इस समय सहायक है निस्सदेह उससे कही अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है। लेकिन वर्तमान मे प्रचलित चिकित्सा-सम्बन्धी इस विचार का, कि एक व्यक्ति "सहायता" के लिए अथवा "चिकित्सा" के लिए तभी जाता है जब वह कष्टग्रस्त हो, अर्थात् पहले से ही रोगी हो, अतिक्रमण करके रोग के बचाव के लिए सक्रिय प्रोग्राम की ओर बढना है, और इस सम्बन्ध में यह बात भी है कि पाप-स्वीकृति का बाध्यता-मूलक पहलू विशेष अनिवार्यता रखता है। इस समय इस विचार को ग्रहण करने की अच्छी हालत है, और मुझे नजदीकी भविष्य मे इसे सफलतापूर्वक व्यवहार मे लागू होते हुए देख कर, विशेष कर लूथरीय और एपिस्कोपिक क्षेत्रो मे, कोई आश्चर्य नही होगा।

मगर मैं समझता हूं कि ये कथन उस उचित सन्दर्भ के बिना, जिससे ये लिये गये है, उद्दाम, और कुछ को शायद पाखण्ड-रूप, प्रतीत हो, लेकिन इस वसन्त ऋतु के निबल भाषणो मे इस विचार शृंखला को मैं प्रमाणो सहित अधिक प्रबोधक ढग से विकसित करने की आशा रखता हू (देखो अध्याय 11, 12)।

तो इस सन्ध्या में विचार के लिये क्या रह जाता है? मेरा यह विश्वास है कि इस भाषण-माला के पहले दो भाषणो मे जो तर्क और विश्लेषण प्रस्तुत किया हुआ है उसका उपसंहार करने के लिये हम अपना शेष समय निम्नलिखित ढग मे प्रयोग मे लायेंगे। पिछले कुछ दशको मे जब भी हम कभी किसी को गम्भीर रूप मे कष्टग्रस्त और विक्षुब्ध देखते थे तो हमे यह कहने की आदत थी उस व्यक्ति को "चिकित्सा की जरूरत है?" आखिरकार हम इस तथ्य के प्रति जागरूक हो गए हैं कि जिस "चिकित्सा-पद्धति" को हम दूसरो के लिये (और अपने लिये) विनम्रतापूर्वक निर्देशित करते रहे है वह बुनियादी तौर पर निरर्थक है—एक ऐसी चिकित्सा-पद्धति है जो उपचार नही करती और जो, एक सामान्य सामाजिक दर्शन और जीवन प्रदर्शक के रूप मे नितान्त घातक है। अब हम यह समझने लगे हैं कि इस संदिग्ध कला के व्यवसायी जिस वस्तु को

25 डालर से 50 डालर, अथवा जो भी दर बाजार मे सह्य हो, प्रति घण्टा बेचते रहे है, वह जाल और धोखा है और मूलत उसमे भिन्न उपागम की आवश्यकता है। अब, केवल "रोगी" व्यक्ति की चर्चा करने के स्थान पर रोगी समाज की चर्चा करने लगे है, और मेरा निवेदन है कि इस सामान्य रोग का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि हम अपने व्यक्तिगत और सामूहिक कष्टो को पाप अथवा बुराई न कह कर "रोग" कहते है। जैसाकि प्रोफैसर लापीरे ने कहा है रोग का प्रत्यय मूर्ख बनाने तथा निर्बल बनाने वाला है, इसके विपरीत बुराई के प्रत्यय मे श्रेयस्कर तथा अनुप्राणित करने का भाव है। अभिव्यजित प्रतिपक्ष के द्वारा यह एक शुभ पुरुपार्थ का, एक ऐसे विध्यात्मक तथा वास्तविक उद्देश्य का, जिस पर डा० बैले की अगूर की बेल चढ सके और विकसित हो सके, ज्ञान प्रदान करता है।

सक्षेप मे, ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे हम "चिकित्सा प्रणाली" कहते चले आ रहे हैं उसे स्वय "चिकित्सा" की आवश्यकता है, और जब यह चिकित्सा का विषय बन जाता है तो समस्या एक नए रजिस्टर मे, एक नए विवेचन-क्षेत्र मे स्थानान्तरित हो जाती है। कुछ वर्ष पहले रौलो मे (1953) ने कहा था कि जब भी वैयक्तिक मनोरोग-चिकित्सा की व्यापक आवश्यकता पडने लगती है तो उस समाज मे सस्थागत और रचना-सम्बन्धी सकट छाया होता है। और एक भापण मे, जिसकी ओर पहले ही सकेत कर चुके है, हार्वे कोक्स ने इस विचार को और भी अधिक स्पष्टता के साथ विकसित किया है। कष्टो और समस्याओ के भेद के विपय मे सी राइट मिल्स का उद्धरण देने के बाद वे कहते हैं

> "कष्ट व्यक्तिगत, एकाकी और वैयक्तिक होते है। समस्याए रचनामूलक, सामान्य, और व्यापक होती है। जब एक व्यक्ति को कोई कार्य नही मिलता तो वह एक कष्ट है, और जब छ लाख व्यक्ति बेकार हो जाए तो यह एक समस्या (issue) है। जब एक दम्पती वैवाहिक जीवन सफल नही बना सकता तो यह एक कष्ट है भले ही एक गम्भीर कष्ट हो, और जब वैवाहिक सम्बन्धो मे एक-तिहाई के असफल होने से तलाक की दर बढ जाती है तो यह एक समस्या है।"

अब मैं यह निवेदन करता हू कि मनश्चिकित्सा तथा धर्म के क्षेत्र मे हमारे सामने केवल कष्ट — अर्थात् सस्थामूलक तथा आदर्शमूलक स्वभावत स्वस्थ व्यवस्था मे क्रिया करने की व्यक्तिगत असफलताए ही नही हैं, अपितु समस्याए, ऐसी गुरुता के गम्भीर व्यापक प्रश्न भी उपस्थित है, जैसाकि प्रोफैसर लापीरे ने कहा है कि हमारा सामूहिक तथा वैयक्तिक सरक्षण इस बात पर निर्भर करता है

कि हम उनके प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करते है। इसलिए मेरा निवेदन है कि शेष समय मे इन समस्याओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते रहे, इसमे मान्यता यह होगी कि हमारा यह प्रयत्न व्यावहारिक पुनर्निर्माण और सुधार का आवश्यक आमुख अथवा कम से कम सहचारी रहे।

बौद्धिक विश्लेषण पर इस प्रकार इतना बल देते समय विरोध मे फंसने के भय की मुझे अनुभूति है। अन्य अवसरो पर (उदाहरण के तौर पर देखिए अध्याय 3) वास्तविक व्यवहार का पक्ष लेते समय मैंने "अन्तर्दृष्टि" और केवल सैद्धान्तिक ज्ञान के "चिकित्सा-सम्बन्धी" महत्त्व के विरुद्ध तर्क दिया है। अनौपचारिक तौर पर मैंने प्राय ई स्टेनले जोन्स का एक सूत्र यह प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उद्धृत किया है कि नई कार्य-पद्धति की अपेक्षा नई विचार-पद्धति मे अपने आपको ढालना आसान है। और लायड डागलस ने अपने उपन्यास के पात्रों में दूसरो को "ऐसा ज्ञान" प्राप्त करने का जो केवल विचार अथवा बात-चीत से प्राप्त नही होता अपितु नवीन जीवन-शैली और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध सहिता का व्यावहारिक प्रयोग करने से प्राप्त होता है, उपदेश दिया है। "कुछ पूंजी लगाओ, कोई प्रयोग करो", यह इस बात को प्रकट करने की डागलस की रुक्ष शैली है।

जोन्स और डागलस, और कोक्स, मेरे विश्वास के अनुसार, विचार और कर्म के स्वाभाविक पारस्परिक सम्बन्धो का तिरस्कार नही करते। बल्कि वे किसी नवीन कर्म-विधान, तथा, आचरण और जीवन-शैली के प्रकार पर स्पष्टत. बन्धन लगाने के साथ मनोविश्लेपण और तत्सम्बन्धी अन्य विधियो मे जो अनन्त चिन्तन और "स्वतन्त्र-साहचर्य" चलता है उसके विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। प्रतिष्ठित मनोविश्लेपण के मध्य, रोगी को अपने जीवन मे किसी बडे निर्णय अथवा परिवर्तन का स्पष्टत निषेध इस आधार पर किया जाता है कि जब तक उसकी चिकित्सा चल रही है वह ऐसा करने मे समर्थ नही होगा और भयकर गलतिया कर सकेगा। चिकित्सा के मध्य रोगी को काम-प्रवृत्ति तथा आक्रामक प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे "वास्तविक-परीक्षा" के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, लेकिन कोई भी बात, जो मूलत इतनी नई होती है जितनी कि एक नितान्त नई विधि को अपनाने अथवा अपने नैतिक गृह को व्यवस्थित करने का प्रयत्न, उसे प्रयत्नपूर्वक हतोत्साहित किया जाता है।

जिन विरोधाभासो से मनो-विश्लेपणवाद ग्रस्त है उनमे से एक यह है कि जहा यह मनुष्य की प्रकृति को मूलतः विवेकहीन मानता है वहा यह शब्दमयी क्रियाओं मे सर्वाधिक आस्था रखता है और जी० एच० मीड जिसे वास्तविक सामाजिक कर्म कहता है, उसकी उपेक्षा करता है। इसलिए यह कोई विशेष आश्चर्य की बात नही है कि विश्लेपण की समाप्ति ही न हो पाती हो और

अन्त मे—यदि अन्त कही हो तो—विश्लेष्य व्यक्ति को एक बौद्धिक और भावात्मक दलदल मे छोड देता हो। प्रासगिक रूप से, पूर्ण गम्भीरता के साथ, मैं यह सुझाव देना चाहता हू कि हमारे समाज मे सुखी और सम्पन्न वर्ग व्यक्तिगत उद्धार के रूप को खरीदने का प्रयत्न करते रहे हैं। वह इतना समर्थ नही है, जितनी कि वह चिकित्सा अथवा "चिकित्सा-पद्धतिया" जिन तक गरीब व्यक्तियो ने अपने आपको सीमित रखा है। मैं एलकोहौलिक्स एनोनिमस के ही विषय मे नही सोच रहा हू, लेकिन स्त्री-पुरुषो के जिस नाटकीय परिवर्तन को मुक्ति सेना प्राय प्राप्त कर लेती है, उसके विषय मे भी सोचता हू। और इस बात के पर्याप्त प्रमाण है—उदाहरण के तौर पर देखो बौइसन की पुस्तक "सकट और रीतिरिवाजो के चर्च" (Churches of Crisis and Custom) जिसमे कहा है, कि तथाकथित वर्ग के चर्चो मे कुछ रिवाज कठोर तथा नव-जीवन प्रदान करने वाले है।[4] दूसरे शब्दो मे, मैं यह सुझाव दे रहा हू कि अब वह समय आ गया है जब हमे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मुक्ति के ऐसे प्रकार को, जो गरीबो को सुलभ होने वाले उद्धार से अच्छा और सस्कृत समझा जाता है, खरीदने मे हम वास्तव मे अपने धन का अपव्यय करते रहे है। व्यावसायिक चिकित्सा-पद्धति के सफल होने का कोई प्रमाण नही है—निस्सदेह ही इनकी उस सफलता से कोई तुलना नही है जो एए और मुक्ति सेना ने परिवर्तन लाने मे प्राप्त की है, और मैंने प्राय विस्मय इस बात पर प्रकट किया है कि यदि हमे चिकित्सा की आवश्यकता है तो हम तथाकथित चिकित्सक को बुलाने और उसे उदारता के साथ फीस देने की बजाय इतना ही रुपया प्रति सप्ताह किसी और अच्छे उद्देश्य के लिए खर्च करें तो क्या अधिक अच्छे नही हो सकते।

"स्वीडन के एक मनोविश्लेपक, डा० निल्स हाक, जिन्होने मोटी

---

4 उदाहरण के रूप में मुझे एक ऐसी कहानी का ध्यान आ रहा है जो मुझे तथा-कथित सम्प्रदायी अथवा "सीमावर्त्ती" सस्थाओं से एक सस्था के एक धर्माचार्य ने सुनाई थी। इस धर्माचार्य ने बताया था कि किस प्रकार उस पर समलिंगी-कामाचार का सदेह होने पर उसके सम्प्रदाय के अधिष्ठाताओं ने धर्म-सभा के सामने अपने पाप को स्वीकार करने के लिए उसे बाध्य किया गया था और किस प्रकार इससे उसे इस विकृति से छुटकारा मिला था और तत्काल ही उसके सफल विवाह और पितृ जीवन का आधार तैयार हो गया था। इसके विपरीत, धर्म-निरपेक्ष चिकित्सा में हम इससे कहीं अधिक कम परिवर्तनों अथवा "गति-विधियों" से सतुष्ट हो जाते हैं। कुछ वर्ष पहले एक नाटक में कैथराइन के अभिनय पर टिप्पणी करते हुए आलोचक ने कहा था कि वह "ए से बी तक" पूरा भावात्मक चक्कर लगा चुकी है। मनोविश्लेपण के परिणाम के सम्बन्ध में भी वही टिप्पणी की जा सकती है।

फीस के महत्त्व पर बहुत लिखा है, कहते है कि जो सस्ता है उसका कोई मूल्य नही है, ऐसा विश्वास मानव मे बहुत गहरा बैठा हुआ है। वे तर्क देते हैं कि बडी फीस मागने वाला मनोविश्लेपक रोगी को स्पष्टत एक ऐसा व्यक्ति प्रतीत होता है जो रुपये के बारे मे ईमानदार होता है। इससे रोगी के लिए विश्लेपक अनुकरणीय व्यक्ति लगने लगता है। हाक कहते हैं कि बडी फीस के कारण रोगी बचपना और विश्लेषक पर आश्रित महसूस नही करता। उस रुग्णतान्त्रिक के लिए जो अपने आपको कष्ट पहुचाना चाहता है, स्वीडन के एक डाक्टर के अनुसार, विश्लेषण को बडी फीस देना उसकी आधि-मूलक भावनाओ को व्यक्त करने का अच्छा माध्यम है। यदि विश्लेपक रोगी को थोडी फीस देने को ही मजबूर करे तो रोगी के मन मे इस प्रकार नीचा दिखाने वाला कृतज्ञता का भाव पैदा होगा जो उसकी चिकित्सा मे बाधक बनेगा। डा० हाक के अनुसार विश्लेपक के दृष्टिकोण पर भी विचार करना है। यदि विश्लेषक थोडी फीस लेता है तो उसे विश्लेपण करने की अपनी इच्छा मे भी सदेह हो सकता है। उसे यह सदेह हो सकता है कि क्या वह अपने रोगी से प्यार करता है अथवा उससे वास्तव मे घृणा करता है और उसे छिपाने के लिए दयाभाव प्रदर्शित कर रहा है। इस प्रकार की बातें सहायता पहुँचाने की विश्लेपक की क्षमता मे बाधक हो सकती है (पृ० 45)।"

आपमे से कुछ को, निस्सदेह ही, पूर्वगामी उद्धरण 'लुक मैगजीन' मे प्रकाशित आर० एच० बर्ग के अभिनव लेख के, जिसकी ओर मैं पहले सकेत कर चुका हू, अश के समान प्रतीत होगा। एक और तर्क जो इससे अधिक ध्याना-कर्षक है, ऐसा है कि एक विश्लेपक रोगी को जो चीज प्रधानत देता है वह उसके बात करते समय अपना ध्यान है और यदि उसे (विश्लेपक को) आर्थिक चिन्ताए होगी तो वह अपनी समस्याओ के कारण ध्यान केन्द्रित नही कर सकेगा।

डा० हाक की यह कल्पना है कि जो भी वस्तु सस्ती मिल जाती है वह निरर्थक प्रतीत होती है। इस सन्दर्भ मे इससे भी अधिक सगत यह अवलोकन है कि कोई वस्तु, जैसे मनोविश्लेपण, बहुत महगी हो सकती है लेकिन फिर भी, स्वपीडन रति और लाक्षणिक राहत को छोड कर जो उसके कथन से भी अभि-व्यजित होता है, निरर्थक हो सकती है। मेरा निवेदन है कि यदि हमने कोई त्याग ही करना है तो बर्बाद घर मे मनोविश्लेषण की सहायता करने की अपेक्षा हमे कुछ अन्य सामाजिक और नैतिक विधिया अपनानी होगी।

लेकिन यह तो असम्बद्ध है। जो बात मैं कहना चाहता हू वह यह है। केवल विचार करने, बातचीत करने और विश्लेषण करने से अपनी रक्षा नही

होगी। हमारा अन्तिम उद्धार एक आमूल परिवर्तित जीवन-शैली मे ही मिल सकता है। इस प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता, कुछ हद तक, नई दृष्टि, नए विचारो पर, जिन्हे हम बौद्धिक क्रिया द्वारा प्राप्त कर सकते है, प्राय निर्भर है, और इस मान्यता के आधार पर ही मैं यह सुझाव देता हू कि जो समस्याए इस समय अत्यधिक विभ्रान्ति का कारण प्रतीत होती है, उन्हे स्पष्ट करने के लिए हम प्रयत्न करते रहे।

III बुराई (Evil) की समस्या

अनुभव द्वारा निश्चित

यदि एक राष्ट्र और समाज के रूप मे हमारी उग्र बीमारी का एक पहलू यह है कि हम अपराध, पाप, और बुराई की भाषा मे न बोल कर बीमारी की भाषा मे बोलते है तो इससे यह अनुगमित होता है कि हमे इन प्रत्ययो पर पुन विचार करना चाहिए। मगर, यह हमारे लिए सरल नही है। हम इन शब्दो के रूप मे सोचने के अभ्यस्त नही है और हमे वे अनुकूल प्रतीत नही होते। इस सत्र के स्नातको की एक विचार-गोष्ठी की प्रथम बैठक मे विद्यार्थियो ने सर्वप्रथम जो प्रश्न किया वह यह था लेकिन अपराध है क्या? बहुत से धार्मिक नेता और सर्वसाधारण जन के साथ मनोवैज्ञानिको और मनश्चिकित्सको ने अपराध-भावना पर विचार करना सीखा है, अर्थात् ऐसी अपराध-अनुभूति पर जो अवास्तविक और क्रिया-क्षमता से रहित है और जिससे तब तक छुटकारा नही मिल सकता जब तक आपको 'अच्छा' चिकित्सक नही मिल जाता, तथा जब तक आप उसका खर्च नही सह सकते, विशेष रूप मे विचार करना सीखा है। यह प्रत्यय कि अपराध वास्तविक है और बातचीत अथवा 'परामर्श' अथवा 'विश्लेषण' से समाप्त नही किया जा सकता, हमारी साधारण समझ से बाहर है।

जिन परस्थितियो ने एक राष्ट्र के रूप मे हमे इस विचित्र दशा मे धकेल दिया है उन्हे आज हमारी अपेक्षा भविष्यत् के इतिहास-शास्त्री अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकेंगे। इसमे सदेह नही है कि इसकी सच्ची और पूर्ण व्याख्या जटिल है, लेकिन इस परिस्थिति का एक प्रधान तत्त्व जिसे, मेरे विश्वास के अनुसार, हम कुछ स्पष्टता के साथ देख सकते हैं, यह है कि हमारे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो के परम्परागत सरक्षको ने इन विषयो पर जिस भाषा और जिस सदर्भ मे चर्चा करने पर बल दिया है, वे अब आधुनिक मनुष्य को मानसिक दशा और विचार-वृत्ति को सार्थक नही लगते। पाल टिलिक के एक धर्म-शास्त्री के रूप मे अधिक लोक-प्रिय होने का एक कारण, मेरे विचार मे, यह है कि वे परम्परागत अर्थ मे धर्म-शास्त्र-अननुगामी होने का साहस और विवेक रखते हैं। हाल ही मे मैं धर्माचार्यों के एक समूह से मिला, जिन्होने अपने मन मे मुझे

अध्यात्मवृत्तिविहीन प्रकृतवादी समझा जो उनकी धार्मिक वृत्ति के अनुकूल नही था, और कुछ घण्टे बाद मै विश्वविद्यालय सकाय के उसी सम्प्रदाय के एक वर्ग से मिला जिन्हे मेरी स्थिति नैतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी, और, जहा तक उनका सम्बन्ध था, धर्म-शास्त्रानुगामी और अलौकिकतावाद से पुष्ट प्रतीत हुई। इस दीर्घकाल मे जो भी कुछ घटा है उससे अधिक इस अनुभव ने इस क्षेत्र मे व्याप्त एकता का अत्यन्त अभाव, विभ्रान्ति और विविधता की सीमा का मुझे ज्ञान प्रदान किया। मेरे विश्वास के अनुसार आप सब सहमत होगे कि यह दशा स्वस्थ नही है। हमारे समय मे, सामाजिक, नैतिक, तथा आचरण सम्बन्धी नियमो मे न कोई सगठन है और न इनमे हमारा कोई विश्वास है। परम्परागत धर्म-शास्त्र की स्थिति के साथ एक कठिनाई यह है कि इसके तर्क और विचार के रूप आधुनिक मन के लिए अपरिचित हैं, और उस व्यक्ति के लिए भी जो यह समझता है कि उसका मन पूर्ण वैज्ञानिक है और वस्तुपरक दार्शनिक दृष्टि से पूर्णत रँगा हुआ है, एक कठिनाई यह है कि उसे उसमे नैतिक मूल्यो, माप-दण्ड और नैतिक नियमो को कोई स्थान दिखाई नही देता। परम्परागत धर्म-शास्त्र मूल पक्ष था (यदि हम हेगल के सुपरिचित शब्द रूपादर्श का प्रयोग करे), वैज्ञानिक प्रकृतिवाद एक गर्जता हुआ प्रतिपक्ष है, इस सघर्ष से, मेरे विश्वास के अनुसार, कोई नया समन्वय प्रकट होना चाहिए (मौरर, 1959)। मैं स्वय इस नैतिक आदर्श को अधिक स्पष्टता के साथ नही देख सकता, किन्तु इस चित्र का एक पहलू है जो पूर्णत निश्चित प्रतीत होता है।

हमारे समय मे नैतिक आदर्शो और मूल्यो के प्रति अविश्वास फैला हुआ है जिसे अनुगामी तर्क से पुष्ट किया जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि भला होने का अर्थ है प्रचलित नियमो और सामाजिक आदेशो का पालन करना, और आगे कहा जाता है कि ये या तो प्रचलन मे नही रहे होते या और किसी कारण से क्रिया पैदा करने मे अक्षम होते हैं, और यदि हम उनका पालन करते है तो हम उनका प्रसार करते है और इस प्रकार भले तो नही बन पाते बल्कि, वास्तव मे, मूर्ख और बुरे बन जाते है।

मुझे स्मरण है कि कुछ वर्ष पहले एक विवाहित युवती अत्यन्त दु खी हुई मेरे पास आई, क्योकि उसका पति, जिससे, वह बहुत प्यार करती थी, उसके कथनानुसार, अन्य स्त्रियो के साथ जब वे सामाजिक पार्टी मे होती 'मनोविनोद' करता था। उसका पति जो विवाह को मूल्यवान् समझता था और जो पत्नी को हाथ से खोना नही चाहता था बाद मे बातचीत के लिए मेरे पास आने को सहमत हो गया, और तब तुरन्त ही यह बात प्रकट हुई कि वह पार्टियो मे अन्य स्त्रियो के साथ मनोविनोद करने को इसलिए अच्छा समझता था कि वह एक लेखक बनना चाहता था और 'रचना शील' होने के लिए कुछ

बाहरी उत्तेजना और रोमान्स की जरूरत समझता था ।

यह वैवाहिक स्थिति सूक्ष्म रूप से हमारी बडी समस्या के कम से कम एक अश को अभिव्यजित करती है हम परम्परा, नैतिकता, सामाजिक नियमो और व्यवस्था से इस आधार पर डरने का बहाना कहते है कि इसमे तथाकथित उन्नति, आविष्कार, खोज, रचनात्मक प्रवृत्ति मन्द पड जाएगी । मगर यह बात तुरन्त दिखाई देती है कि अपरिपक्वता, स्वार्थपरता, और नैतिक व्यभिचार के मुखर उदाहरणो को उचित बताने के लिए और उनके लिए कोई बहाना ढूढने के लिए इस फार्मूले का किस प्रकार प्रयोग कर सकते है । लेकिन इस तर्क का एक उपयुक्त पहलू भी है जिसका हमे सामना करना चाहिए । उन व्यक्तियो को छोड कर जो इस द्विविधा का अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दुरुपयोग कर रहे है, ऐसे अनेक आधुनिक स्त्री-पुरुष हैं जो सच्चाई के साथ शका करते है कि उस अन्त प्रेरणा और रचनात्मकता को छोडे बिना जिसे आज हम इतना मूल्य देते है और परिवर्तित होती हुई अपनी सभ्यता की अप्रत्याशित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो इतना आवश्यक है उसे खोए बिना कोई व्यक्ति किस प्रकार प्रचलित सामाजिक नियमावली और व्यवस्था का पालन करने के अर्थ मे, भला बन सकता है । हमारी द्विविधा का यही सार है । एक ओर तो हम यह देख रहे है कि समाज के नियमो का उल्लघन करने का अर्थ मानसिक रोग है और दूसरी ओर जीवन को परिवर्तित करने तथा जीवन की नई विधियो का प्रयोग करने की अपनी स्वतन्त्रता को भी सरक्षित करना है ।

वास्तव मे, मैं यह नही मानता कि इस विरोधाभास को हम जितना कठिन बनाने की कोशिश करते है उससे आधा भी कठिन यह है और इसलिए इसकी ओर अनुगामी ढग से विचार करने को सुझाव देता हू । कल्पना करें कि कोई व्यक्ति ऐसा है (जो कल्पना करना कठिन नही है) जो अपना आय कर नही देना चाहता । मेरे विचार मे उसके सामने चार विकल्प है

1 वह अपना कर ठीक-ठीक और ईमानदारी के साथ अदा कर दे और कोई निराशा भी अनुभव न करें। वह यह महसूस करे कि दुनिया की बातो की जो वर्तमान दशा है, उसमे वह इस समस्या के विषय मे और कुछ नही कर सकता और वह सोचे कि वह हर हालत मे अन्य बातो मे अधिक रुचि रखता है। इस मान्यता (जो फ्रायडीय सिद्धान्त से अनुगमित है) की व्यापकता के होने पर भी कि अपने आक्रोश को प्रकट करना बुरा है, इस बात का लेशमात्र भी सकेत नही है कि इस प्रकार के सयम ने कभी किसी व्यक्ति को भावात्मक रोगी बनाया हो अथवा उसके चरित्र को नष्ट किया हो। इस प्रकार की परिस्थिति का सामना करने की यह सबसे "रचनात्मक" विधि भले ही न हो, लेकिन यह कम से कम सम्मान के पूर्णत अनुकूल और सुरक्षापूर्ण विधि है ।

2. अथवा कोई जिसके सामने कर का संकट आया है अपना कर ठीक-ठीक और ईमानदारी के साथ अदा तो कर देता है लेकिन बाद में वह जो भी प्रतिरोध उचित समझता है, करता है। इस विशेष उदाहरण में, वह जल्दी ही यह देख सकता है कि केवल विलाप करने से कुछ नहीं हो सकता। उसे कर की वर्तमान दशा के पीछे की हालतों और कारणों को देखना चाहिए। परिणामस्वरूप, वह संयुक्त राष्ट्र संघ को अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवस्था को बढ़ाने और इस प्रकार युद्ध के खतरे और शस्त्रास्त्र-दौड़ की घातक प्रतियोगिता की आवश्यकता को कम करने का एक प्रमुख साधन समझ कर उसका पक्षपाती हो जाए। कहने का भाव यह है कि यदि एक व्यक्ति किसी कानून अथवा नियम का कठोरतापूर्वक पालन करता है तो इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह खुल कर, ईमानदारी-पूर्वक और प्रभावोत्पादक ढंग से उसके परिवर्तन के लिए कुछ नहीं कर सकता।

3. अथवा, हमारा कल्पित व्यक्ति अपने आय कर को पूरा अथवा अधूरा अदा नहीं करता और खुल कर कर देने का विरोध करता है। उसे दण्ड के लिए जेल भेजा जा सकता है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह सच्ची विधि है और अत्यन्त शक्तिशाली हो सकती है। हमारे युग में इस विधि के नाटकीय प्रभाव का एक उदाहरण अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध वह अहिंसात्मक आन्दोलन था जो गांधी और उसके अनुयायियों ने भारत में चलाया। केवल एक उदाहरण लें। नमक पर सरकार का एकाधिकार था। उसकी बढ़ती हुई कीमत से भारत-वासी दुःखी थे और उन्हें समुद्र के पानी से, जो प्राकृतिक देन के रूप में उपलब्ध था, नमक बनाने से (निर्दयी नमक कानून के द्वारा) रोक दिया गया था। इसलिए गांधी ने घोषणा की कि वह समुद्र तक लगभग एक सौ पच्चीस मील की यात्रा पैदल करेगा और ब्रिटिश सरकार के कानून का विरोध करते हुए खुले आम समुद्र से नमक बनाएगा, और उसने अन्य लोगों को भी अपने साथ चलने के लिए आमन्त्रित किया और सैंकड़ों उसके साथ हो गए। गांधी ने अनुरोध किया, "जब अफसर उन पर हमला करें, उन्हें पीटें अथवा बन्दी बनाएं तो वे उनका प्रतिरोध न करें, न भागें और न बदले में लड़ें। हमारे शोषकों में हमें अधिक पीटने का साहस नहीं रहेगा और नमक कानून हटाना पड़ेगा।" समुद्र की ओर इस साहसपूर्ण यात्रा से, जिसे अब डाण्डी-यात्रा पुकारा जाता है, नमक के कानून हटा लिए गए, और अन्त में इसी शक्तिशाली विधि से खुल कर अहिंसात्मक आन्दोलन के द्वारा अंग्रेजी शासन पूर्णतः समाप्त हो गया और परिणामस्वरूप भारत स्वतन्त्र हो गया। यहां, निश्चय ही, एक ऐसी शक्ति, नैतिक शक्ति थी, जो लाठी, तलवार, बन्दूक अथवा बमों से अधिक प्रभावोत्पादक थी। ईमानदारी, तथा साहस के साथ खुल कर सीमित असहयोग करने की क्षमता हम सबमें हर समय है, और यह इतनी शक्तिशाली हो सकती

है जितना कि सरसो का यह बीज जिसकी ओर ईसा मसीह ने दृष्टान्त कथा सकेत किया है।

मैं यहा सीमित असहयोग की बात करता हू। सीमित ही क्यो ? क्यो ऊपर किए हुए दृष्टान्त मे, गाधी और उसके अनुयायी वास्तव मे एक ऐसे नि का कठोरतापूर्वक पालन कर रहे थे जो उस नियम से उच्चतर था जिसे वे त रहे थे उन्होने अपने सम्मान, अपनी निष्कपटता, अपनी सच्चाई की र की—और ससार उनका आदर करता है और उन्हे नही भूलेगा। इस अवलो से, विरोध के द्वारा, हम चौथे विकल्प पर पहुचते है जिसके अनुसार एक व्यि ऐसे नियम अथवा कानून के साथ जो उसे असुविधाजनक अथवा आपत्तिज लगे बर्ताव करने का प्रयत्न कर सकता है।

4 आय कर वाले उदाहरण को लें। वह व्यक्ति अपना पूरा कर अथ आधा कर अदा नही करता है और दावा यह करता है कि उसने पूरा कर अदा दिया है। उसका व्यवहार कानूनी अपराध, धोखा, दम्भ और अपमान से मि हो जाता है। गाधी की नमक-यात्रा ने जिस प्रकार उसमे भाग लेने वालो शक्तिशाली बनाया, उस तरह इस विधि से शक्तिशाली बनना तो दूर, इससे व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है। हमारे युग मे दो असम्बद्ध प्रतीत होने वाली व घटी है, एक तरफ मानसिक रोगो को समझने और काबू मे करने के हम अच्छे से अच्छे प्रयत्न असफल रहे है, और दूसरी ओर हमारे मन मे नैि नियमो और सिद्धान्तो के प्रति व्यापक अविश्वास बढा है। हाल ही मे, पि कुछ वर्षों मे ही, हम यह समझ सके है कि इनमे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध हो सकता यहा सभी मानसिक रोगो के पीछे गुप्त अपराध की गम्भीर समस्या होने सदेह होता है। हमे दिखाई देता है कि व्यक्तित्व के सगठन और चरित्र सगठन की एक ही जड है, और अब यह प्रतीत होता है कि एक के बिना द को हम प्राप्त नही कर सकते। प्रवचना और धोखे से चरित्र मे घुन लग जात और समाज निष्प्राण हो जाता है। यदि हम एक सामाजिक व्यवस्था के ल विशेषाधिकार मानते हैं तो हम उसके नियमन और कानूनो का पा करने के लिए तब तक कर्तव्यबद्ध है जब तक हम उस व्यवस्था को खुल चुनौती देने और परिणामो को स्वीकार करने के लिए तत्पर नही हो जाते।

एक देश का शत्रुता के द्वारा पददलित होने की अवस्था अथवा ऐसी अव जिसका सामना यहूदियो ने नाज़ी जर्मनी मे किया, असाधारण अवस्थाए इनमे सभी प्रकार के नैतिक सकट प्रकट होते है। लेकिन जिन हालतो मे हम अधिकतर व्यक्तियो का विघटन होता है वे असाधारण अथवा लघु-का परिस्थितिया नही हैं। वास्तव मे, हमे ऐसी आवाज़े सुनाई देती हैं कि हमा समाज रुग्ण है और एक व्यक्ति तभी जीवित रह सकता है जब वह उसके निय

का पालन न करके उनका उल्लघन करे। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यहा एक सरल भेद को, अर्थात् व्यक्तिगत पाप और सामूहिक पाप के भेद को, ध्यान मे नही रखा गया। वान्स पैकर्ड का यह कथन ठीक है कि जहा हम कभी अपव्यय और प्रदर्शनकारी उपभोग को एक बुराई समझते थे, वहा हम आज "विकासशील अर्थव्यवस्था" के नाम मे इमे खुल कर प्रोत्साहित कर रहे है। मेरा विश्वास है कि हमारे समार मे "विकासशील अर्थ-व्यवस्था" एक बुराई है, लेकिन यह सामूहिक है। अपनी प्रकृति के अनुसार ही यह सर्वजनीन है, और हम सब थोडा-बहुत इसमे सम्मिलित हैं। मैं यह भविष्यवाणी करता हू कि एक समय आएगा जब हम अत्यधिक पछताएगे, लेकिन मैं ऐसा नही सोचता कि इससे कोई झक्की बन जाएगा। इसी तथ्य का कि हम सब इसमे इकट्ठे है यह अर्थ है कि इसमे सामाजिकता का नाश नही है, अन्य व्यक्तियो के साथ सम्बन्ध-विच्छेदन नही है, और इसीलिए कोई पागलपन नही है।

इसके विपरीत, व्यक्तिगत पाप वे हैं, जिन्हे समाज क्षमा नही करता, जिनके ऊपर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है, और जिन्हे यदि कोई व्यक्ति करता है, तो उन्हे अकेले-अकेले छिप कर ही करता है। हमारा समाज अपनी वर्तमान आर्थिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे अन्धा और अविवेकपूर्ण भले ही क्यो न हो, यह फिर भी बहुत सी बातो के सम्बन्ध मे सगठित है, और इन्ही क्षेत्रो के सम्बन्ध मे प्रत्येक व्यक्ति साफ-साफ सहमत है कि व्यक्तिगत पाप, गोपनीयता और मनोरोग, क्रमश पैदा होते हैं।[6] हाल ही मे मैं राजकीय अस्पताल के एक डाक्टर को इस विषय पर कि जिन रोगियो को उसने देखा है उनकी पृष्ठभूमि मे कौटुम्बिक व्यभिचार का कितना हाथ है, टिप्पणी करते हुए सुना। क्या कोई यह भी सोचता है कि कौटुम्बिक व्यभिचार सुन्दर बात है और इसका प्रयोग आम तौर पर होना चाहिए? मुझे इसमे शक है। लेकिन यह होता है, और मैं नही समझता कि कोई व्यक्ति "समाज की" नैतिक निरर्थकता और अस्पष्टता की चर्चा करके, अपने अपराध को अधिक समय तक इससे आबद्ध रख सकता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि मैंने दिखलाने का प्रयत्न किया है, सामूहिक पाप के साथ सामजस्य किए बिना, अर्थात् व्यक्तिगत पाप मे गिरे बिना, सामूहिक पाप के विरुद्ध लडने की सीधी विधि है। मैं ऐसा समझता हू कि व्यक्तिगत पाप तभी

---

6 प्राय मुझे मूल पाप के प्रत्यय पर विस्तार से चर्चा करने को आमन्त्रित किया जाता है। यदि मै ऐसा करता तो धर्म-शास्त्री मेरे ऊपर यह दोपारोपण कर सकते थे कि मै लाइसेंस के बिना ही उनका व्यवसाय कर रहा हू। लेकिन, इसका मूल्य कुछ भी हो, एक अप्रशिक्षित साधारण व्यक्ति के रूप में मेरा विचार यह है कि यह सिद्धान्त निरर्थक है, जैसाकि स्थानापन्न प्रायश्चित्त का सिद्धान्त निरर्थक है, और इसने ससार मे बहुत हानि की है (अध्याय 11 और 12)।

होता है और मनुष्य मनोवैज्ञानिक विनाश के बीज बोता है, जब वह सामाजिक आदेश अथवा नियमन का उल्लघन करता है लेकिन बहाना यह करता है कि वैसा नही कर रहा।

इस भाग का उपसहार मैं डीट्रिक बौनहाफर से एक हृदयस्पर्शी और ईश्वरोक्तिमय उद्धरण देकर करना चाहता हू। अपनी पुस्तक, 'लाइफ टूगैदर' ("Life Together") मे वे कहते है

> "पाप-स्वीकृति के द्वारा समाज के लिए द्वार खुलता है। पाप अकेला व्यक्ति चाहता है। यह उसे समाज से खीच लेता है। एक व्यक्ति जितना एकाकी होगा, उसके ऊपर पाप का उतना ही भयकर प्रकोप होगा, और वह इसमे जितना अधिक डूबा हुआ रहेगा, उसका एकात उतना ही विनाशकारी होगा। पाप अज्ञात रहना चाहता है। यह प्रकाश से बचता है। जो व्यक्त नही किया गया है उसके अन्धकार मे यह व्यक्ति के सम्पूर्ण रूप को विषाक्त कर देता है (पृ० 112)।"

और अपनी पुस्तक, प्रेम की कला (Art of Loving) मे बिना किसी वाग्छल के एरिक फ्रौम कहते हैं कि समाज के साथ सम्बन्ध-विच्छेद चिन्ता का आधार और उन्माद का प्रारम्भ है (देखो और भी किर्किन्डल, 1960)।"

IV अध पतन और उद्धार का प्रकृतिवादी विवरण

यदि हमारा उपर्युक्त विश्लेषण निर्दोष है, तो जिस दशा को आज हम आधि अथवा मनोविक्षिप्ति कहते है वह वही है जिसे पहले युग मे पाप अथवा निर्लज्जता की अवस्था कहा जाता था और लज्जाजनक गुप्त बातो का होना दोनो की पारिभाषिक विशेषता है। हैवलोक ऐलिस से एक बार पूछा कि वे फ्रायड के विचारो के बारे मे क्या मत रखते हैं तो उन्होने इस प्रश्न को यह कह कर टाल दिया कि उनके विचार मे व्यक्तित्व के कष्ट अचेतन के कारण नही होते, बल्कि व्यक्त न की हुई बातो के कारण होते है। मगर, फ्रायड के सिद्धान्त मे हमारे लिए पिशाचीय आकर्षण था, और केवल अब ही हम यह समझने लगे है कि यह कितना भ्रामक और विनाशकारी था।

वास्तव मे, यदि 'अकथित' न कि 'अज्ञात' ही वह तत्त्व है जो हमारे व्यक्तित्व को बर्बाद कर देता है और जो हमारे जीवन से आनन्द और सार्थकता लूट लेता है, तो किस प्रकार इस विषय के इस सिद्धान्त को हम इस प्रकार शब्द-बद्ध कर सकते हैं कि यह सुन्दरता और युक्तिपूर्णता मे मनोविश्लेषण के बराबर हो? इस सम्बन्ध मे एक क्षण मे मैं सुझाव प्रस्तुत करूगा

लेकिन पहले एक प्रासगिक अवलोकन बतलाता हू। जब एक रुग्णतन्त्रिक (पापी ?) व्यक्ति से यह प्रश्न किया जाता है, कि "वह कौनसी बात है जो तुम्हे इतना चिन्तित, इतना विषादयुक्त और व्याकुल करती है ?" तो उसका उत्तर यह होगा कि वह नही जानता। और इस प्रकार फ्रायड का आदर्शभूत प्रत्युत्तर है "हा, यह ठीक है। तुम अपने कष्टो का कारण नही जानते। वे दबे हुए है, अचेतन हैं और इस प्रकार बिना सहायता के उनके साथ बर्तन करना तुम्हारे वश की बात नही है। इसलिए कितने सौभाग्य की बात है कि अचेतन को चेतना मे लाने के लिए और अपने कष्टो का वास्तविक कारण खोजने के लिए और उनके साथ विचार सम्मत ढग से निर्वर्तन करने के लिए आपको मनोविश्लेषण सुलभ है।"

मुझे याद है कि जब जौन डालर्ड और मैं मानवीय सम्बन्धो की येल सस्था के 'स्टाफ' मे थे तो जौन डालर्ड ने एक बार कहा था कि फ्रायड की वैज्ञानिक देन कुछ भी हो, उसने निश्चय ही बहुत बडा व्यापार शुरू किया हुआ है। पहले की अपेक्षा अब हम इस व्यापार की प्रकृति को अच्छी तरह देख सकते हैं। यह तो निश्चित है कि दूसरो को यह बता कर कि उनके भावात्मक उद्वेलन अस्वीकृति और असशोधित पाप के कारण हैं, कोई भी व्यक्ति अमीर नही बन सकता। उद्धार का वह मार्ग अति कठिन है और यदि सम्भव हो, हम तो इसके विचार से भी बचना चाहते हैं। लेकिन फ्रायडीय सिद्धान्त, बिल्कुल भिन्न है—जो अधिक सुखद और मनपसन्द लगता है। इसके अनुसार, अपने कष्टो के लिए हमे 'दोष' नही देना चाहिए, लेकिन—यहा यह एक मजे की बात है—हम अपने आप इनके बारे मे कुछ कर भी नही सकते। केवल मनोविश्लेपक ही हमे बचा सकता है, और वह ऐसा करने के लिए तैयार है, वह आगे कहता है, बशर्ते कि हम उसके प्रयत्नो के लिए अच्छी प्रकार से भुगतान कर सकें। गरीब व्यक्तियो के लिए, जैसाकि हौलिगशैड-रेडलिक न्यू हेवन के अध्ययन से प्रकट होता है, मनोविश्लेपण कभी जीवित विकल्प नही रहा। और यह कोई दैव योग नही है कि इन व्यक्तियो मे ही हमे मुक्ति की दूसरी सरल, और मूलत प्रभावोत्पादक विधियो का प्रयोग मिलता है। जैसाकि बानहाफर ने अपनी पुस्तक शिष्यत्व की कीमत (The Cost of Discipleship) मे कहा है, बहुत से ईसाई चर्चों ने उन व्यक्तियो के लिएजो समर्थ थे व्यक्तिगत आत्म-ग्लानि, वास्तविक पश्चात्ताप और सार्थक प्रतिदान की जटिलता से रहित मुक्ति का एक सिद्धान्त प्रदान करने का प्रयत्न किया है। बानहाफर ने इसे "सस्ती अनुकम्पा का सिद्धान्त" कहा है, और क्योंकि यह वैयक्तिक स्वीकृति, त्याग और परिवर्तन की दृष्टि से सस्ती है, इसलिए यह अनुकम्पा ही नही है। अपनी महगी फीस होने पर भी मनोविश्लेपण सस्ती और सरल अनुकम्पा के सिद्धान्त का उपदेश देता है। यदि

आप इसके लिए व्यय कर सकते हैं, इसे खरीद सकते है तो आपकी चिकित्मा का पूरा काम दूसरा व्यक्ति कर देगा आप तो केवल एक काउच पर आराम से लेटे रहे।

हमारे युग की एक तीव्र माग, निश्चय ही, यह है कि जो चिकित्सा मम्पन्न व्यक्तियो को उपलब्ध है उसके विकल्प मे कोई और चिकित्सा पद्धति (उद्धार की पद्धति) खोजना है जिसमे यह धोखा न जुडा हो कि व्यक्तिगत त्याग, जिसे करने के लिए गरीब सदा तैयार रहा है, के स्थान मे केवल धन से ही इसे खरीदा जा सकता है। हमे यह याद रखना चाहिए कि ईसा मसीह एक गरीब व्यक्ति था। वह और उसके अनुयायी पैदल चलते थे, खुले मे, कीमती गिर्जा घरो अथवा मन्दिरो की सुविधा के विना, लोगो को उपदेश और शिक्षा देते थे और उनका अनुरोध गरीबो से ही होता था। आइ० ए० रिचार्ड ने एक वार व्यग्यपूर्वक कहा था कि प्रत्येक व्यवसाय जन-साधारण के विरुद्ध षड्यन्त्र है। जहा तक मनोविश्लेषण का सम्बन्ध है, इस कथन की सत्यता के लिए और विस्तार की आवश्यकता नही है। कुछ अधिक प्रेमपरक ढग से, धर्म-शास्त्रियो और पादरियो के विरुद्ध भी, यही दोपारोपण किया जा सकता है। कैथालिक चर्च मे वे खुले आम दावा करते है कि तथाकथित पोप की परम्परा के परिणामस्वरूप उन्हे पापो के लिए क्षमा करने की विशेप शक्ति प्राप्त है। और जहा प्रोटैस्टेट धर्म-शास्त्री इस क्षेत्र मे ऐसा कोई दावा नही करते वहा वे ईसाई धर्म के साथ ऐसे रहस्य जोड देते हैं जिनका शायद वे ही कोई अर्थ लगा सकते हो। मैं यहा इसे भी इस सम्बन्ध मे एक सूचक तत्त्व समझता हू कि सर्वाधिक मूलत नवीन उद्धारक प्रयत्न जिन्हे हम जानते है, विशेप कर मुक्ति सेना और एलकोहौलिक्स एनौनिमस, जन-साधारण की विचारधाराए है जिनके नेता विश्वविद्यालयो अथवा धर्म-विद्या-मन्दिरो से नही आते बल्कि परिवर्तित किए हुए अपने ही व्यक्तियो के पदाधिकारियो मे से होते है। यहा सभी आस्थावान् व्यक्तियो का पुरोहितत्व गर्जनकारी सुधार नारे से अधिक भी कुछ है, यह एक जीवित वास्तविकता है।

लेकिन अब फिर धोखे और वैयक्तिक कपट की, जिसे हमने भावात्मक, अथवा, और अच्छे शब्दो मे नैतिक विक्षोभ का सामान्य कारण बताया है, रूप-रेखा स्पष्ट करने का प्रयत्न करे। फ्रायड ने स्फुट चित्रित करने वाली उपमाओ के द्वारा चिन्तन किया और उसने अपने विचारो को, भले ही वे गर्हित हैं, स्पष्ट और स्मरणीय रूप मे अभिव्यक्त किया। स्वय ईसा मसीह की दृष्टान्त कथाए तीक्ष्णता और स्वत शोध सतर्कता मे, शायद, इसकी तुलना कर सकती है और वे भी एक सैद्धान्तिक योजना के रूप मे, कम से कम आधुनिक मापदण्डो के अनुसार, वास्तव मे उससे नीचे स्तर की हैं। इसलिए फ्रायडीय [illegible]ान्त के विकल्प के रूप मे एक नई स्कीम का आकार निर्मित करना, जो [illegible]न हो

रहा है, अथवा पुन प्रादुर्भूत हो रहा है भविष्य की बात है। इस दिशा मे समाज-शास्त्री जार्ज हर्बर्ट मीड ने कुछ कदम उठाए है, जैसाकि हैरी स्टैक सुलिवान ने मनश्चिकित्सा के क्षेत्र मे और मार्टिन बबर ने एक धर्म-शास्त्री के रूप मे किया है।[7] यहा पर मै उनकी अपनी-अपनी देन की समीक्षा अथवा समन्वय करने का प्रयत्न नही करूगा लेकिन इसके स्थान मे स्वत शोध विधि का सुझाव दूगा जिसे अन्य अवसरो पर उपयोगी पाया है।

एक दिन क्लास मे मैंने सामान्य, चरित्रवान साधारण व्यक्ति को प्रकट करने के साधन के रूप मे श्याम-पट के आर-पार एक सीधी रेखा खीची। नैतिक और भावात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति को, साधारण भाषा मे, उर्ध्वोन्मुखी,
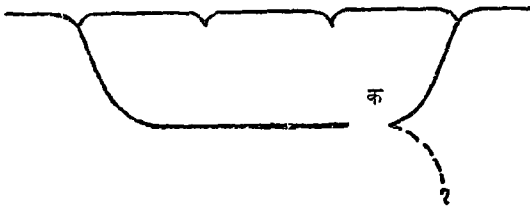
चित्र 1 सामान्य और अपसामान्य जीवन-शैलियों को व्यक्त करने का भद्दा-सा चित्र। ऊपर की सीधी क्षैतिज रेखा जिसमें कहीं-कहीं दोष अथवा "गिरावट" है लेकिन जिसका रूप मूलत सीधा (बाए से दाए) है, सामान्य, भावात्मक तथा नैतिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति की जीवन-धारा को प्रकट करती है। जब ऐसा व्यक्ति कोई गलती करता है, उसका सुधार कर लेता है और आगे बढता जाता है। लेकिन कुछ व्यक्ति, जो "ऊपर" रहने का बहाना करते है अपने आपको "पाप में डूबने" देते हैं जैसाकि नीचे उतरती हुई नीचे की रेखा से प्रकट किया है। इस प्रकार के "द्वैध जीवन" मे भय, दबाव और आत्म-ग्लानि के कारण, व्यक्ति को कभी न कभी सकट ('क' पर) अनुभव होता है, उसके पाप उससे "चिपक जाते हैं" और वह अपराध और चिन्ता से परेशान हो जाता है। अब उसके लिए एक विकल्प तो धीरे-धीरे कष्ट के साथ वापिस लौटने का है (ऊपर उठती हुई रेखा) और दूसरा आत्म-हत्या, स्थायी 'पैरेनौइया' अथवा सामान्य शिथिलता के रूप में सभी मानवीय व्यवसायों से अपने आपको हटा लेना है (उतरती हुई रेखा)। इस सकट के परिणामस्वरूप कुछ व्यक्ति किस प्रकार "नई ऊचाइयों" तक पहुच जाते हैं यह प्रकट करने के लिए इस चित्र को लाभपूर्वक सुधारा जा सकता है। लेकिन जैसा कि अब यह है, उससे वर्तमान विश्लेषण के आवश्यक तत्व प्रकट होते हैं।

---

7 इस विषय से सम्बद्ध पी० ई० फुट्जे (P E Pfuetze) की एक विशेष रचना पठनीय है, जिसमें उसने मीड तथा बबर की कृतियों की सुव्यवस्थित तुलना प्रस्तुत की है। इस पुस्तक का नाम ठीक ही "सामाजिक स्व" रखा है। (अध्याय 11 भी देखिए।)

आप इसके लिए व्यय कर सकते हैं, इसे खरीद सकते है तो आपकी चिकित्सा का पूरा काम दूसरा व्यक्ति कर देगा आप तो केवल एक काउच पर आराम से लेटे रहे ।

हमारे युग की एक तीव्र माग, निश्चय ही, यह है कि जो चिकित्सा सम्पन्न व्यक्तियो को उपलब्ध है उसके विकल्प मे कोई और चिकित्सा पद्धति (उद्धार की पद्धति) खोजना है जिसमे यह धोखा न जुडा हो कि व्यक्तिगत त्याग, जिसे करने के लिए गरीब सदा तैयार रहा है, के स्थान मे केवल धन से ही इसे खरीदा जा सकता है । हमे यह याद रखना चाहिए कि ईसा मसीह एक गरीब व्यक्ति था । वह और उसके अनुयायी पैदल चलते थे, खुले मे, कीमती गिर्जा घरो अथवा मन्दिरो की सुविधा के विना, लोगो को उपदेश और शिक्षा देते थे और उनका अनुरोध गरीबो से ही होता था । आइ० ए० रिचार्ड ने एक वार व्यग्यपूर्वक कहा था कि प्रत्येक व्यवसाय जन-साधारण के विरुद्ध षड्यन्त्र है । जहा तक मनोविश्लेषण का सम्बन्ध है, इस कथन की सत्यता के लिए और विस्तार की आवश्यकता नही है । कुछ अधिक प्रेमपरक ढग से, धर्म-शास्त्रियो और पादरियो के विरुद्ध भी, यही दोषारोपण किया जा सकता है । कैथालिक चर्च मे वे खुले आम दावा करते है कि तथाकथित पोप की परम्परा के परिणामस्वरूप उन्हे पापो के लिए क्षमा करने की विशेष शक्ति प्राप्त है । और जहा प्रोटैस्टेट धर्म-शास्त्री इस क्षेत्र मे ऐसा कोई दावा नही करते वहा वे ईसाई धर्म के साथ ऐसे रहस्य जोड देते हैं जिनका शायद वे ही कोई अर्थ लगा सकते हो । मै यहा इसे भी इस सम्बन्ध मे एक सूचक तत्त्व समझता हू कि सर्वाधिक मूलत नवीन उद्धारक प्रयत्न जिन्हे हम जानते है, विशेष कर मुक्ति सेना और एलकौहौलिक्स एनौनिमस, जन-साधारण की विचारधाराए है जिनके नेता विश्वविद्यालयो अथवा धर्म-विद्या-मन्दिरो से नही आते बल्कि परिवर्तित किए हुए अपने ही व्यक्तियो के पदाधिकारियो मे से होते है । यहा सभी आस्थावान् व्यक्तियो का पुरोहितत्व गर्जनकारी सुधार नारे से अधिक भी कुछ है, यह एक जीवित वास्तविकता है ।

लेकिन अब फिर धोखे और वैयक्तिक कपट की, जिसे हमने भावात्मक, अथवा, और अच्छे शब्दो मे नैतिक विक्षोभ का सामान्य कारण बताया है, रूप-रेखा स्पष्ट करने का प्रयत्न करें । फ्रायड ने स्फुट चित्रित करने वाली उपमाओ के द्वारा चिन्तन किया और उसने अपने विचारो को, भले ही वे गर्हित हैं, स्पष्ट और स्मरणीय रूप मे अभिव्यक्त किया । स्वय ईसा मसीह की दृष्टान्त कथाए तीक्ष्णता और स्वत शोध सतर्कता मे, शायद, इसकी तुलना कर सकती हैं और वे भी एक सैद्धान्तिक योजना के रूप मे, कम से कम आधुनिक मापदण्डो के अनुसार, वास्तव मे उससे नीचे स्तर की हैं । इसलिए फ्रायडीय सिद्धान्त के विकल्प के रूप मे एक नई स्कीम का आकार निर्मित करना, जो प्रादुर्भूत हो

नहीं अपनाया था। मगर, वह निरन्तर ही एक द्विविधा में रहता है, जैसाकि ऊपर की रेखा, जिससे उसका वह रूप प्रकट होता है जैसा होने का वह बहाना करता है (अर्थात् एक ईमानदार बैंक कर्मचारी) और नीचे की रेखा, जो उस सीमा को प्रकट करती है जिस तक वह जानता है कि वह डूब चुका है, के अन्तर से प्रकट होता है। लेकिन कभी न कभी कुछ ऐसी बात अवश्य घटती है कि हमारा गबन-कर्ता "पकडा जाता" है, अर्थात् एक ऐसा सकट होता है जिसे चित्र मे 'क' ने प्रकट किया है। अब उसके सामने यदि कोई विकल्प है तो वह या तो धीरे-धीरे कष्ट के साथ रुपए के भुगतान अथवा "प्रतिदान" (देखिए ऊची उठती हुई रेखा) करने का है अथवा कानूनी मुकदमे, कारावास की सजा, अपमान और आत्म-हत्या का है, जो समझ से परे नहीं है (देखिए गिरती हुई रेखा)।

यहा पर अपराध आर्थिक और कानूनी है लेकिन यह फिर नैतिक च्युति और मानव के "दीवालियापन" का एक नमूना है। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो के विषय मे कोई ऐसी गलती अथवा पाप जिसे स्वीकार न किया हो और जिसका उद्धार न हुआ हो, अपचार और धोखे को अपने मे शामिल कर लेता है, और कुछ समय के लिए सभी बातें भले ही ठीक-ठीक चलती रहे, अन्त मे कोई न कोई बात ऐसी अवश्य घटती है जिससे सकट पैदा हो जाता है, लेकिन जो अभी उस व्यक्ति के अपने मन और "आत्मा" मे होता है—और इसलिए, हमे यह कहना पडता है कि अमुक व्यक्ति को "तन्त्र-विकार हो गया है।" वास्तविकता यह है कि वह कुछ समय से बीमार रहा होता है, इसलिए हम अन्त करण के प्रस्फुटित होने अथवा उसका दौरा पडने की बात कह सकते हैं। हम कहते है कि अमुक व्यक्ति मानसिक दृष्टि से रोगी है या, भावात्मक दृष्टि से रोगी है और उसे "चिकित्सक" की आवश्यकता है। लेकिन शायद यह कहना अधिक उपयुक्त है कि वह कुछ अवधि से "बीमार" रहा होता है और अब जो प्रकटित "रोग" दिखाई देता है, वह कपटपूर्ण और लज्जाजनक जीवन-शैली के विरुद्ध एक आन्तरिक विरक्ति है और, बोइसन के शब्दो मे, सुधार और चिकित्सा करने का एक प्रयत्न है।[9] मेरे विश्वास के अनुसार यह मानना गलत नही है कि 'साइको-

9 यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब एक व्यक्ति एक प्रकार के सामाजिक और नैतिक मापदण्डों को छोड देता है और कर्म के "नीचे" स्तर पर आ जाता है तो जरूरी नहीं कि उसे मानसिक रोग हो ही। यदि एक व्यक्ति इसका सक्रमण खुले आम करता है, तो हम यह कह सकते हैं कि वह एक "कार्नी मेड" अथवा (समाज-शास्त्र के) सकीर्ण शब्द में अध पतनोन्मुखी व्यक्ति है, लेकिन क्योंकि उसका दोष सर्व-विदित है इसलिए उसके तात्कालिक परिणामों मे अनुबद्ध है। ऐसे व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का खतरा नहीं है। हमें इस बात को भी ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि इस प्रकार

पूर्वकथनीय, सगतिपूर्ण और सीधा तीर चलाने वाला कहा जाता है। इसका अर्थ यह नही कि इस प्रकार का व्यक्ति पूर्ण है। कभी-कभी अच्छे से अच्छा पुरुष तथा स्त्री भी "ठोकर खा जाते है", "फिसल जाते है", अथवा कुछ देर के लिए "गिर जाते है।" लेकिन वे जानते है कि अपनी त्रुटियो को किस प्रकार सुधारा जाता है, किस प्रकार अपने आपको उठाया जाता है, किस प्रकार अपना उद्धार किया जाता है। एक बार एक काले नौकर को एक रोगी से यह कहते हुए सुना —"धर्म-ग्रन्थ (The Good Book) कहता है, जब तुम गिरे हुए हो, कीचड मे मत लेटो।" और मनश्चिकित्सक डेविड लैवी जब यह कहते है कि अच्छे चरित्र और भावात्मक स्वास्थ्य का एक प्रधान लक्षण उल्लास और उत्साह है तो वे भी इसी विचार को दुहराते है। इसलिए मैं सीधी रेखा मे सुधार करना चाहूगा जैसा कि ऊपर के चित्र मे किया गया है जिससे कि चोटी तक के गोतो को छोड कर कभी-कभी लगने वाले गोतो, उनके बचाव, अपूर्णताओ, आघातो को प्रकट किया जा सके।

मगर, प्रत्येक व्यक्ति मे अपनी गलतियो को तुरन्त ही पूर्णत सुधारने के लिए चरित्र-बल अथवा विवेक नही होता जिसका अर्थ है कि जब वह फिसल जाता है तो डूब ही जाता है जैसाकि चित्र मे नीचे की रेखा से प्रकट किया है। एक उदाहरण लें। बैंक के एक कर्मचारी को कुछ हफ्तो के लिए कुछ अतिरिक्त रुपया चाहिए। उसके पास सिक्को की एक राशि है जिसके बारे मे उसे निश्चय है कि इस अवधि मे इसकी आवश्यकता नही पडेगी इसलिए कुछ समय के लिए उसमे से कुछ रुपया निकालने का निश्चय कर लेता है, लेकिन उसे लौटाने का इरादा करता है। लेकिन उसे जैसी आशा थी हालत वैसी नही रहती और रुपया वापिस नही कर पाता और यथार्थ मे उसे और उधार रुपए की आवश्यकता महसूस होती है। और जितनी बार वह गैर-कानूनी तौर पर अपनी सहायता करता है, उतना ही ऐसा करना आसान हो जाता है और प्रतिदान का विचार अधिक से अधिक दूर होता जाता है—और हमारा मित्र शीघ्र ही पक्का गबन करने वाला बन जाता है।[8]

यह हो सकता है कि इस व्यक्ति के साथ सभी बातें कुछ समय तक ठीक चलती रहे, और उसे बाद मे पश्चात्ताप हो कि उसने यह तरीका पहले से ही क्यो

---

8 हाल के एक अध्ययन में, क्रेसे (1953) कहते हैं कि "गबनकर्ता की समस्या" का एक अग यह है कि इसमें "हिस्सेदार" *नहीं* हो सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दशा उन अन्य अवस्थाओं के समान है जो व्यक्ति को कानूनी अथवा नैतिक कष्टों में फँसा देती हैं। वर्तमान तर्क का यह एक मूल भाग है कि जो व्यक्ति "छिपा कर कुछ नहीं रखता" वह कभी जेल अथवा मानसिक अस्पताल नहीं जाता।

नही अपनाया था। मगर, वह निरन्तर ही एक द्विविधा मे रहता है, जैसाकि ऊपर की रेखा, जिससे उसका वह रूप प्रकट होता है जैसा होने का वह बहाना करता है (अर्थात् एक ईमानदार बैंक कर्मचारी) और नीचे की रेखा, जो उस सीमा को प्रकट करती है जिस तक वह जानता है कि वह डूब चुका है, के अन्तर से प्रकट होता है। लेकिन कभी न कभी कुछ ऐसी बात अवश्य घटती है कि हमारा गबन-कर्ता "पकडा जाता" है, अर्थात् एक ऐसा सकट होता है जिसे चित्र मे 'क' से प्रकट किया है। अब उसके सामने यदि कोई विकल्प है तो वह या तो धीरे-धीरे कष्ट के साथ रुपए के भुगतान अथवा "प्रतिदान" (देखिए ऊची उठती हुई रेखा) करने का है अथवा कानूनी मुकदमे, कारावास की सज़ा, अपमान और आत्म-हत्या का है, जो समझ से परे नही है (देखिए गिरती हुई रेखा)।

यहा पर अपराध आर्थिक और कानूनी है लेकिन यह फिर नैतिक च्युति और मानव के "दीवालियापन" का एक नमूना है। अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो के विषय मे कोई ऐसी गलती अथवा पाप जिसे स्वीकार न किया हो और जिसका उद्धार न हुआ हो, अपचार और धोखे को अपने मे शामिल कर लेता है, और कुछ समय के लिए सभी बाते भले ही ठीक-ठीक चलती रहे, अन्त मे कोई न कोई बात ऐसी अवश्य घटती है जिससे सकट पैदा हो जाता है, लेकिन जो अभी उस व्यक्ति के अपने मन और "आत्मा" मे होता है—और इसलिए, हमे यह कहना पडता है कि अमुक व्यक्ति को "तन्त्र-विकार हो गया है।" वास्तविकता यह है कि वह कुछ समय से बीमार रहा होता है, इसलिए हम अन्त करण के प्रस्फुटित होने अथवा उसका दौरा पडने की बात कह सकते है। हम कहते है कि अमुक व्यक्ति मानसिक दृष्टि से रोगी है या, भावात्मक दृष्टि से रोगी है और उसे "चिकित्सक" की आवश्यकता है। लेकिन शायद यह कहना अधिक उपयुक्त है कि वह कुछ अवधि से "बीमार" रहा होता है और अब जो प्रकटित "रोग" दिखाई देता है, वह कपटपूर्ण और लज्जाजनक जीवन-शैली के विरुद्ध एक आन्तरिक विरक्ति है और, बौइसन के शब्दो मे, सुधार और चिकित्सा करने का एक प्रयत्न है।[9] मेरे विश्वास के अनुसार यह मानना गलत नही है कि 'साइको-

---

9 यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब एक व्यक्ति एक प्रकार के सामाजिक और नैतिक मापदण्डों को छोड देता है और कर्म के "नीचे" स्तर पर आ जाता है तो जरूरी नहीं कि उसे मानसिक रोग हो ही। यदि एक व्यक्ति इसका सक्रमण खुले आम करता है, तो हम यह कह सकते हैं कि वह एक "काली भेड" अथवा (समाज-शास्त्र के) सकीर्ण शब्द में अध पतनोन्मुखी व्यक्ति है, लेकिन क्योंकि उसका दोष सर्वविदित है इसलिए उसके तात्कालिक परिणामों से अनुबद्ध है। ऐसे व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य का खतरा नहीं है। हमें इस बात को भी ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि इस प्रकार

वे कहते हैं

"रात्रि मे तथा दिन मे, मैं उस (परमात्मा) से दूर भागता रहा,
पूरे वर्षों भर मैं उससे दूर भागता रहा,
अपने मन के दुस्तर मार्गों से मैं उससे दूर भागता रहा,
अपने आसुओ मे मैंने अपने आपको उससे छिपाया
निरन्तर हँसी मे अपने आपको छिपाया।
मैं अपनी आशओ के अन्तरिक्ष मे तेज़ी से दौडा,
और पीछा करने वाले सशक्त चरणो से बच कर भागने के
उतावलेपन मे,
गहरे भीम काय अन्धकार मे धँस गया,
लेकिन, अविचलित चाल, शान्त गति,
स्वाभाविक भव्यता वाले उन चरणो की
पीछा करती आवाज़ अनुरोध करती रही,
जो मुझे (ईश्वर को) धोखा देता है, उसे सब धोखा देते है।"

11
प्रोटैस्टेण्ट ईसाई धर्म :
I. द्व्यर्थकता और विनाश*

इस पत्र के II भाग का शीर्षक "प्रोटैस्टैंट ईसाई मत और फ्रायडीय मनोविश्लेपण मे विचित्र समानता" है, जो इसका उप-शीर्षक भी हो सकता है। निस्सदेह ईसाई मत के परम्परागत सिद्धान्त ऐसे नहीं हैं जो फ्रायडीय मनोविश्लेषण को आसानी से आत्मसात् कर लें, लेकिन आश्चर्य की बात है कि ऐसा आत्मसात् हुआ है—अथवा, शायद यह कहना अधिक ठीक है कि इसको अत्यधिक प्रोत्साहित किया जा रहा है। इस प्रकार परिस्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक और अनिश्चित है। यहा, इस पत्र मे प्रोटैस्टैंट सुधार लेकर जो जो बातें विकसित हुई हैं उन ऐतिहासिक और सास्कृतिक तत्त्वो के रूप मे इस परिस्थिति को यहां समझने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव मे, यह कल्पना करना कि इस सुधार ने अपनी कमियो और आत्म-विरोध के कारण मनोविश्लेषण को उत्पन्न किया, दुस्साहस ही है। यदि ऐसा है तो कुछ औचित्य के साथ यह तर्क दिया जा सकता है कि फ्रायडवाद के मृत उद्देश्य से अपने आपको बचाने का एक मार्ग यह है कि सुधार को चालू रखें (देखो अध्याय 10)। ऐसे भाग के पक्ष मे व्यापक तत्त्व हैं, जैसा कि इस अध्याय के अन्तिम भाग मे देखेंगे तथा इस प्रोग्राम का विस्तार अध्याय 12 मे किया जाएगा।

I भूमिका

मेरा विश्वास है कि इस विषय मे कोई तर्क-सम्मत सदेह नही है कि मनोरोगचिकित्सा और धर्म की शब्दावली से जिन क्षेत्रो को सूचित किया जाता है उनमे सकट व्याप्त है। पिछले कई दशको से हम भावात्मक कष्टो मे ग्रस्त व्यक्ति से यह कहने के अभ्यस्त रहे है कि, "तुम्हे चिकित्सा की आवश्यकता

---

* 1960 के डेविड निवल भाषण-माला के प्रथम भाषण के रूप में नार्थ पार्क कालेज और धर्म-विद्यामन्दिर मे मई 2 को दिया गया, और उसमे शुभ समारी (Good Samaritan) के अस्पताल के धर्माचार्य संरक्षण के तत्त्वावधान में अप्रैल 21, 1960 में हुई एक सभा में प्रस्तुत किया गया और पीछे, सितम्बर में लाउसविले कैन्टकी में दक्षिणी नामकरणकारी धर्म-शास्त्रीय धर्म-विद्यामन्दिर में गोहन्स भाषण के रूप में दिया गया।

है।" लेकिन अब हम यह समझने लगे हैं कि हमारी तथाकथित चिकित्सा स्वय रुग्ण है और उसे चिकित्सा की आवश्यकता है (अध्याय 10 देखो)। जब तक हम यह विश्वास करते रहते है कि इस क्षेत्र मे सब कुछ ठीक है और हमे वैसी हालत की आवश्यकता है तब तक हम दुश्चक्र मे फँसे रहेगे, जैसाकि रिचार्ड लापीरे (1959), हुस्टन स्मिथ (1960), और अन्य लोगो ने बताया है, और अपनी सभ्यता और मर्यादा को खतरे मे डालते रहेगे।

व्यक्तित्व के जिन विकारो के कारण लोगो को अस्पताल मे भर्ती करना आवश्यक हो जाता है उन्हे सामान्य रूप से हमारे राष्ट्र की न० 1 स्वास्थ्य समस्या समझा जाता है, और तलाक, अपराध-प्रवृत्ति, आत्महत्या वामशीलता और अनेक प्रकार के नशे—जिनमे शराब, तम्बाकू तथा अनेक प्रकार की शमन-कारी औषधिया शामिल हैं—जनसाधारण मे व्यापक तनाव और शिथिल व्यक्तित्व के सगठन को प्रकट करते है।

बुराई का उद्धार और शुभ जीवन का मार्ग प्रदर्शित करने के लिए धर्म की परम्परा जो सहारा देती रही है, इन मामलो मे अब उसकी क्षमता को नही माना जाता। यह निश्चित है कि धर्माचार्य-परामर्श की विचारधारा के वेश मे पिछले कुछ दशको मे खोई हुई इन बातो को फिर से प्राप्त करने की कोशिश की गई है, लेकिन इस सम्बन्ध मे हमारे प्रधान विचार धर्म-निरपेक्ष है, और पाद-रियो को जब भी व्यक्तित्व के कष्टो का अनुभव होता है वे निर्विवाद रूप से धर्म-निरपेक्ष चिकित्सक का सहारा लेते है और अपने व्यवसाय मे उपलब्ध प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन का सहारा नही लेते। कई अवसरो पर मैंने यह कहा है कि वर्तमान प्रोटैस्टेण्टवाद ने व्यक्तिगत अपराध समस्या के साथ बडी कमजोरी के साथ बर्ताव किया है, और मेरे विचार मे यह कोई दैवयोग की बात नही है कि मेरे इस कथन को कोई गम्भीर चुनौती नही दी गई। जब तक प्रोटैस्टेण्ट पादरी इतवार के दिन ईसाई शुभ वार्ता का प्रवचन करते है और सप्ताह के शेष दिनो मे अपने जीवन को सुनियन्त्रित करने के लिए धर्मनिरपेक्ष मनश्चिकित्सक की सहायता पर निर्भर रहते हैं, तब तक उनका सन्देश हमारे युग के व्यक्तिगत और सामाजिक विघटन की बाढ पर काबू पाने मे असमर्थ रहेगा, जैसाकि आज से 30 वर्ष पहले एन्टन टी बौइसन ने कहा था कि अधिकतर प्रोटेस्टैण्ट धार्मिक नेताओ ने अपने आपको ऐसी अवस्था मे फँसा लिया है, जहा से वे धर्मशास्त्रियो और पाखण्डियो के समान ही बोल सकते हैं किन्तु अधिकार तथा प्रामाणिकता के साथ नही (देखो अध्याय 6)। वे अपने भाषणो मे प्रोटैस्टेण्ट सिद्धान्त, विशेषत कालविनीय विचारधारा वाले सिद्धान्तो के उपदेश देते है, लेकिन उन्हे इस बात का निश्चय है कि यह सिद्धान्त उनकी रक्षा नही कर रहा है, जिन लोगो को इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से उपदेश देते है उनकी तो इससे

बिल्कुल ही रक्षा नही होती। वे आस्था के आधार पर अपनी बात के औचित्य का उपदेश करते है और "शुभ ग्रन्थो" की निन्दा करते है और स्पष्टत वे इस बात का ध्यान नही रखते कि आधुनिक स्त्री-पुरुषो के जीवन मे यह सिद्धान्त किस प्रकार काम करता है।

अगस्त, 1956 मे 'लाइफ मैगजीन' में "बढती हुई सख्या मे धर्माचार्यों का तन्त्र जल्दी जवाब क्यो देने लगता है ?" विषय पर एक कहानी प्रकाशित हुई जिसमे लेखक यह विचार अपनाता है कि क्षमता से अधिक कार्य ही कष्ट का कारण है। वह तर्क देता है कि आधुनिक धर्म अपने धर्माचार्यों से अत्यधिक माग करते हैं, और इसका हल यह सुझाया गया है कि 500 से अधिक सदस्यो वाले चर्चों मे दो या अधिक धर्माचार्य होने चाहिएँ,और उनका श्रम-विभाजन भी स्पष्ट होना चाहिए। यद्यपि यह एक अच्छा व्यावहारिक सुझाव है, यह समस्या की जड तक नही पहुचता। मूलत कष्ट यह है कि आधुनिक पादरी द्विविधापूर्ण कष्टदायी परिस्थिति मे फँसा हुआ है जो दूसरो को तो जीवन की रोटी देने का बहाना करता है लेकिन स्वय इसमे विश्वास नही रखता।

पादरियो की इस असगति की तुलना धर्म-निरपेक्ष चिकित्सक की धृष्टता से कर सकते है, जिनकी ओर वे व्यक्तिगत मामलो मे सलाह के लिए ही नही, अपितु बौद्धिक प्रेरणा और प्रकाश के लिए भी उन्मुख होते है। यद्यपि पिछले 20 वर्षों मे यह पुष्ट हो गया है कि गौरवान्वित मनोविश्लेषण चिकित्सा-पद्धति के रूप मे असफल रहा है, लेकिन फिर भी मानव-प्रकृति की जिन मान्यताओ पर यह चिकित्सा-पद्धति आधारित थी, उन्हे आदर का ऐसा स्थान दिया जा रहा है, मानो वे सारी दुनिया को बदलने की क्षमता रखते हो। मैं नही जानता कि जब-जब मैने मनोविश्लेषणवाद की आलोचना की है, कितनी बार इसका प्रत्युत्तर यह मिला है "लेकिन क्या यह सच नही है कि रुग्ण-तन्त्रिक व्यक्ति मे पराहम् अतिकठोर होता है और उसे कुछ नरम करने की या कम कठोर और अधिकारपूर्ण बनाने की आवश्यकता है ?" यह सच है कि यही बात फ्रायड ने कही थी, और बहुत से व्यक्तियो ने इस सिद्धान्त मे विश्वास करने और उसका व्यवहार मे प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। लेकिन यह भी सर्व-विदित है कि जो चिकित्सा-पद्धति और रोग-निरोध पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित रही है, उनके परिणाम अतिनिराशाजनक रहे है। और यह विचार किया जा सकता है, कि उपयोगिता की दृष्टि से इसे ठीक समय पर ही छोड दिया और इसके केवल आधार भूत सिद्धान्त को ही अपनाया तो अच्छा ही रहा। जब यह व्यवहार मे काम नही करता, तो इसे सच मानने को हमारे पास क्या प्रमाण है, विशेष रूप उस दशा मे, जब यह यहूदी-ईसाई नीति के मूल सिद्धान्तो का विरोधी हो ?

हुआ मुक्ति के सम्बन्ध मे ही नही अपितु पापो के सम्बन्ध मे भी हमारे उत्तरदायित्व, चयन-शक्ति, स्वतन्त्रता को छीन लेता है, गोता लगा कर इसे द्विगुणित कर दिया है।

III नव्य-फ्रायडवादियो की नवीन परम्परा निष्ठा

अन्य अवसरो पर मैंने अपने इस कथन के पक्ष मे लिखित प्रमाण दिए है कि मनोविश्लेपित व्यक्ति को इस अनुभव से स्थायी लाभ होता हो, इसका लेशमात्र भी प्रमाण नही है (अध्याय 1, 9 और 14), लेकिन इस बात के समान रूप से स्पष्ट सकेत हैं कि एक साधारण जीवन-दर्शन के रूप मे मनोविश्लेषण अचिकित्सापरक ही नही है बल्कि सक्रिय रूप से घातक है। यहा पर मैं वस्तुपरक प्रमाणो की समीक्षा नही करूगा बल्कि एक मनश्चिकित्सक की, जिसके साथ तीन दिन की एक छोटी कान्फ्रेन्स मे निकट का सम्पर्क रहा, इस सम्बन्ध मे प्रतिक्रियाओ का कथन करूगा। परिणामस्वरूप उसकी स्थिति यह थी। वह मानता था कि मनोविश्लेषणवाद असन्तोपजनक है। उसने इसमे प्रशिक्षण प्राप्त किया था, इसे व्यवहार मे प्रयोग करके देखा था, लेकिन इसे सफल नही बना सका था और इसलिए एक ऐसी विधि को अपना कर जिसके बारे मे उसे बडी आशा थी, उसे छोडना पडा था। उसने यह स्वीकार किया था कि वह अभी तक यह सिद्ध नही कर सका था कि उसका उपागम फ्रायड के उपागम से अच्छा था। लेकिन उसने कहा था, "लोग आपके पास आते रहते हैं और आपने उनके साथ कुछ न कुछ तो करना ही है"। और वह जो बात करता था वह निश्चित शब्दो मे क्या थी?

पता यह चला कि फ्रायड से उसकी भिन्नता इस बात मे थी कि वह अपने मरीज़ो को काउच पर नही लिटाता था और न ही वह मनोविश्लेषण के तथाकथित तकनीकी नियमो का पालन करता था, लेकिन वह अब भी फ्रायड की मूलभूत मान्यता का प्रचार करता था कि आधि (जिसे मैं अस्वीकृत और अकृतोद्धार वास्तविक अपराध की अवस्था के लिए चिकित्सा-शास्त्र का प्रिय नाम मानता हू) की अवस्था मे व्यक्ति व्यर्थ ही अपने आपको दोषी समझता और दण्डित करता है। इस मनश्चिकित्सक ने कहा, "ज्यो-ज्यो हम बडे होते जाते हैं त्यो-त्यो हम स्वय अपने मा-बाप बन जाते हैं।" यह फ्रायड के इस सिद्धान्त का सक्षेप करने का उसका अपना ढग था कि पराहम् अथवा अन्त करण मा-बाप के मान-दण्डो और मूल्यो का आत्मसात् किया हुआ रूप ही है। और तब उसने कहा, "हम जानते है कि हमारे ऊपर परिवार मे क्या अन्याय होता था। हम जानते हैं कि हमारे घरो मे किस प्रकार का वातावरण रहता था। लेकिन बडे होने पर भी हम अपने साथ उसी कठोरता और अन्याय के साथ

व्यवहार करने पर वल देते हैं, जिसके साथ हमारे मा-वाप वचपन मे हमारे साथ व्यवहार करते थे।"

इस मनश्चिकित्सक के अनुसार, जव हम इस वात पर वल देते हैं कि हमारे वच्चे अपराध-भाव और अपने को दण्डित करने की क्षमता का भाव अपने मन मे वैठा लेते हैं तो हम आधि का मार्ग तैयार करते हैं। और वच्चो को इस प्रकार का प्रशिक्षण देने का पक्ष लेते समय, उसने आगे कहा, चर्च "वहुत दूपित मानसिक अस्वास्थ्य का प्रचार करते है। लोगो मे इस प्रकार की अभिवृत्ति चर्च पैदा कर देते हैं और इसका भाडन मेरे पास आता है। मैं यह देख-देख कर परेशान हो गया हू कि धार्मिक मा-वाप और चर्च वच्चो को अपना दमन करना सिखाते हैं और मैं चाहता हू कि यह वर्ग इस प्रकार की प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाए।" हम "दैवी अश से पूरित हैं," मनोविश्लेपक ने तर्क देते हुए कहा, और अपने साथ ऐसा व्यवहार करने का हमे कोई अधिकार नही है। और उसने आत्म-प्रेम, आत्म-क्षमा, और आत्म-स्वीकृति के सिद्धान्त की जगह पाप, अपराध और आत्म-ग्लानि के सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए धार्मिक सस्थाओ को दोपी ठहराया।

हम कितने अयथार्थवादी हो सकते है ? अन्त करण, अर्थात् आत्म-निन्दा और आत्म-पीडन की क्षमता एक अद्भुत मानवीय और सामाजिक आविष्कार है जिसका अत्यधिक अनुकूलनकारी कार्य अपने ऊपर सयम रखने की क्षमता पैदा करना है जिससे दूसरो को यह काम न करना पडे। मैं एक भी ऐसे समाज-शास्त्री अथवा मानव-शास्त्रवेत्ता को नही जानता जो गम्भीरतापूर्वक यह मानता हो कि हम एक ऐमा समाज भी वना सकते हैं, जो सस्कृति के मानदण्डो को मानसिक अग न वनाता हो (मौरर, 1961)। अन्यथा, हमे एक समाज, एक व्यवस्थित, अनुशासित नियमवद्ध वर्ग नही प्राप्त हो सकता, वल्कि 'साइकोपैथ' अथवा अधिक उपयुक्त शब्दो मे समाज-विरोधी व्यक्तियो का समूह मिलेगा। यह वही दिशा है जिस ओर प्रतिष्ठित मनोविश्लेपणवाद का सिद्धान्त और व्यवहार, तथा तथाकथित मनोरोगचिकित्सा का उद्यम हमे धकेल रहा है और जिस ओर वास्तव मे हम चल रहे है। क्या उस समय यही तथ्य नही था जब 1959 के टेलिविजन प्रश्नोत्तरी-प्रदर्शन के परिवाद मे शामिल व्यक्तियो ने "अपने ऊपर स्वय सयम" नही रखा और जव उन्होने जैसा चाहा वैसा किया ? दर्जनो उन उदाहरणो मे से यह एक उदाहरण है जव मनुष्य "अपने मा-वाप वनने" मे और अपने प्रौढ जीवन मे उस उत्तरदायित्व-पूर्ण ढग से आचरण करने से, जिसमे वचपन मे उनके मा-वाप ने उन्हे प्रशिक्षित करने का प्रयत्न किया था, इन्कार कर देते हैं।

जैसाकि इस पत्र के पूर्वगामी भाग मे वताया गया है, कालविनीय प्रोटैस्टेण्ट-

वाद ने अपने पापो तथा अपराधो के विषय मे रचनात्मक ढग से कुछ भी करने के लिए अक्षम बता कर वैयक्तिक उत्तरदायित्वहीनता के उस रूप की ओर जिसे 'सोश्योपैथी' कहते है पहला कदम उठाया था, और फिर, मनोविश्लेषण का इसी मार्ग पर प्रादुर्भाव हुआ और इस बात पर बल देते हुए कि हम अपना उद्धार करने मे अक्षम ही नही है बल्कि हमारा इस सम्बन्ध मे अपने आपको दोषी ठहराना भी अनुचित है, उसने शेष मार्ग पूरा कराया। हमे अपने आपको इतनी पूर्णता और इतनी निरपेक्षता के साथ प्रेम करना चाहिए, स्वीकार करना चाहिए और आदर करना चाहिए कि हम स्वय अपने आपको निन्दित करने, दण्डित करने, या "पद-दलित" करने से इन्कार कर दें, चाहे कुछ भी क्यो न हो। मेरा निवेदन है कि यह आत्म-सम्मान नही है। आत्म-ग्लानि और आत्म-परित्याग की यह अन्तिम बात है। क्योकि इसकी माग है कि हम अपने आपको मानव न समझें बल्कि जीव का एक ऐसा प्रकार समझें जो खेतों और जगलो के पशुओ से भिन्न न हो और जिसमे न नैतिकता हो, न मान-दण्ड हो, न चरित्र हो और न आत्मा हो। यदि कोई व्यापक दुराचरण करता है तो अपने आपको निन्दित करने की और दण्डित करने की क्षमता कौन खो देना चाहता है। निश्चित रूप से यही अमूल्य रत्न है, और वह तथाकथित "चिकित्सक" जो इसे हमसे छीनना चाहता है, वह हमारा सम्मान नही करता, बल्कि हमसे, अपने आपसे और सम्पूर्ण मानवीय उद्यम से घृणा करता है। वास्तव मे यह सच है कि यदि आत्म-ग्लानि और आत्म-प्रताडन की हममे क्षमता न होती तो हम कभी रुग्णतन्त्रिक अथवा कार्य-दृष्टि से उन्मादी नही हो सकते, साथ ही, इस क्षमता के बिना हम मनुष्य भी नही बन सकते। बौइसन (1936) के मतानुसार, केवल वनस्पतियो तथा पशुओ से ऊचा उठने का मानव जो प्रयत्न करता है उसके लिए इस पीडा के प्रति सवेदनशील होने मे ही वह कीमत चुकाता है और खतरा उठाता है। इसी कारण से मैंने अन्य अवसरो पर (अध्याय 9 और 14) कहा है कि मनोविश्लेषण मसीही नही है, बल्कि पिशाची है, यह मुक्ति का रूप नही है बल्कि निकृष्ट प्रकार की दासता और बन्धन है।

IV अपराध सबसे बडी बुराई है

लौस एजल्स मे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय मे (मार्च, 1960) मेरे भाषण के बाद डा० डी० पी० बोडर ने ऐसी अयत्नकृत समयोचित टिप्पणी की जो मुझे अत्यधिक उद्बोधक लगी और जिसे, मैं समझता हू, मैं यहा शब्दश दोहरा सकता हू। उन्होने कहा था

"भावात्मक रोगो और उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध मे फ्रायड का

सिद्धात 19वीं सदी के नाश-वादी दार्शनिक निट्शे की रचनाओं का सीधा विकसित रूप है। विशेष कर, निट्शे ने अपनी पुस्तक "नैतिक मूल्यो की उत्पत्ति" (The Genealogy of Morals) मे बार-बार यह कहा है कि अपराध एक कमजोरी है। और कवि शिलर ने अपने नाटक, "मसीना की दुल्हन" (The Bride of Massina) मे निम्नलिखित पक्तियो से अपने नाटक का अन्तिम समूह गान समाप्त किया

"जीवन सर्वाधिक मूल्यवान भले न हो,
लेकिन अपराध सबसे बडी बुराई है।"

क्योकि प्रोटैस्टेण्ट ईसाई धर्म हमारे अन्दर अपराध अनुभव करने की क्षमता तो भर देता है लेकिन इसका निराकरण करने का कोई मार्ग अथवा विश्वसनीय सम्भावना प्रदान नही करता, इसलिए हम देखते है कि बुद्धि और बल वाले व्यक्ति भी ऐसे राक्षसी विचारो को सोचते हैं और उनका कथन करते हैं। इस विद्रोह और निराशा से हमारी रक्षा करना तो दूर रहा, फ्रायड ने इसे पूर्ण और क्रमबद्ध कर दिया। इस आदर्श को अपनाने की कीमत हम आज चुका रहे है।

मुझे आशा है कि आप स्वीकार करेंगे कि मैं यहा अत्यधिक सामान्य ढग से बात कर रहा हू। शायद, यत्र-तत्र कुछ ऐसे मनोरोगचिकित्सक है जो फ्रायड द्वारा बताए गए मार्ग से भिन्न मार्ग पर चलकर अपना व्यवसाय चला रहे हैं। लेकिन व्यावसायिक साहित्य मे उन्होने अपनी बात को व्यक्त करना प्रारम्भ नही किया है, इसलिए ऐसे व्यक्तियो को पहचानना कठिन है। वास्तव मे ऐसे अनेक चिकित्सक हैं, जो चिकित्सा पद्धति मे स्पष्टत फ्रायडवादी नही है, लेकिन इनमे से अधिक लोग, मुझे शका है, उस मनश्चिकित्सक के समान है जिसका उद्धरण मैं पहले दे चुका हू, क्योकि उन्होने फ्रायडीय प्रतिष्ठित तकनीक को अथवा उसके सिद्धान्त के किसी गौण पहलू को त्याग दिया है, इसलिए वे अपने आपको फ्रायड का अनुसरण न करने वाले अथवा नव्य-फ्रायडीय अथवा फ्रायड-विरोधी भी कहते हैं, लेकिन फ्रायड के दर्शन और विचारो के मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार करते रहते है।

अनिर्देशपरक अथवा रोगी-केन्द्रित चिकित्सा-पद्धति को जो कार्ल राजर्स के नाम से सम्बन्धित है, बहुत से लोग, वास्तव मे, तत्काल "अफ्रायडीय" कहेगे। लेकिन जिस अर्थ मे मैं यहा इस शब्द का प्रयोग कर रहा हू उसके अनुसार मैं कहूगा कि उसका उपागम गहराई के साथ फ्रायडीय है (यन्गस, 1960)। प्रतिष्ठित मनोविश्लेपण के समान यह व्यक्ति को स्वय उत्तरदायी न मान कर

चलता है और अपने आप उन पर विजय पाने के लिए रोगी को कोई सुझाव नही देता। राजर्स व्यक्ति को स्वभावत अच्छा मानता है और यह मानता है कि एक व्यक्ति के इर्द-गिर्द जो व्यक्ति होते हैं उनके अश्रेयस्कर कर्मो और अभिवृत्तियो के कारण वह विकृत बन जाता है और स्वाभाविक विकास की सामान्य तथा स्वस्थ दिशा से विचलित हो जाता है। यहा रोगी के अन्दर की आत्म-ग्लानि और आत्म-विरोधी प्रवृत्तियो को इतने निर्दिष्ट ढग से नही अपनाया जाता, जितना कि मनोविश्लेषण मे। यद्यपि राजर्स (1951), फ्रायड के दमन के सिद्धान्त को स्वीकार करता हुआ प्रतीत नही होता, वह "अनुभव के निषेध" की बात करता है जो क्रियापरक ढग से विघटन अथवा दमन से भिन्न नही है। इस प्रकार वह अचेतन और इसके प्रति व्यक्ति के असहाय होने के सिद्धान्त का अनुमोदन करता है। जिन लोगो ने डा० राजर्स के साथ काम किया है उनसे मुझे पता चला है कि उसके विचारो मे भी सुधार हो रहा है। लेकिन उसके सर्वविदित तथा अभिनव कथनो के आधार पर मेरा यह विश्वास है कि यह मूल्याकन समुचित और सत्य है।

वास्तव मे, यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रोटैस्टेण्टवाद के विरुद्ध मैंने जो दोषारोपण किया है वह सर्वत्र लागू नही होता। और यहा पर यह तर्क के दो रूपो मे से कोई एक रूप हो सकता है। कुछ कहेगे कि मुझे यह समझ ही नही आया कि "कालविन के कथन का क्या अर्थ था"। यद्यपि मैं यह मानता हू कि मुझे कालविन के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान है (गिल्की 1960), मैं, फिर भी, यह स्वीकार करता हू कि कालविन के विचारो को समझने से मेरा विशेष सम्बन्ध नही है। हमारे लिए तो उसके विचारो का वह रूप महत्त्वपूर्ण है जो व्यापक है और जिसे जनसाधारण उसका विचार समझता है, इसलिए "कालविनवाद" का प्रयोग मैं बिल्कुल उसी प्रकार कर रहा हू जिस प्रकार "फ्रायडवाद" का। फ्रायड के लेखो से मैं स्वय ऐसे उद्धरण दे सकता हू जो यहा वर्णित (तथा जनसाधारण मे समझे जाने वाले) उसके विचारो के रूप का खण्डन करते हो। लेकिन जो बात महत्त्वपूर्ण है वह इन व्यक्तियो के विचारो का प्रभाव है, और यदि यह निश्चित रूप से उसके अनुरूप नही है जो उन्होने कहा था (विशेष कर अपने जीवन के अपराह्न काल मे, जब उन्हे अपने विचारो पर पुनर्विचार करने का कुछ अवसर मिला), तो यह कोई बात नही है। यहां हमारा सम्बन्ध सास्कृतिक शक्तियो से है और यह तथ्य कि मैंने यहा फ्रायडवाद तथा कालविनवाद के उस रूप को चुना है जो विख्यात है, इस उद्देश्य और लक्ष्य के अनुरूप है।

एक क्षण पहले जिस दूसरे आरोप की ओर सकेत किया था वह यह है कि प्रोटैस्टेण्ट सगठन मे कुछ ऐसे परम्परावादी अथवा "सम्प्रदायवादी वर्ग" है जो

फ्रायडवाद की ओर उस सीमा तक नही झुके हैं जिस सीमा तक उदार प्रोटैस्टेण्टवाद। यह मैं तुरन्त ही स्वीकार कर लेता हू, लेकिन हमे एक साथ ही उन वर्गों मे जो स्पष्टत कालविनीय हैं और जो स्पष्टत कालविनीय नही हैं, भेद करना आवश्यक है। कालविनीय सम्प्रदाय उसी स्थिति मे है जिसमे उदारवाद तथा फ्रायडवाद के सक्रमण से पहले प्रोटैस्टेण्टवाद सामान्यत था। वे व्यक्ति को उसके अपराध के साथ छोड देते हैं और अपने कर्मों के प्रति असहाय ही नही अपितु निर्दोष बताने वाले, फ्रायडीय सिद्धान्त के फार्मूले के द्वारा इस "निराशा" से उसे मुक्त करने का प्रयत्न नही करते। इस प्रकार, एक अर्थ मे, वे उदार प्रोटस्टेण्ट वर्ग की अपेक्षा अच्छी हालत मे है, और उन्हे प्रायश्चित्त करने की कम आवश्यकता है। लेकिन वे भी उस द्विविधा मे फँसे हुए हैं जिसे काल-विनवाद स्वय उपस्थित तो करता है किन्तु उसके लिए कोई सतोपजनक समाधान नही देता।

इसके विपरीत, कुछ ऐसे तथाकथित सम्प्रदाय भी हैं जो ईसाई धर्म के ऐसे रूप का प्रचार और पालन करते हैं जो, मेरे विचार मे, मूल-ईसाई धर्म के अधिक नजदीक है और जो सुधार के शकास्पद पहलुओ से वहुत ही कम प्रभावित है। वाद मे, इन वर्गों की ओर अधिक ध्यान से देखने का अवसर मिलेगा लेकिन साथ ही आधुनिक युग मे रोमन कैथालिकवाद और यहूदीवाद के महत्त्व को भी परखा जा सकेगा (अध्याय 12)। परन्तु, पहले कुछ भिन्न प्रकार के अन्य विशिष्ट विचारो का पुनरवलोकन करना आवश्यक होगा।

V धर्म-निरपेक्षीकरण और सकट

इससे पहले कि कोई व्यक्ति मनोविकार-विज्ञान और धर्म मे व्याप्त वर्तमान सकट का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सके उसे इस वात की ओर भी अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए कि किस सीमा तक अव उन कार्यों को, जिन्हे सुधार से पहले चर्च के उचित विषय माना जाता था, अव धर्मनिरपेक्ष वना दिया गया है। विश्व-चर्च के द्वारा पहले जो दमनपूर्ण नियन्त्रण और अभिभावन रखा जाता था उससे स्वतन्त्र करने का एक साहसपूर्ण प्रयत्न 'सुधार' था। और इस उद्यम के सम्वन्ध मे अधिक से अधिक क्षेत्रो मे राज्य और चर्च का पृथक्करण भी मूल वात थी।

राजनीति के क्षेत्र मे चर्च और राज्य का पृथक्करण, वास्तव मे, 'सुधार' का उद्देश्य था, और हमारी अव भी दृढ धारणा यह है कि धार्मिक वर्गों को, राजनीति से, कम से कम औपचारिक अर्थ मे, "वाहर रहना" चाहिए। इसी प्रकार शिक्षा भी धर्मनिरपेक्ष वन गई है। हमारे पब्लिक स्कूल, इस विचार-धारा की सफलता के प्रमाण है, यद्यपि सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो ही दृष्टि

चलता है और अपने आप उन पर विजय पाने के लिए रोगी को कोई सुझाव नही देता। राजर्स व्यक्ति को स्वभावत अच्छा मानता है और यह मानता है कि एक व्यक्ति के इर्द-गिर्द जो व्यक्ति होते हैं उनके अश्रेयस्कर कर्मों और अभिवृत्तियो के कारण वह विकृत बन जाता है और स्वाभाविक विकास की सामान्य तथा स्वस्थ दिशा से विचलित हो जाता है। यहा रोगी के अन्दर की आत्म-ग्लानि और आत्म-विरोधी प्रवृत्तियो को इतने निर्दिष्ट ढग से नही अपनाया जाता, जितना कि मनोविश्लेषण मे। यद्यपि राजर्स (1951), फ्रायड के दमन के सिद्धान्त को स्वीकार करता हुआ प्रतीत नही होता, वह "अनुभव के निषेध" की बात करता है जो क्रियापरक ढग से विघटन अथवा दमन से भिन्न नही है। इस प्रकार वह अचेतन और इसके प्रति व्यक्ति के असहाय होने के सिद्धान्त का अनुमोदन करता है। जिन लोगो ने डा० राजर्स के साथ काम किया है उनसे मुझे पता चला है कि उसके विचारो मे भी सुधार हो रहा है। लेकिन उसके सर्वविदित तथा अभिनव कथनो के आधार पर मेरा यह विश्वास है कि यह मूल्याकन समुचित और सत्य है।

वास्तव मे, यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रोटैस्टेण्टवाद के विरुद्ध मैंने जो दोषारोपण किया है वह सर्वत्र लागू नही होता। और यहा पर यह तर्क के दो रूपो मे से कोई एक रूप हो सकता है। कुछ कहेगे कि मुझे यह समझ ही नही आया कि "कालविन के कथन का क्या अर्थ था"। यद्यपि मैं यह मानता हू कि मुझे कालविन के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञान है (गिल्की 1960), मैं, फिर भी, यह स्वीकार करता हू कि कालविन के विचारो को समझने से मेरा विशेष सम्बन्ध नही है। हमारे लिए तो उसके विचारो का वह रूप महत्त्वपूर्ण है जो व्यापक है और जिसे जनसाधारण उसका विचार समझता है, इसलिए "कालविनवाद" का प्रयोग मैं बिल्कुल उसी प्रकार कर रहा हू जिस प्रकार "फ्रायडवाद" का। फ्रायड के लेखो से मैं स्वय ऐसे उद्धरण दे सकता हू जो यहा वर्णित (तथा जनसाधारण मे समझे जाने वाले) उसके विचारो के रूप का खण्डन करते हो। लेकिन जो बात महत्त्वपूर्ण है वह इन व्यक्तियो के विचारो का प्रभाव है, और यदि यह निश्चित रूप से उसके अनुरूप नही है जो उन्होने कहा था (विशेष कर अपने जीवन के अपराह्न काल मे, जब उन्हे अपने विचारो पर पुनर्विचार करने का कुछ अवसर मिला), तो यह कोई बात नही है। यहां हमारा सम्बन्ध सास्कृतिक शक्तियो से है और यह तथ्य कि मैंने यहा फ्रायडवाद तथा कालविनवाद के उस रूप को चुना है जो विख्यात है, इस उद्देश्य और लक्ष्य के अनुरूप है।

एक क्षण पहले जिस दूसरे आरोप की ओर सकेत किया था वह यह है कि प्रोटैस्टेण्ट सगठन मे कुछ ऐसे परम्परावादी अथवा "सम्प्रदायवादी वर्ग" है जो

फ्रायडवाद की ओर उस सीमा तक नही झुके है जिस सीमा तक उदार प्रोटैस्टेण्टवाद। यह मैं तुरन्त ही स्वीकार कर लेता हू, लेकिन हमे एक साथ ही उन वर्गो मे जो स्पष्टत कालविनीय हैं और जो स्पष्टत कालविनीय नही हैं, भेद करना आवश्यक है। कालविनीय सम्प्रदाय उसी स्थिति मे हैं जिसमे उदारवाद तथा फ्रायडवाद के सक्रमण से पहले प्रोटैस्टेण्टवाद सामान्यत था। वे व्यक्ति को उसके अपराध के साथ छोड देते हैं और अपने कर्मों के प्रति असहाय ही नही अपितु निर्दोष बताने वाले, फ्रायडीय सिद्धान्त के फार्मूले के द्वारा इस "निराशा" से उसे मुक्त करने का प्रयत्न नही करते। इस प्रकार, एक अर्थ मे, वे उदार प्रोटस्टेण्ट वर्ग की अपेक्षा अच्छी हालत मे है, और उन्हे प्रायश्चित्त करने की कम आवश्यकता है। लेकिन वे भी उस द्विविधा मे फँसे हुए हैं जिसे काल-विनवाद स्वय उपस्थित तो करता है किन्तु उसके लिए कोई सतोपजनक समाधान नही देता।

इसके विपरीत, कुछ ऐसे तथाकथित सम्प्रदाय भी हैं जो ईसाई धर्म के ऐसे रूप का प्रचार और पालन करते हैं जो, मेरे विचार मे, मूल-ईसाई धर्म के अधिक नजदीक है और जो सुधार के शकास्पद पहलुओ से बहुत ही कम प्रभावित है। बाद मे, इन वर्गों की ओर अधिक ध्यान से देखने का अवसर मिलेगा लेकिन साथ ही आधुनिक युग मे रोमन कैथालिकवाद और यहूदीवाद के महत्त्व को भी परखा जा सकेगा (अध्याय 12)। परन्तु, पहले कुछ भिन्न प्रकार के अन्य विशिष्ट विचारो का पुनरवलोकन करना आवश्यक होगा।

V धर्म-निरपेक्षीकरण और सकट

इससे पहले कि कोई व्यक्ति मनोविकार-विज्ञान और धर्म मे व्याप्त वर्तमान सकट का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सके उसे इस बात की ओर भी अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए कि किस सीमा तक अब उन कार्यों को, जिन्हे सुधार से पहले चर्च के उचित विषय माना जाता था, अब धर्मनिरपेक्ष बना दिया गया है। विश्व-चर्च के द्वारा पहले जो दमनपूर्ण नियन्त्रण और अभिभावन रखा जाता था उससे स्वतन्त्र करने का एक साहसपूर्ण प्रयत्न 'सुधार' था। और इस उद्यम के सम्बन्ध मे अधिक से अधिक क्षेत्रो मे राज्य और चर्च का पृथक्करण भी मूल बात थी।

राजनीति के क्षेत्र मे चर्च और राज्य का पृथक्करण, वास्तव मे, 'सुधार' का उद्देश्य था, और हमारी अब भी दृढ धारणा यह है कि धार्मिक वर्गों को, राजनीति से, कम से कम औपचारिक अर्थ मे, "बाहर रहना" चाहिए। इसी प्रकार शिक्षा भी धर्मनिरपेक्ष बन गई है। हमारे पब्लिक स्कूल, इस विचार-धारा की सफलता के प्रमाण हैं, यद्यपि सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो ही दृष्टि

से कुछ क्षेत्रो मे इसका अब भी प्रतिरोध हो रहा है। दान के क्षेत्र मे भी धर्म-निरपेक्षता का झुकाव देखा जाता है। इस क्षेत्र मे भी हम यह देखते है कि जन-सहायता का तथा जन-कल्याण की अनेक निजी सस्थाओ का जो विकास हुआ है वह भी अधिकतर धर्म-निरपेक्ष प्रकृति का है। अनेक प्रकार के बीमा का प्रारम्भ भी इस सम्बन्ध मे वही प्रभाव रखता है। भौतिक आपदा जैसे, आग अथवा बाढ से घर का नष्ट हो जाना, अथवा अक्षम बनाने वाले रोग, अथवा परिवार मे किसी की मृत्यु के कारण दु खी व्यक्तियो को सीधे सहायता पहुचाने की अपेक्षा, हम किसी कम्पनी को नियमित रूप से "प्रीमियम" देते है और वह कम्पनी हमारे लिए इन कार्यो को अपने आप अवैयक्तिक रूप से करती रहती है।

इसलिए, इन क्षेत्रो, राजनीति, शिक्षा, दान—मे चर्च और राज्य का विभाजन कुछ सीमा तक चलता ही रहेगा। बाद मे (अध्याय 12) दान को धर्म-निरपेक्ष बनाने के कम दुर्भाग्यपूर्ण परिणामो पर विचार करने का हमे अवसर प्राप्त होगा, और ऐसे भी लोग हैं जो जन-शिक्षा की बुराइयो की ओर ध्यान दिलाते हैं। लेकिन सब मिला कर, हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक है—कम से कम लोग इसी ढग से इस स्थिति को देखते हैं, और सम्पूर्ण समाज के लिए, इन क्षेत्रो मे पहले की तरह चर्च के आधिपत्य को लौटाने के कोई प्रबल सकेत नही है।

मगर, ऐसा भी क्षेत्र है जिसमे धर्म-निरपेक्षता लाने के परिणाम सतोषजनक अथवा आशा प्रदान करने वाले नही हैं। यहा मेरा सकेत वैयक्तिक अपराध की समस्या के प्रबन्ध की ओर है। परम्परा के अनुसार इसका हल अधिकतर चर्च के हाथो मे रहा है, यद्यपि प्रोटेस्टेण्ट और कैथालिक नेता समान रूप से इस क्षेत्र मे अपनी रुचि और क्षमता का दावा करते है, वास्तविकता यह है कि जो व्यक्ति अपराध और नैतिक असफलता के बोझ से चकनाचूर हो जाते हैं उन्हे चर्च अधिकतर "देखभाल और चिकित्सा" के लिए नियमित रूप से राज्य को सौंप देता है। यह बात तो निश्चित है कि इस कथन के पीछे एक मान्यता छिपी है मान्यता यह है कि तथाकथित मानसिक रोग अथवा मनोरोग-चिकित्सा के सम्बन्ध मे केन्द्रीभूत समस्या अपराध, अस्वीकृत, प्रायश्चित्त-रहित वास्तविक अपराध है, लेकिन अन्यत्र (अध्याय 3, 4, 5, 7, 8, 10, 14) इस मान्यता को स्वीकार करने के पक्ष मे इतने प्रमाण इकट्ठे कर चुका हू कि यहा तो मैं उसे स्वीकार कर ही लेना चाहता हू। अन्य अवसरो पर (अध्याय 9 और 10) मैंने इस कथन के पक्ष मे विस्तृत प्रमाण दिए है कि चिकित्सा के माध्यम के रूप मे राजकीय मानसिक अस्पताल असफल रहे हैं और अपराध-ग्रस्त व्यक्तियो की धर्म-निरपेक्ष तथा औषधीय व्यवस्था के अनुसार सहायता पहुचाने के सभी प्रयत्नो पर पुन विचार करने का अब समय आ गया है।

कानूनी अपराध की घटनाए तो स्पष्टत राज्य के उत्तरदायित्व है और सम्भवत रहने भी चाहिए, कम से कम जहा तक विशेष कर्मों के लिए उत्तर-दायित्व निश्चित करने का प्रश्न है। लेकिन यहा फिर प्रश्न इनकी चिकित्सा तथा पुनर्स्थापना के सम्बन्ध मे राज्य के प्रयत्नो की सफलता का है। कानूनी तौर पर प्रतिकार "न्याय" का मुख्य साधन है और दूसरो को अपराध से रोकने के लिए यह आवश्यक भी है, लेकिन इसकी उद्धारक शक्ति के बारे मे व्यापक निराशा हुई है और अलवर्ट एगलाश (1958, 1959) जैसे लेखक अब यह सुझाव देने लगे हैं कि जेल की योजना प्रतिकार की अपेक्षा प्रतिदान के सिद्धात के अनुरूप होनी चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपराधी व्यक्तियो—कानूनी तौर पर निर्णीत अपराधी और वे जो (जैसा कि बोइसन ने कहा है) स्व-निन्दित (पागल) है उन दोनो प्रकार के व्यक्तियो—की पुनर्स्थापना करने के राज्य-सचालित धर्म-निरपेक्ष प्रयत्नो के सम्बन्ध मे अभी बहुत कुछ वाछनीय तथा पूर्णीय है। दोनो ही क्षेत्रो मे, विशेष कर औषधीय सरक्षण के कारण, नैतिक उत्तरदायित्व के प्रश्न को समाप्त करने का तथा दोनो ही वर्गो को रोगग्रस्त मान कर चिकित्सा करने का व्यापक प्रयत्न हो रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज हम अपने सम्पूर्ण समाज के ही "रोगी" होने की बात करने लगे हैं। और मैंने अन्यत्र भी बताया है (अध्याय 10) कि इस "रोग" का कारण इन क्षेत्रो मे रोग के प्रत्यय का अनुचित प्रसार ही है।

लेकिन इस समस्या का एक और पहलू है जो इतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि यह पहलू, जिस पर हम अभी विचार कर रहे थे। सस्था के रूप मे धर्म राजनीति, शिक्षा, तथा वास्तविक अर्थ मे दान के क्षेत्रो मे प्रत्यक्षत भाग लिए बिना भी, जीवित रह सकता है, लेकिन एक गम्भीर प्रश्न यह है कि यदि धर्म वैयक्तिक अपराध के कारण बर्बाद हुए व्यक्तियो की समस्या के समाधान का उत्तरदायित्व भी इसी प्रकार नही उठाता तो क्या धर्म जीवित रह सकता है, अर्थात् सशक्त और सार्थक रह सकता है। मैं यह तर्क पहले (अध्याय 6, 7, 8) दे चुका हू, जैसाकि एन्टन बोइसन ने पिछले पैंतीस वर्षो मे किया है, कि जिस क्षण यह उस व्यक्ति का साथ देने से मना करने लगता है जो उस भावात्मक और नैतिक सकट मे, जिसे हम आधि और मनोविक्षिप्ति कहते है, फँसा हुआ है तो चर्च के अस्तित्व का आधार ही समाप्त हो जाता है और यह प्रेरणा और प्रामाणिकता के स्रोतो से विच्छिन्न हो जाता है। जैसे ही चर्च इन व्यक्तियो को अन्य किसी सस्था अथवा व्यवसाय को सौंप देता है वैसे ही वह अपनी मृत्यु के आज्ञा-पत्र पर भी हस्ताक्षर कर देता है।

वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध मे यह मत विशेष स्पष्टता और बल के साथ

हाल ही मे उस समय मालूम हुआ जब मैंने एक धर्माचार्य को धर्म-शास्त्र के एक विशेष दृष्टिकोण का दृष्टान्त देने के लिए एक काल्पनिक मानवीय परिस्थिति का उस समूह मे प्रयोग करते हुए सुना जिसमे उस समय उपस्थित एक मनश्चिकित्सक ने तुरन्त ही एक विरोधी, वास्तविक तथा ताजा "केस" सुनाया था। बौइसन ने धर्माचार्यों तथा धर्म-शास्त्रियो को बहुत दिनो तक यह समझाया है कि वे एक मौसम के लिए अपनी पोथियो को उठा कर रख दें और उन "मानवीय दस्तावेजो" का अध्ययन करें जो उनमे मिलते हैं जिन्हे वह बडे रगीन ढग से "विभ्रान्त का पागलपन" (the wilderness of the lost) कहता है। यहूदी-ईसाई के लिए यह कोई एक महान् नया आविष्कार अथवा विचलन नही है, इसके विपरीत यह तो चर्चों को उस धर्माचार्यत्व की गहराई की ओर मुडने की चुनौती है जिसे उन्होने सामान्यतया भुला दिया है। खोई हुई भेड की दृष्टान्त कथा मे ईसा मसीह भले गडरिये के बारे मे कहता है कि वह झुण्ड मे निन्यानवें सुरक्षित भेडो को छोड कर एक खोई हुई भेड की तलाश करने के लिए जाता है। क्या यह यथार्थ नही है कि आधुनिक चर्च पथ-भ्रष्ट आत्माओ के प्रति उदासीन हो गया है और इसकी जीवनी-शक्ति तथा प्रामाणिकता लगभग अन्तिम बिन्दु तक क्षीण हो चुकी है? जब तक धर्माचार्यों, पादरियो तथा पुरोहितो की यह प्रवृत्ति रहती है कि जब भी उनकी धर्मसभा के सदस्यो को भयकर व्यक्तिगत सकट का सामना करना पडता है तो उन्हे वे मनोवैज्ञानिको और मनश्चिकित्सको के पास भेज देते हैं, ठीक तब तक वे अपने आपको उस कष्टावस्था मे पाएगे जिसकी इस पत्र के प्रारम्भ मे चर्चा की है।

जिस समूह के अन्दर इस विषय पर विचार-विमर्श हो रहा था उसमे से एक विद्यार्थी ने हाल ही मे प्रशसनीय ढग से स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया। उसने कहा "क्योकि खोई हुई एक भेड के पीछे जाने के लिए चर्च ने मना कर दिया है, इसलिए हमे यह दिखाई देता है कि हम सब 'पथ-भ्रष्ट' भ्रान्त तथा रुग्णतन्त्रिक हो गए हैं।"

VI छाया अथवा तथ्य ?

मैं यह दावा नही कर सकता कि धर्म-शास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियो से मैं पूर्णत परिचित हू, लेकिन इस सम्बन्ध मे आकस्मिक ढग से प्राप्त मेरा अनुभव यह है कि यह खिसकती बालू वाली भूमि के समान है। फैशन और प्रवृत्तिया तो अनेक प्रकार की हैं, लेकिन मुझे कोई ऐसी बात दिखाई नही देती जो प्रच्छन्न मानवीय तथ्यो के मूल सिद्धान्तो के समान हो। एक लेखक अपनी असाधारण विदग्धताशक्ति अथवा नवीनता के कारण अनुयायी बना सकता है, लेकिन उसका अतिक्रमण भी किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा हो सकता है जो अपने चातुर्य से उसे

हाल ही मे उस समय मालूम हुआ जब मैंने एक धर्माचार्य को धर्म-शास्त्र के एक विशेष दृष्टिकोण का दृष्टान्त देने के लिए एक काल्पनिक मानवीय परिस्थिति का उस समूह मे प्रयोग करते हुए सुना जिसमे उस समय उपस्थित एक मनश्चिकित्सक ने तुरन्त ही एक विरोधी, वास्तविक तथा ताजा "केस" सुनाया था। बौइसन ने धर्माचार्यों तथा धर्म-शास्त्रियो को बहुत दिनो तक यह समझाया है कि वे एक मौसम के लिए अपनी पोथियो को उठा कर रख दें और उन "मानवीय दस्तावेजो" का अध्ययन करें जो उनमे मिलते हैं जिन्हे वह बडे रगीन ढग से "विभ्रान्त का पागलपन" (the wilderness of the lost) कहता है। यहूदी-ईसाई के लिए यह कोई एक महान् नया आविष्कार अथवा विचलन नही है, इसके विपरीत यह तो चर्चों को उस धर्माचार्यत्व की गहराई की ओर मुडने की चुनौती है जिसे उन्होने सामान्यतया भुला दिया है। खोई हुई भेड की दृष्टान्त कथा मे ईसा मसीह भले गडरिये के बारे मे कहता है कि वह झुण्ड मे निन्यानवें सुरक्षित भेडो को छोड कर एक खोई हुई भेड की तलाश करने के लिए जाता है। क्या यह यथार्थ नही है कि आधुनिक चर्च पथ-भ्रष्ट आत्माओ के प्रति उदासीन हो गया है और इसकी जीवनी-शक्ति तथा प्रामाणिकता लगभग अन्तिम बिन्दु तक क्षीण हो चुकी है ? जब तक धर्माचार्यों, पादरियो तथा पुरोहितो की यह प्रवृत्ति रहती है कि जब भी उनकी धर्मसभा के सदस्यो को भयकर व्यक्तिगत सकट का सामना करना पडता है तो उन्हे वे मनोवैज्ञानिको और मनश्चिकित्सको के पास भेज देते हैं, ठीक तब तक वे अपने आपको उस कष्टावस्था मे पाएगे जिसकी इस पत्र के प्रारम्भ मे चर्चा की है।

जिस समूह के अन्दर इस विषय पर विचार-विमर्श हो रहा था उसमे से एक विद्यार्थी ने हाल ही मे प्रशसनीय ढग से स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया। उसने कहा "क्योकि खोई हुई एक भेड के पीछे जाने के लिए चर्च ने मना कर दिया है, इसलिए हमे यह दिखाई देता है कि हम सब 'पथ-भ्रष्ट' भ्रान्त तथा रुग्णतन्त्रिक हो गए हैं।"

VI छाया अथवा तथ्य ?

मैं यह दावा नही कर सकता कि धर्म-शास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियो से मैं पूर्णत परिचित हू, लेकिन इस सम्बन्ध मे आकस्मिक ढग से प्राप्त मेरा अनुभव यह है कि यह खिसकती बालू वाली भूमि के समान है। फैशन और प्रवृत्तिया तो अनेक प्रकार की है, लेकिन मुझे कोई ऐसी बात दिखाई नही देती जो प्रच्छन्न मानवीय तथ्यो के मूल सिद्धान्तो के समान हो। एक लेखक अपनी असाधारण विदग्धताशक्ति अथवा नवीनता के कारण अनुयायी बना सकता है, लेकिन उसका अतिक्रमण भी किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा हो सकता है जो अपने चातुर्य से उसे

पराभूत कर दे। इस समय प्रोफैसर पाल टिलिक का बोल बाला है। उन्होने जो कुछ लिखा है उसका मूल्याकन करने के लिए मैं अपने आपको योग्य नही समझता, लेकिन एक क्षेत्र मे, जिसमे, मैं समझता हू, मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त है, वह अत्यन्त अस्पष्ट हैं। उदाहरण के रूप मे "शुभ, जिसका मैं सकल्प करता हू, लेकिन करता नही हू" (The Good I Will, I Do Not) शीर्षक के उनके एक अभिनव धर्मोपदेश से लिए हुए निम्नलिखित गद्याश को ले

> "धर्मोपदेशो मे, रविवारीय स्कूलो तथा परिवारो मे ईसाई लोग जीवित, विकासशील तथा स्व-प्रजननकारी वे सभी व्यक्तियो के लैंगिक भेदो तथा उनकी सम्भव विकृतियो पर एक अपरिमित धार्मिक भाव से अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। यह निश्चित है कि ये विकृतिया, उतनी ही वास्तविक है, जितनी कि हमारे आध्यात्मिक जीवन की विकृतिया, यथा अभिमान और उदासीनता। लेकिन यदि जीवन की काम-शक्ति मे ही पाप देखा जाता है तो यह स्वय ही एक विकृति है। अत इस प्रकार के धर्मोपदेशो से पाप का वह रूप जिसे पाल ने वर्णित किया था खो जाता है। इससे भी अधिक बुरी जो बात है वह यह है कि इसके कारण असख्य व्यक्तियो मे विकृत अपराध-भावना पैदा हो जाती है जो उन्हे सदेह के बाद चिन्ता और चिन्ता के बाद निराशा, और निराशा के बाद मानसिक रोग मे शरण लेने तथा अपने आपको नष्ट करने की अभिलाषा की ओर प्रवृत्त करती है (पृ० 22)।"

यहा टिलिक निश्चित रूप से क्या कहना चाहता है? जैसी कि उसके लेखो की विशेषता है, इस गद्याश मे अनेक अस्पष्ट सदर्भ तथा धु धली बातें है। लेकिन यहा तथा अन्यत्र टिलिक जो बात बार-बार कहना चाहता है वह यह है प्रोटैस्टेण्ट चर्च ने अपराध-भावना का बिल्कुल अवास्तविक ढग से अनुभव करने की क्षमता प्रदान की है और उसका हल करने के लिए कोई समुचित उपाय नही बताया है। इसलिए, फ्रायडवादियो के अनुरूप वह यह सुझाव दे रहा है कि हमे अपराध को तो उसकी जड से ही त्याग देना है और इस प्रकार हमारा उससे कोई सम्बन्ध नही है। किर्कगार्ड, नित्शे, शिलर और फ्रायड के अनुरूप वह कहता है कि अपराध, विशेष कर धर्म-भावना से प्रेरित अपराध, हमारा रोग है। एक अन्य प्रसिद्ध धर्मविद्यामन्दिर के प्रोफैसर ने अपने मित्र को अभिनव पत्र मे नितान्त भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। वह कहता है "जहा ईसाई लोग इस विचार तक गिर गए है कि अपराध एक रोग है उन्होने अपने आपको धर्म-शास्त्र के सम्बन्ध मे गधा बना लिया है। यद्यपि मैं (हैनरी इमर्सन) फास्डिक को बहुत

प्यार करता हू और उनका आदर करता हू, फिर भी मुझे भय है कि वह और उसके विचारो के अन्य व्यक्ति 'पाप' के विषय मे भ्रम मे पड गए हैं।"

यहा, निश्चित ही, एक आशाप्रद कथन है, लेकिन आजकल इसकी प्रधानता नही है। यह वर्तमान का प्रचलन नही है। आजकल ऐसे हजारो धर्माचार्य हैं जो टिलिक, फास्डिक तथा अन्य फायडवादी स्वदोष स्वीकार करने वाले व्यक्तियो के प्रभाव मे है। और वह क्या आधार है जिस पर धर्माचार्य ऐसे व्यक्तियो का नेतृत्व स्वीकार कर लेते है ? क्या इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषणवाद अनुभव के आधार पर प्रमाणित हो चुका है ? ऐसा बिल्कुल ही नही है। बल्कि इसका कारण यह है कि धर्म-शास्त्र किताबी और उद्धार न करने वाला बन गया है और इसलिए यह अपने गुरुत्वाकर्षण केन्द्र, वास्तविक मानवीय तथ्यो के साथ अपने सम्पर्क को खो चुका है और इसके नेता चचल सागर मे एक कार्क के समान इधर-उधर दोलायमान हैं। वे फ्रायड की ओर उन्मुख इसलिए होते है कि वे अपनी सत्य-निष्ठा और केन्द्रबिन्दु को खो चुके हैं। यदि गम्भीर रूप से विक्षिप्त व्यक्तियो को नियत रूप से "आगे भेजने" की जगह, धार्मिक नेता गत शताब्दी से उनकी देखभाल और उद्धार मे लगे रहते तो न तो कोई फ्रायड होता और न ही फिर उसे उचित सिद्ध करने के लिए किसी टिलिक अथवा किसी फास्डिक की आवश्यकता पडती।

जिस सम्मेलन की ओर मैं अभी सकेत कर चुका हू उसमे धर्म-विद्यामन्दिरो के प्रोफैसरो और विख्यात पुरोहित धर्माचार्यों को ऐसे कथन करते हुए मैंने सुना "आजकल व्याख्यानपरक धर्म-शास्त्र शब्द-गुच्छ मात्र है।" "धर्म-शास्त्र हमारे और लोगो के बीच एक व्यवधान है।" "धर्माचार्य को अपने व्यवसाय और अपने आपको साथ-साथ ले चलने मे कष्ट अनुभव होता है।" "चर्च को अपने सदेश के लिए नया रूप प्रदान करने की आवश्यकता है।"

मेरा निवेदन यह है कि इस दु खदायी स्थिति का मुख्य कारण यह तथ्य है कि धर्म-शास्त्र अर्थात् वह विद्या और कला जिसमे हमारे धर्माचार्य प्रशिक्षित है, एक अनुशासनहीन शब्द-जाल है। किस विधि से इसे प्रमाणित किया जाता है, इसकी परीक्षा की जाती है, इसे सुसस्कृत किया जाता है और स्पष्ट किया जाता है ? किस बात की व्याख्या करना है अथवा क्या लिखना है, इसका चुनाव करने के लिए एक धर्माचार्य जिन प्रमाणो का प्रयोग करता है वे क्या हैं ? वे कौनसे नियम है जिनके अनुसार वह इस बात का निश्चय करता है कि सत्य क्या है और भ्रान्ति क्या है ? यह स्वीकार कर लेने पर कि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे ज्ञानवान होना बडा कठिन है, यह कहा जा सकता है कि जो धर्माचार्य केवल पढता है, उपदेश देता है, और शायद सावधानी से चुने हुए कुछ व्यक्तियो को धर्म-शास्त्रीय परामर्श देता है उसे शायद ही गहन दृष्टि प्राप्त हो

पाक ने श्रोताओ को याद दिलाया कि "सुधार" के नेता निश्चित ही मध्ययुगीन दिमाग के थे और उनकी सूझ और सच्चाइया आवश्यक रूप से हमारे समय के उपयुक्त अथवा प्रायोगिक नही हैं। उन्होने कहा कि इस विच्छेद के परिणाम-स्वरूप, "आजकल की दुनिया मे ईसाई विचारधारा एक छोटी विचारधारा बन गई है और उन्होने दृढता से यह कहा है कि "सुधार चलता ही रहना चाहिए।"

लगभग इसके तुरन्त बाद "क्रिश्चियन सैन्च्युरी" के मार्च 2 के अक मे येल धर्म-विद्या स्कूल के प्रोफैसर एच० रिचार्ड नीबुर ने "सुधार सतत अत्यावश्यक" शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया। इस लेख का प्रथम भाग अधिकाश मे आत्म-कथा है और हमारी रुचियो से सम्बन्धित नही है, लेकिन उत्तर भाग अत्यधिक सम्बन्धित है और हम विस्तार के साथ इसमे से उद्धृत कर सकेंगे।

> "आज मेरा मुख्य उद्देश्य विरोध प्रदर्शित करना नही है। यह चर्च के सुधार की बात है। मेरा अब भी यह विश्वास है कि सुधार स्थायी कार्य-क्रम है, ऐतिहासिक जीवन मे हमसे निरन्तर मैटेनोइया (metanoia) की माग की जा रही है। चर्च के जिस तात्कालिक सुधार के लिए मैं प्रार्थना करता हू, जिसकी आशा करता हू और जिसके लिए मैं अपने शेष समय मे कार्य करना चाहता हू वह ससार से इसे अलग करने का सुझाव न होकर ससार के साथ समझौता किये बिना उसमे प्रवेश करने का विचार है। मेरा यह विश्वास है कि यह विच्छेद बहुत दूर तक चला गया है और अब हमे उसे पूरा करने के रास्ते खोजने चाहिए जिसके लिए हम पैदा हुए हैं। स्थिति के एक पहलू का प्रतिनिधित्व "दुनिया", विशेष कर समस्त पश्चिमी दुनिया करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस दुनिया मे लोग अपने बारे मे बहुत निर्भ्रान्त हो चुके हैं और अपनी मूर्तियो—राष्ट्र, तक-नीक सभ्यता की आत्मा इत्यादि के बारे में भी निर्भ्रान्त होते जा रहे है। उन्हे अब आशा नही रही कि उनके अपने अन्दर निहित अथवा अपने परिवेश मे व्याप्त शक्ति के द्वारा विनाश से (जो चाहे होलोकास्ट के कारण हो अथवा सुस्ती के कारण) अथवा जीवन की उस क्षुद्रता से, जो सम्भवत अस्तित्व मे ही नही, अपनी रक्षा कर सकते हैं। तथाकथित अविकसित राष्ट्र—जिनमे रूस भी शामिल है—यह नही समझते कि प्रकृति के ऊपर अपनी शक्ति को द्विगुणित करने मे न कोई आशा है, न कोई यश और न कोई आनन्द है, और जिस अनुभव मे से हम गुज़र चुके हैं अथवा गुज़र रहे हैं उसमे से गुज़रने से उन्हे रोकने का हमारे पास कोई रास्ता भी नही है। लेकिन पश्चिम मे अत्यधिक सवेदन-शील व्यक्ति, भले ही वे अत्यधिक न हो, धार्मिक रिक्तता मे जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उनके

अर्ध-देव तो चले गए हैं और पूर्ण देव अभी आए नही है। हाल के कुछ वर्षों मे धार्मिक पुनरावृत्ति की जो बात कही जाती है, मेरी दृष्टि मे वह ईश्वर मे आस्था और यश की आशा के रूप मे उतनी नही जितनी कि धर्म-निष्ठा की इच्छा और आशा के रूप मे पुनरावृत्ति है। और मुझे यह भी प्रतीत होता है कि हमारे चर्च (तथा धर्म-विद्यामन्दिर भी) ऐसे स्त्री-पुरुषो से भरे हुए है जो स्वय इस रिक्तता का अनुभव कर रहे है, और यह भी सत्य है कि व्यापक समाज मे इसी प्रकार के विचार वाले अनेको लोग हैं जो चर्च के बारे मे यह सोचते भी नही हैं कि चर्च शायद उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। इस स्थिति मे बार-बार मुझे यह कहावत याद आती है 'भूखी भेडें ऊपर की ओर नजर करती है और भूखी रह जाती हैं' (पृ० 250)।"

इसके बाद प्रोफैसर नीबुर सदेश के तथा एक ईश्वर मे विश्वास के नए "प्रतीको" मे प्रकट करने की माग करते और यह कह कर उपसहार करते है

"मैं यह नही जानता कि प्रतीकात्मक कार्यों तथा सारगर्भित शब्दो मे प्रतीको का यह नवीनीकरण (सुधार तथा विशुद्धिवादी प्रचलन और महान् जागृति के नए शब्दो के समान) किस प्रकार हो सकेगा। मैं पवित्र आत्मा पर निर्भर हू और मुझे विश्वास है कि नए शब्द और नए कार्य पैदा होंगे और पैगम्बरो तथा अन्य बहुत से व्यक्तियो मे से कार्ल मार्क्स के समान मेरा यह भी विश्वास है कि धर्म का सुधार ही समाज का मूलभूत सुधार है। और यह भी विश्वास है कि जब तक हम अन्दर से मानवीय आत्मा को पुनर्जीवित नही करते तब तक अन्तरिक्ष 'विजय' अथवा शीत-युद्ध की समाप्ति के परिणामस्वरूप मानव जाति के लिए कोई महत्त्वपूर्ण बात नही हो सकती (पृ० 251)।"

नीबुर और पाक मे जो कथन उद्धृत किए है वे समकालीन धर्म-शास्त्र की सामान्य अस्थिरता का अवमूल्याकन ही प्रकट नही करते, वे हमारी मूलभूत मान्यताओं पर पुनर्विचार करने के लिए खुले निमन्त्रण भी हैं। लेकिन इस चिन्तन की दिशा क्या होगी, इसका कोई स्पष्ट अथवा विश्वसनीय सकेत इनमे प्राप्त नही होता। यदि हम टिलिक की पुस्तक प्रोटैस्टेण्ट युग (The Protestant Era) जो 1948 मे पहली बार प्रकाशित तथा लघु सस्करण के रूप मे 1957 मे पुन प्रकाशित एक निबन्ध-सग्रह है, की ओर बढ़ते है तो उनके प्रारम्भिक अध्यायो मे तो कुछ सहायता नही मिलती, लेकिन पुस्तक का अन्त एक पत्र मे

होता है जो सर्वप्रथम 1939 मे समाजशास्त्र की अमरीकी पत्रिका मे "प्रोटैस्टेण्ट युग का अन्त ?" शीर्षक से प्रकाशित हुआ। वह गहरी चोट करने वाला, सीधा और—कुछ सीमा तक—उद्भासक है। उसका तर्क इस प्रकार प्रारम्भ होता है

"प्रोटैस्टेण्टवाद का केन्द्रीभूत सिद्धान्त केवल अनुकम्पा के द्वारा अपने कर्मो को शुद्ध करना है, जिसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति तथा कोई भी वर्ग अपनी नैतिक उपलब्धियो, कर्म-काण्ड की शक्ति, पवित्रता अथवा सिद्धान्त के बारे मे ईश्वरीय सम्मान का दावा नही कर सकता। यदि, जाने अथवा अनजाने, कोई ऐसा दावा करता है तो प्रोटैस्टेण्टवाद की माग है कि एक पैगम्बरी विरोध के साथ उसे चुनौती दी जाय। इसके अनुसार केवल ईश्वर को ही सर्व-शक्ति और पवित्रता प्राप्त है और मानव को अभिमान करने का कोई अधिकार नही है। ईश्वर के प्रभुत्व के अनुभव के आधार पर स्वय अपना विरोध करना एक प्रोटैस्टेण्ट सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त लूथरवाद, कालविनवाद तथा आधुनिक प्रोटैस्टेण्ट सस्थावाद पर भी लागू होता है। इस सिद्धान्त के ही कारण आकस्मिक नाम "प्रोटैस्टेण्ट" एक आवश्यक और प्रतीकात्मक नाम बन गया (पृ० 226)।"

और फिर टिलिक कहते हैं

"बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक जीवन के लिए प्रोटैस्टेण्टवाद के परिणाम स्पष्ट हैं। प्रोटैस्टेण्टवाद अत्यधिक विचार-प्रधान धर्म है। आजकल के धर्माचार्य का चोगा वही है जो मध्य युग के प्रोफैसर का होता था, जो इस तथ्य की ओर सकेत करता है कि वाइबिल के वृत्तिकारो के रूप मे धर्म-शास्त्रीय सकाय प्रोटैस्टेण्ट चर्च के सर्वोच्च प्रमाण बन गए थे। लेकिन प्रोफैसर तो केवल बौद्धिक प्रमाण होते हैं—अर्थात् तार्किक तथा वैज्ञानिक तर्को मे निपुणता के आधार पर बने हुए प्रमाण होते है। इस प्रकार की प्रामाणिकता उस प्रामाणिकता की नितान्त विरोधी है जिसकी तलाश विघटित जनता करती है और जिसका विघटन इस क्षेत्र के नेताओ के तर्कों तथा प्रतितर्को की प्रतिध्वनि है। बिशप, पुरोहित तथा राजा को सस्कार सम्बन्धी प्रामाणिकता तथा अधिकार प्राप्त होता है जिसे तर्को के द्वारा छीना नही जा सकता और जो अपने वाहको के बौद्धिक तथा नैतिक गुणो से स्वतन्त्र है। यह एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी प्रकार समाप्त नही हो सकती।

मे बताई जा चुकी है, अर्थात्, मानव अपराध और दैवी कृपा के सुधारवादी सिद्धान्तो की असगति के रूप मे ही स्थिति को समझा जा सकता है। जैसा मैं पहले भी कह चुका हू, इसके कारण मनुष्य एक विचित्र द्विविधा मे फँस जाता है, जिससे उसे बचाने का दावा यद्यपि मनोविश्लेषण करता है, लेकिन वस्तुत वह उसे और भी-गहराई मे डुबा देता है। अब समय आ गया है, यदि हमने सीधे अपने विनाश की ओर नही जाना है, कि हम फिर से उन सिद्धान्तो की ओर मुडें, जिन्हे हमने वर्तमान विनाशकारी तथा धृष्टतापूर्ण धर्म-शास्त्र के कारण उपेक्षित तथा घृणित समझा है।

12

प्रोटैस्टेण्ट ईसाई धर्म : II. चुनौती तथा परिवर्तन*

यदि, जैसाकि पूर्वगामी अध्याय के अन्तिम भाग से प्रकट होता है, प्रोटैस्टैण्ट सुधार, कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओ मे, पथभ्रष्ट तथा अपूर्ण था तो लगातार खोज, नवीन अन्तर्दृष्टि तथा सामाजिक रचनाशक्ति की निरन्तर आवश्यकता है। लेकिन इस समय विचाराधीन क्षेत्र के समान जटिल तथा महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे परम्परागत अर्थ मे अनुसन्धान "निरर्थक" है। इसके स्थान मे आजकल, प्रयत्न और भूल की विधि, वास्तविक अनुभव, अथवा "क्रियापरक अनुसन्धान" (जैसा कि इसे कभी-कभी कहा जाता है) की मूल आवश्यकता है। इस अध्याय मे हम इस प्रकार के उन प्रयोगो को जो पहले से ही हो रहे हैं समीक्षा करेंगे तथा जिन अन्य सम्भावनाओ के परीक्षण की अत्यन्त आवश्यकता होगी उनका सुझाव भी दिया जाएगा।

जैसाकि पाक (अध्याय 11) ने कहा है कि सुधार "चलता ही रहना चाहिए" इसका एक मुख्य कारण विज्ञान और धर्म को एक करना, अथवा कम से कम, अविरोधी विचार-विमर्श के क्षेत्र मे शामिल करना है। इस सम्बन्ध मे कुछ आशा का अभाव है जो, जैसाकि बहुतो को ज्ञात है, फ्रायडीय मनोविश्लेषण के मिथ्याविज्ञान के साथ धर्म को फंसाने के हमारे प्रयत्नो का परिणाम है। अब हमे मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक वास्तविकताएं अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी हैं, लेकिन सुधार के धर्म-शास्त्र ने इस सभ्रान्ति मे अपना विशेष योगदान दिया है और अब अपने घर को व्यवस्थित करने का उत्तरदायित्व भी इसका ही है। एक स्वत सत्य को दोहराते हुए यह कहा जा सकता है कि स्वस्थ मनोविज्ञान और स्वस्थ धर्म-शास्त्र की आपस मे सगति होगी, उनमे कोई विरोध नहीं होगा, और ये ऐसी वैयक्तिक प्रथाओ तथा संस्थाओं के रूप प्रस्तुत करेंगे जो निश्चित ही उनसे अच्छे होंगे, जिनका हम आजकल अनुसरण करते हैं।

इस भाषण मे, मैं अपने पहले भाषण का सार क्रम-बद्ध ढग से देने का प्रयत्न नही करू गा, वल्कि अपने मुख्य तर्क और विश्लेषण को आगे बढाऊगा। मगर इसे मैं इस ढग से प्रस्तुत करू गा कि जिन्होने मेरे पहले भाषण को नही सुना वे भी आसानी से मेरी मूल्य मान्यताओ का अनुमान लगा सकें और हमारे सामने जो उद्देश्य है उसे समझ सकें।

I ऐक्य तथा अखण्डता के लिए मिथ्या प्रयत्न

अपने प्रथम भाषण मे मैंने बताया था कि कुछ महीने पहले मैंने तीन दिन का अद्भुत सम्मेलन देखा। इस सम्मेलन मे धर्म-विद्या-मन्दिर के दस या बारह प्रसिद्ध प्रोफैसर और पुरोहित धर्माचार्य थे और उनके साथ कुछ मनोवैज्ञानिक और मनश्चिकित्सक भी थे। और यद्यपि मैं यह समझता था कि जिन व्यवसायो का वहाँ प्रतिनिधित्व हो रहा था उनकी विशिष्ट तथा सामान्य भाषा जानता हू, लेकिन पहले दिन के अन्त तक जो कुछ वहा कहा गया था, विशेषकर धर्म-शास्त्रियो के द्वारा, वह सब मुझे रहस्यमय लगा। स्पष्ट ही वहा एक प्रकार की "वर्ग-गत्यात्मकता" सक्रिय थी जिसे मैं बिल्कुल ही नही समझता था—अथवा, मैं ऐसा स्वीकार करता हू, पसद नही करता था। हमे यहा इसलिए एकत्रित किया गया है (और इसके लिए पारिश्रमिक भी दिया गया है) कि हम उन उपायो पर विचार करें जिनके द्वारा आधुनिक चर्च, आधुनिक स्त्री-पुरुषो के विश्वास की सार्थकता तथा रचनात्मकता (अत्यधिक प्रयुक्त इस शब्द का प्रयोग यहा अच्छे अर्थ मे किया गया है) के साथ जीवन व्यतीत करने मे अधिक सुबुद्ध और अधिक प्रभावोत्पादक हो सकें। लेकिन यह वर्ग एक ऐसे धर्म-मत के विचारो से बाध्यता-ग्रस्त था जो मेरे लिए बिल्कुल नया था और, जैसा मुझे दिखाई दिया, यह उस सभा के कथित उद्देश्यो से असम्बद्ध और निषेधपरक था।

दूसरे दिन के अन्त तक, जब प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के दोष निकाल रहा था तथा अपने भी दोष समझ रहा था और बौद्धिक तथा भावात्मक कुहरा पैदा हो गया था, प्रकाश की किरण दिखाई देने लगी। यहाँ, मेरा अनुमान है, पाल टिलिक का अस्तित्ववाद और मार्टिन बबर का 'मैं-तू' दर्शन सक्रिय था। ऐसा प्रतीत होता था कि जिन बातो का प्रतिपादन दो मनीषी कर रहे थे, हमारे अन्य सभासद् उन्हे जैसा समझते थे, वैसा अपने वैयक्तिक जीवन मे तथा व्यावसायिक जीवन मे प्रयुक्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। लेकिन एक आकस्मिक टिप्पणी से एक निश्चित सकेत प्राप्त हो गया, और जब मैं घर आया तो मैं एक पुस्तक को पाल टौरनीयर की "व्यक्तियो का अर्थ" (The Meaning of Persons) (1957), जो मेरे पास कुछ समय से थी लेकिन जिसे पढा नही था, देखने की जल्दी की। तुरन्त ही यह स्पष्ट हो गया कि यह एक ऐसा ग्रन्थ था जो उस प्रदर्शन का

प्रेरक और पथप्रदर्शक था जिसे मैं देख चुका था—वह एक ऐसे पचासती दिन (Latter-Day Pentecost) के समान था जिसकी गडगडाहट और गर्मी बहुत कम हो चुकी हो। जो आग दिखाई देती थी, वह, वास्तव मे, धुआ था और गडगडाहट केवल "शोर" था।

इन सभा मे एक चालू वाक्य जिसे मैं बार-बार विभिन्न रूपो मे सुन चुका था, यह था "लेकिन मै यह जानना चाहता हू कि 'तू' वास्तविक तू क्या है।" अपने प्रथम अध्याय के द्वितीय पृष्ठ पर (जिस पर दिया हुआ एक शीर्षक वह था जिसे हार्वे काक्स ने हाल मे "मुश्किल से ही सहायक वह प्रश्न, मैं कौन हू ?" के रूप मे प्रकट किया है), टोरनीयर कहते है

"दिन प्रतिदिन सभी आयु तथा सभी हालतो मे स्वस्थ तथा बीमार, स्त्री-पुरुष अपने आपको अच्छी प्रकार से जानने के लिए आते है। वे मुझे अपने जीवन की कहानिया सुनाते है। वे ठीक-ठीक विस्तारपूर्वक जानकारी प्राप्त करने के लिए बहुत कष्ट उठाते है। वे अपने व्यक्तित्व के बारे मे यह जानना चाहते है कि उनका वास्तविक रूप क्या है ।

व्यक्तियो के वास्तविक स्वरूप को समझने के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक तथ्य उतने महत्त्वपूर्ण नही है जितनी कि उनकी ओर देखने और उन्हे महसूस करने की विधि। यदि हमारी स्मृतिया हमे धोखा देती हैं, तो जो स्मृति-भ्रम पैदा होता है वह किसी भी प्रकार से आकस्मिक नही कहा जा सकता, यह हमारे अपने बारे मे उतनी ही बात बताता है जितना कि स्वय तथ्य।"

और कुछ पृष्ठो के बाद लेखक यह भी कहता है

> भाव से मिलना ही मेरे व्यावसायिक जीवन का सार है। परामर्श के लिए जो व्यक्ति मेरे पास आता है उसके लिए यह प्रश्न जितना है उतना मेरे लिए भी है। अपने परामर्श-कक्ष मे ही इसे समझने का मैं प्रयत्न नही करता बल्कि प्रत्येक क्षण, दूसरे व्यक्तियो के साथ हर मिलन मे, अपने घर मे, सभाओ मे तथा छुट्टी वाले दिनो मे मित्रो के साथ रहते हुए भी यही प्रयत्न करता हू (पृ० 14)।"

और मेरे मित्र उन सम्मेलनो मे भी इसका प्रयत्न कर रहे थे, जबकि, कम से कम, वस्तुपरक दृष्टि से उन्हे कुछ और ही करना चाहिए था। लेकिन शीघ्र ही हमे यह पता चल जाता है कि वस्तु-परकता तो पुरानी बात है

> "जब हम अपनी स्मृतियो को जागृत करते है तो हमे यह कभी निश्चय नही हो सकता कि सभी स्मृति-भ्रातिया समाप्त हो चुकी है, भले ही हम कितने ही सच्चे क्यो न हो। जो बातें हम अपने मन मे स्मरण करते हैं वे यथार्थ नही होती बल्कि वे उनका आभासमात्र, वह रूप जैसाकि हमने उन्हे देखा और अनुभव किया होता है—होती है। हमने जो भी कुछ देखा और अनुभव किया होता है—मानसिक सवेदनाए और प्रतिमाए—न्यूनाधिक रूप से विकृत होकर ही हमारी स्मृतियो मे पनपता है (पृ० 12)।
>
> एक समय था जब किसी व्यक्ति के सुसस्कृत बनने के लिए विज्ञान की अपेक्षा कथा, कविता और सगीत को अधिक महत्त्व दिया जाता था। —पिरडेलो की कृति, 'लेखक की खोज मे छ पात्र' (Six Characters in Search of an Author) यह घोषणा करती है कि 'सान्को पाजा' के समान एक काल्पनिक व्यक्ति किसी भी वास्तविक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक वास्तविक होता है—। तो फिर मैं क्या हू और मैं क्या बन सकता हू के बीच क्या सीमा है? (पृ० 13)।
>
> 'सान्को पाजा' भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप नही रखता, उसके बारे मे मेरा जो विचार है वही आपका अथवा सर्वेंट्स का नही हो सकता।—यही बात उन सब व्यक्तियो के साथ भी घटती है जो मुझसे मिलने आते है और अपने बारे मे बिल्कुल सच्चाई के साथ बताने का प्रयत्न करने के लिए इतना कष्ट उठाते हैं (पृ० 14)।

हमे अब पता चला है कि आज से बीस वर्ष पूर्व बबर अपनी पुस्तक 'मनुष्य क्या है?' में बिल्कुल यही बात कहते है

कार्यान्वित किया जा सकता है ? जिस सदर्भ से उपर्युक्त गद्याश लिया गया है उसी मे बबर "एक अस्तित्व" (something ontic) की ओर सकेत करता है। शिकागो और इस देश के एक-दो अन्य शहरो मे अब एक 'अस्तित्व—विश्लेषक परिषद्' (Onto-Analytic Society) है। और अनेक प्रकार के अस्तित्ववादी विश्लेषण का यूरोप मे कुछ वर्षों से प्रयोग किया जा रहा है। लेकिन क्या इनका रिकार्ड मनोविश्लेषण के रिकार्ड से किसी प्रकार अच्छा है ? उत्तरोक्त की एक अप्रत्यक्ष आलोचना मे, बबर लिखते है

> "हम यह देख चुके हैं कि व्यक्तिवादी मानव-विज्ञान, एक ऐसा मानव-विज्ञान है जो मुख्यत एक मानव के अपने आपके साथ सम्बन्ध रखता है, इस व्यक्ति के अन्दर ही आत्मा और मूल प्रवृत्तियो के बीच के नाते से सम्बन्ध रखता है, मानव के अस्तित्व के ज्ञान की ओर नही ले जा सकता (पृ० 199)।"

मानव-मानव के सम्बन्ध पर बल देना निश्चय ही फ्रायड के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक परिष्कृत सिद्धान्त है। क्या ऐसी बात नही है कि अपने आपको हम बहुत अधिक समझते है और अपने बारे मे इस ज्ञान से परेशान रहते है, लेकिन इसी रूप मे दूसरो को यह बताने को तैयार नही होते कि हम क्या है ? "अन्य" से मेरा यहा अभिप्राय पेशेवर श्रोता से नही है जिसे अपने रहस्यो को गुप्त रखने के लिए फीस दी जाती है, बल्कि, सुलीवन के महत्त्वपूर्ण अर्थ मे, अपने जीवन के साधारण अन्य लोगो से, सम्बन्धियो, मित्रो, सहयोगियो, तथा पडोसियो से है। यही से समाज की ओर "बहिर्गमन" और वैयक्तिक प्रामाणिकता निकलती है और जो भी इससे न्यून है वह केवल पवित्र आशा ही है।

II व्यक्ति अथवा नियम ?

उक्त सम्मेलन मे जो वातावरण पैदा हो गया था और पूर्वगामी भाग मे टारनीयर और बबर से उद्धृत अवतरणों की व्यापक ध्वनि के लिए निश्चय ही 'रहस्यमय' एक उपयुक्त शब्द है। और क्योकि पाश्चात्यो की अपेक्षा प्राच्यों ने रहस्यवाद को इतना आगे पहुचा दिया है कि यदि हम इन विषयो के बारे मे प्रामाणिक बात जानने के लिए उनकी ओर अग्रसर हो तो यह कोई आकस्मिक बात नही होगी। जैन, बौद्ध धर्म (Zen Buddhism) इस देश मे पहले ही प्रचार मे आ चुका है, और हाल ही मे क्रिश्चियन सैचुरी मे हार्पर एण्ड ब्रादर्स के एक विज्ञापन का शीर्षक था "पाश्चात्य पाठको के लिए प्राच्य धर्मों पर पुस्तकें।" कुछ सप्ताह पूर्व, एक सुखद सकेत के रूप मे, एक पुराने विद्यार्थी ने "द विज़डम

कालविनीय सिद्धान्त (अथवा टिलिक जिसे प्रोटैस्टेट सिद्धान्त कहते हैं) नास्तिकतावाद रहा है, जिसने निराशा, क्रोध और पागलपन को जन्म दिया है। अपनी वैज्ञानिक बाह्यपरकता तथा तर्क के प्राचुर्य के साथ फ्रायड ने यह ढोंग रचा कि बहुत कष्ट उठा कर, तथा अपने पापो तथा उद्धार दोनो का उत्तरदायित्व हमसे छीन कर वह हमे मुक्ति दिला रहा है। इसका परिणाम हुआ नैतिक विस्खलन तथा अव्यवस्था ? अब, एक पागल बच्चे की सी उत्सुकता मे, हम ऐसे एशियाई अमूर्त्त सिद्धान्तो के साथ जो आधुनिक अमूर्त्तवादी कला की ही तरह अर्थवान लगते है, खिलवाड कर रहे हैं। क्या हम अधिक से अधिक इतना ही कर सकते है ? शायद, लेकिन मेरा विश्वास है कि इस समस्या पर विचार करने का एक और उपाय भी है जिस पर हमे गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए, वह यह मान्यता है कि मानव व्यक्तित्व और सामाजिक प्रक्रिया के सम्बन्ध मे ऐसे नियम—सार्वभौम, सगत, ज्ञातव्य नियम—जो व्यक्तियो से ऊपर के है विद्यमान है। और यह कि अन्तिम रूप से दूसरो को और अपने आपको समझने की सम्भावना इन नियमो के रूप मे ही है।

आजकल हमे कुछ क्षेत्रो मे यह सुनने मे आ रहा है कि ईश्वर एक व्यक्ति है।[1] लेकिन व्यक्ति पर बल देते हुए हम आसानी से अपने अन्तर की ओर झुक

---

1 उदाहरण के लिए विलियम मन्दिर, कैन्टरबरी के आर्चबिशप की धर्म-शास्त्रीय स्थिति का वर्णन करते हुए, हौर्टर्न (1955) लिखते हैं "सर्वोत्तम ज्ञान ईसा मसीह के जीवन और व्यक्तित्व में मिलता है। यह ज्ञान उनके उपदेशों अथवा कर्मों के रूप में नहीं है बल्कि स्वय उन्ही के रूप में है । ईसाई धर्म नियमों अथवा विचारों की किसी व्यवस्था के प्रति समर्पण नहीं है बल्कि एक व्यक्ति के प्रति समर्पण है। ससार के धर्मों में से यह विलक्षण धर्म है" (पृ० 190)। शकालु व्यक्ति के लिए ईश्वर को व्यक्ति रूप मानना असगत होगा। और साधारण व्यक्ति भी जब भावात्मक सकट में हो तो उसके लिए भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता में सन्देह हो सकता है। ईसा की नैतिक शिक्षा के अनुरूप एक व्यक्ति रचनात्मक और सतोषप्रद रूप से अपने जीवन का पुनर्निर्माण कर सकता है। लेकिन ईसा के साथ "रहस्यवादी" ढग से मिलन का विचार, मेरे विचार में, सिवाय अनन्त धार्मिक विवेचन के और कोई मूल्य नहीं रखता। एक बार मैं पोलैंड के एक मनोवैज्ञानिक को (जो, अनुमानत साम्यवादी लगता था) प्रथम ईसाई चर्च सेवा में ले गया, कुछ देर तक शान्त रहने के बाद उसने पूछा, "और अब वे सब लोग क्या करने जा रहे हैं ?" मैं क्या कह सकता था ? सत्य यह है कि प्रोटैस्टेंट धर्मोपदेशों के प्रति कोई कोई व्यक्ति इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकता कि वह दूसरे सप्ताह फिर आए और अधिक धर्मोपदेश सुने। धर्मोपदेश पर जो बल दिया जाता है, उसे कम करना तथा क्रिया, कर्म, प्रयत्न पर बल देना कैथालिक चर्च की वह विशेषता है जिसका अनुमोदन करना ही चाहिए। (इसी प्रकार का बल मौर्मन तथा मुसलमान धर्मों में भी है।)

क्रियाओ ने मेरे विस्मय को उत्तेजित कर दिया है और पूर्व की अपेक्षा अब धर्म-निष्ठा को समझने के प्रयत्नो को अधिक चुनौती मिली है। विश्वास और भक्ति के रूप मे धर्म-निष्ठा पर ध्यान केन्द्रित करने के परिणामस्वरूप ही शायद मैं उस मार्ग से, जो अति उदार है तथा विशेप कर कार्ल बर्थ ने अपनाया है। दूर हटा हू। उनमे से बहुत से सत् शिक्षा और सत् सिद्धान्त तथा प्राचीन शास्त्रनिष्ठा और धर्म-निष्ठा के सम्बन्ध मे उत्कर्ष पर आ गए है।मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे ईसाई जीवन की परिभाषा सत् विश्वास अर्थात् ईसाई मत की परिभाषा सच्चे धर्म के रूप मे करने की ओर झुके है और दूसरी ओर वे वैयक्तिक सम्बन्धो की अपेक्षा विचारो की प्राथमिकता की ओर झुके प्रतीत होते है। ईसाई सिद्धान्त के धर्म-शास्त्रियो की अपेक्षा ईसाई अनुभव वाले धर्म-शास्त्रियो के साथ मुझे अधिक अपनापन दिखाई देता है। इसलिए बार्थ (Barth) और आजकल विस्तृत क्षेत्रो मे प्रचलित बाइबिल मूलक धर्मशास्त्र की अपेक्षा बशनैल (Bushnell) और मोरिस (Maurice), और कौलरिज (Coleridge) की ओर तथा एडवर्ड्स (Edwards) और स्क्लीयरमैकर (Schleiermacher) की ओर अपने आपको अधिक झुका हुआ पाता हू, यद्यपि कुछ सकोच के साथ। धर्मशास्त्र सम्बन्धी अपने ज्ञान को सक्षेप मे इस प्रकार प्रकट कर सकता हू मेरा विश्वास है कि स्क्लीयरमैकर के दिन प्रारम्भ की गई गति की दिशा मे बर्थ का सुधार आवश्यक था, लेकिन यदि यह सुधार उस सामान्य गति का अनुसरण करता है जिसका प्रतिनिधित्व सुवार्ता-मूलक, अनुभवपरक तथा आलोचनात्मक गति करती है तो यह अतिसुधार बन जाएगा और तब तो प्रोटैस्टेंट धर्म-शास्त्र चर्च के जीवन का प्रबन्ध अधिक कुशलता के साथ कर सकता है। आधुनिक धर्म-शास्त्र के अध्ययन से मुझे यह निश्चय हो गया है कि स्क्लीयरमैकर से ट्रौल्ट्स (Troeltsch) तक की गति इतनी मानवीय नही थी जितना कि इसे आलोचको ने बताया है। अस्तित्ववाद ने व्यक्ति, धार्मिक साक्षात्कार में आने वाले तत्त्व, ईश्वर और मनुष्य तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच मैं-तू सम्बन्ध, के प्रति मेरी चिन्ता का समर्थन किया है। आधुनिक धर्म-शास्त्र के क्षेत्र मे से केवल बल्टमन (Bultmann) इस अनुभवपरक तथा नैतिक उद्यम का प्रतिनिधित्व करता है।" (पृ० 249–250)।"

मैं ऐसा समझता हू कि यहा पर धर्म को धर्म-शास्त्रीय दम्भ तथा सामान्यीकरण मे पृथक् करने का तथा मानवीय और सामाजिक अनुभव और आवश्यकताओ, जो प्राकृतिक, वैज्ञानिक और मानवीय रुचि वाले व्यक्ति को आकर्षक

प्रतीत होती है, के साथ धर्म को जोडने का एक प्रयत्न मिलता है। यहा जीवन के ऐसे सिद्धान्तो को प्राप्त करने की आशा है जिनके विषय मे पुरोहित, धर्माचार्य और समाज-शास्त्री सहमत हो सकते है। यहा, जैसाकि नीबुर ने स्पष्टत कहा है, जिन्हे केवल धर्म-निष्ठा के आधार पर तथा उनसे वास्तविक जगत् मे निकलने वाले परिणामो की ओर कोई सकेत किए बिना, स्वीकार किया जाता है, उन धर्म-शास्त्रीय शपथ-वचनो को सीमित करने की अपेक्षा, अनुभवमूलक बनाने का, उन्हे उपलब्धियो के आधार पर प्रमाणित करने का एक प्रयत्न मिलता है।

इसलिए वैयक्तिक तथा अन्तर्वैयक्तिक तत्त्वो पर नीबुर का बल देना सुग्राह्य है—और स्वस्थ है—बशर्ते कि "अज्ञात के बादल" की अपेक्षा निश्चित सिद्धान्तो के रूप मे इसका अर्थ लगाया जाए तथा प्रयोग किया जाए। आज मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे विज्ञान और धर्म के समन्वय की आवश्यकता है और वैयक्तिक तथा अन्तर्वैयक्तिक क्षेत्र ही वे क्षेत्र है जहा से इसका प्रारम्भ होना चाहिए। लेकिन यदि हम बबर, टारनीयर तथा अन्य अस्तित्ववादियो के आकार-हीन कथनो से ही सतुष्ट हो जाते है अथवा कुछ एशियाई दर्शनो के विरोधी तर्कों और नैतिक शून्यवाद मे भटक जाते है तो यह उद्यम सफल नही होगा। आधुनिक समाज-शास्त्रियो (देखो मौरर, 1961) और स्पष्ट चिन्तन वाले तथा साहसी धार्मिक नेताओ जैसे नीबुर, दोनो को ही यह एक महान् चुनौती है।

III पाप और पापो के विषय मे कुछ असम्बद्ध बाते

वास्तव मे, यह स्पष्ट है कि नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे सिद्धान्त पर आने के मार्ग मे जो कठिनाइया हैं वे भयावह है। लूथर से लेकर आज तक एक ऐसा सूक्ष्म लेकिन प्रबल प्रोटैस्टेट सिद्धान्त है जो इस क्षेत्र मे लागू होने वाले सगतिपूर्ण और वस्तुपरक सिद्धान्त का विरोधी है। हाल ही मे मैंने एक सुप्रज्ञ सुशिक्षित युवा धर्माचार्य का एक धर्मोपदेश सुना जिसमे सविस्तर अवतरण यहा प्रस्तुत है

> "सर्वप्रथम, हमे यह समझने की आवश्यकता है कि 'हम पापी हैं' इस कथन का क्या अर्थ है। सामान्यत 'पापी' हम उस व्यक्ति को समझते है जिसने कोई नियम तोडा हो अथवा कानून भग किया हो, जो स्वीकृत नैतिक और सामाजिक मानदण्ड के अनुरूप आचरण न करता हो ।"
>
> लेकिन बाइबिल मे पाप का यह अर्थ नही है। किसी नियम का आकस्मिक तोडना पाप नही है, लेकिन वैयक्तिक सम्बन्ध का सकल्प-

पूर्वक तोडना पाप है। हम नियमो के विरुद्ध पाप नही करते, अपितु व्यक्तियो के विरुद्ध पाप करते हैं। बाइबिल का ईश्वर अपने लोगो से ऐसा सम्बन्ध नही रखता है जैसाकि न्यायाधीश अपराधी से रखता है, बल्कि ऐसा सम्बन्ध रखता है जैसाकि पिता अपने उस पुत्र से रखता है जिसने उसके प्यार की परवाह न की हो और दूर देश मे भटक गया हो। गत सप्ताह हम जिस विषय पर बात कर रहे थे वह पाप का विषय था। यह वह दशा है जिसमे लोग छद्मवेश मे एक-दूसरे से मिलते है, मानो उन्हे भय हो कि उनके वास्तविक रूप को कोई पहचान न ले। पाप तब पैदा होता है जब हम सगतिहीनता और सुरक्षा की दीवारें खडी कर लेते हैं जिससे कि अपने समान दूसरो को प्यार करने की लोगो की माग से बचा जा सके। व्यक्ति को वस्तुवत् समझना—वास्तविक सच्चा मानवीय सम्पर्क स्थापित करने की अपेक्षा मनुष्यो को अपने लाभ के लिए प्रयोग करना, पाप है। पाप एक ऐसा दिखावटी कर्म है जो अनुमति देता है कि हम हँसते और मुस्कराते रहे और थोडी देर के लिए 'सम्पर्क' मे आने वाले व्यक्ति को समझे बिना ही उसके साथ तिथि निश्चित करके मनो-विनोद करते रहें। क्या आप कभी अन्य व्यक्ति से बात करते रहे है और फिर आपने यह महसूस किया है कि आपने उसकी तो कोई भी बात नही सुनी ? क्या आप किसी अन्य व्यक्ति के साथ रहे है और उसके साथ मित्रता की क्रियाओ मे से अथवा विवाह सम्बन्धो मे से गुजरे है और फिर अचानक आपको यह महसूस हुआ है कि आप तो उसे जानते ही नही है ?

और अब अपने उत्तरदायित्व को निरर्थक समझ कर त्यागना सरल नही है, क्या ऐसा हो सकता है ? हम शायद धर्मोपदेशो का उल्लघन कभी न करें, लेकिन हमे यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्तियो के साथ वस्तुवत् व्यवहार करने का क्या अर्थ है। हम अपने कवियो, नाटककारो, समाज-शास्त्रियो, दार्शनिको और अपने बीटनिको की बाते सुनें। वे सब एक ही स्वर मे बोलते है और पूछते है 'हम किसी श्याम-पट अथवा झाडी से रगडे जाने के समान एक-दूसरे से रगडे जाने को क्योकर रोक सकते हैं ? एक-दूसरे के प्रति मानव होना हम कैसे प्रारम्भ कर सकते है ?' इस प्रश्न मे यह प्रकट होता है कि हम चाहे किसी भी नाम से पुकारें, पाप आधुनिक मनुष्य के लिए एक वास्तविकता है।"

हमे असली बात यहा उपलब्ध होती है। गन्दे, नीच, कपटपूर्ण, आत्म-विरोधी और समाज-घातक दुष्कृत्य जो हम करते है, वे यहा पाप का अर्थ नही देते। यह इतना सरल नही हो सकता— अन्यथा हमे इसे समझने के लिए इतने

उपदेशो और इतनी व्याख्या की आवश्यकता न होती। नही, यह तो अत्यधिक जटिल बात है जिसकी गहराई तक व्यावसायिक धर्म-शास्त्री ही पहुच सकते है। और वह साधारण गृहस्थ जनो को उपदेश और शिक्षा देता है, भले ही, जैसाकि हम देख चुके है यह बात उसके भावात्मक सकट मे ग्रस्त होने पर उसके लिए सहायक प्रतीत नही होती—ऐसा अनुमान उसके धर्म-निरपेक्ष चिकित्सक के पास जाने की उत्सुकता पर आधारित है (देखो अध्याय 11)।

पापो और पाप के इस भेद पर लूथर ने सुधार के दिनो मे कैथालिक चर्च की विपरीत धारणा पर कुठाराघात करते हुए बल दिया था। लेकिन नवीन सहिता (New Testament) मे ईश्वरदूत पाल के लेखो मे इसकी गहरी जडें हैं, और यह कोई आकस्मिक बात नही है कि जिस धर्मोपदेश से उपर्युक्त अवतरण लिया गया है वह **ऐफेसियन को लिखे गए पत्र** पर आधारित था, जिसमे पाल की सुपरिचित धर्म-निष्ठा द्वारा औचित्य स्थापित करने की बात निम्नलिखित रीति से प्रतिपादित की है

> "लेकिन ईश्वर ने, जो दया का सागर है, हमारे प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण, अपने अनधिकार प्रवेश के परिणामस्वरूप हमे मरे हुओ को भी ईसा के साथ जीवित कर दिया (अनुकम्पा से तुम्हे बचाया है), और हमे उसके साथ ऊचा उठाया और ईसा मसीह मे अलौकिक स्थानो मे उसके साथ हमे बैठाया जिससे कि आने वाले वर्षों मे ईसा मसीह मे हमारे प्रति दया से प्लावित हो अनुकम्पा का अपरिमित भण्डार प्रकट कर सके। क्योकि अनुकम्पा के परिणामस्वरूप ही धर्म-निष्ठा के द्वारा आप बच सके हैं, यह ईश्वर का वरदान है—यह हमारे कर्मों का परिणाम नही है कि आदमी आत्म प्रशसा करने लगे। हम तो उसकी रचनाए है, जो ईश्वर ने अच्छे कर्मों के लिए पहले से ही तैयार की हुई है, ताकि हम उनमे प्रवेश कर सके (2 4–10)।"
>
> "लेकिन तुम जो अब तक बहुत दूर थे उन्हे फिर ईसा के रक्त मे निकट ले आया गया है। क्योकि वह हमारी शान्ति है, जिसने हम दोनो को एक बना दिया है, और आदेशो और अध्यादेशों के नियमो को अपने मास मे भग करके शत्रुता की विभाजक दीवारो को जिसने गिरा दिया है, वह अपने अन्दर दो व्यक्तियो को एक व्यक्ति का रूप दे सकता है और इस प्रकार शान्ति स्थापित कर सकता है और औरा के द्वारा एक ही शरीर मे हम दोनो को ईश्वर के प्रति एक करना और इस प्रकार शत्रुता को सदा के लिए समाप्त कर सकता है (2 14–16)।"

यहा, "ईश्वर और को प्यार करो और साहसपूर्वक पाप करो" (क्योकि इससे पाप करने से पूर्व ही पापो से मुक्ति मिल जाती है) और कालविन के पूर्वनियति के सिद्धान्त ("जो ईश्वर ने पहले ही बनाया होता है") के लिए लूथर को गूढ निषेधाज्ञा को स्पष्टत बाइबिल का समर्थन प्राप्त है। पाल (इफेसियन्स 3 4) यह स्वीकार करते हैं कि यह सब "ईसा का ही रहस्य है" लेकिन वह यह भी मानता है कि इस सम्बन्ध मे उसे "अन्तर्दृष्टि" प्राप्त है। क्या ऐसा भी हो सकता है कि यह रहस्य उसकी ही रचना हो और वह शायद इसे समझते हो, लेकिन यह वरदान बहुत कम लोगो को मिला है।

शायद यह आश्चर्य की बात नही है कि लाइड सी डागलस, जब धर्म-सभा के धर्माचार्य थे, और उपन्यासकार नही बने थे पाल को "टार्सस का मध्य-कालीन रहस्यवादी" कहते थे। यद्यपि उनके ये मधुर शब्द शताब्दियो से चले आ रहे है लेकिन निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि उनका कुछ अर्थ भी है। पाल के अपने समय मे ही, "जेम्स के लेख" के लेखक के रूप मे तीव्र आलोचक पैदा हो गया था। पाल ने 88 पृष्ठो मे अथवा नवीन सहिता के एक-तिहाई भाग मे जो कहा था उसका खण्डन करने के लिए इसके साढे तीन पृष्ठ पर्याप्त थे। जो इस प्रकार है

> "मेरे बन्धुओ, इसका क्या लाभ, कि एक मनुष्य मे आत्मनिष्ठा तो हो लेकिन उसे कोई काम न हो ? क्या धर्म-निष्ठा उसे बचा सकती है ? यदि आपके किसी भाई या बहिन के पास कपडे न हो, भोजन न हो, और आपमे से कोई उनसे कहे कि, 'शान्तिपूर्वक रहो, सुखी रहो,' तो इसका क्या लाभ ? इसलिए अकेली धर्म-निष्ठा, जिसके साथ कर्म न हो मृत है। (2 14–17)।"
>
> "अपने कर्मों से पृथक् करके अपनी धर्म-निष्ठा दिखाइये, और मैं अपने कर्मों से अपनी धर्म-निष्ठा दिखाऊगा (2 18)।"
>
> "आप यह देखते हो कि एक व्यक्ति अपने कर्मो से ही अपना औचित्य प्रकट करता है, केवल धर्म-निष्ठा से नही। और क्या इसी प्रकार 'राहब' वेश्या के पास जब देवदूत आए तो उसने अपने कर्मों के द्वारा ही अपना औचित्य सिद्ध नही किया था और उसने उन्हे दूसरे रास्ते से बाहर निकाल दिया था ? क्योकि जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर मृत है उसी प्रकार कर्म के बिना धर्म-निष्ठा मृत है (2 24–26)।"

रूढिवादी उदारपन्थी और श्रुति-अनुयायी कभी-कभी बाइबिल की आन्तरिक सगति के ऊपर बहुत बल देते हैं। इस बात को समझने के लिए बाइबिल

का पण्डित होना आवश्यक नही है कि जेम्स का पाल के साथ सीधा और प्रकट विरोध था। और के० डब्ल्यू० लाथर क्लार्क बाइबिल की अपनी सक्षिप्त लेकिन प्रामाणिक टिप्पणी मे लिखते हैं "ईसाइयो को धर्म के क्षेत्र मे वास्तविकता के स्तर पर लाने के लिए प्रेरणा (जिसने जेम्स के लेख को प्रेरित किया) प्रदान की गई थी, (इसके लेखक ने) सन्त पाल के उपदेशो की रिपोर्ट का कुछ व्यक्तियो के मन पर दूषित प्रभाव देखा और उसका विरोध करने की कामना की" (पृ० 915)।[2]

यद्यपि कैथालिक चर्च ने बहुत सी बातो को रहस्य तथा सभ्रमपूर्ण बना

---

2 इस लेख के लिखने के बाद कालविनीय मतानुयायी एक पादरी का पत्र मुझे प्राप्त हुआ, जो इस प्रकार है "आपके उद्घाटन भाषण (देखो अध्याय 8) से लेकर आज तक मैं ऐसी बात की खोज में भटकता रहा हू जिसका उत्तर शायद आप दे सकते हैं। यदि मुझे ठीक स्मरण है, आपका विश्वास यह था कि हम अनेक बार क्षमा को अति सरल बना देते हैं। मनुष्य स्वय ही अपने आपको पाप में फँसाता है। और स्वय ही उससे निकलने का मार्ग उसने बनाना है। पुराने ढग के रुदनकारियों के समूह की ओर तुम्हारे सकेत ने मेरे मन पर गुप्त प्रभाव डाला। मगर, क्या इसका कारण यह हो सकता है कि हमने क्षमा प्रदान से प्रतिदान स्वरूप प्रायश्चित्त को पृथक् कर दिया है। मेरा भाव यह है कि हम यदि यह उपदेश देते रहे हैं, जो मेरे विचार में बाइबिल की शिक्षा है, ईसा ने पाप के प्रति प्रदर्शित ईश्वर के प्रकोप को स्वय सहन किया, वह मेरे पापों के लिए दण्डित हुआ, तो हम इसे सस्ता और सरल प्रायश्चित्त नहीं समझेंगे। मैं स्वय अपने पापों का प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। उसने इसकी कीमत चुका दी है। जो दण्ड मुझे मिलना था वह उसने सहा, और धर्म-निष्ठा के आधार पर उसके साथ तादात्मीकरण का यह अर्थ है कि मेरे पापों के लिए दण्ड दिया जा चुका है और अब मैं स्वच्छ अन्त करण वाला होने का दावा कर सकता हू।" यहा उस महान् विचार का सार है जिसे सुधारवादी धर्म-शास्त्रियों ने विदेशों में फैलाने का प्रयत्न किया। यदि एक व्यक्ति प्रोटैस्टेण्टवाद के वर्तमान स्तर और भविष्यत् से आज, चार सौ वर्ष बाद, सतुष्ट है, तो उसे चाहिए कि वह इस अस्पष्ट और रक्तरजित सिद्धान्त को अपनाए। लेकिन बढते हुए एक अल्प-सख्यक वर्ग (अथवा, क्या यह वास्तव में, अब बहुसख्यक वर्ग है ?) के लिए यह पर्याप्त नहीं होगा। अनेक धर्माचार्यों के मच से दिए गए भाषणों और भावात्मक सकट आने पर उनके व्यवहार में जो भेद रहता है उस पर मै इस भाषणमाला के प्रथम भाषण में टिप्पणी कर चुका हू। और इस चर्चा में कुछ क्षण बाद, क्षमा के बहुचर्चित प्रत्यया की ओर भी, कम से कम सक्षेप से सकेत करू गा। लेकिन यहा पर (अथवा इस पुस्तक में अन्यत्र भी कहीं), रोग-निवारण शक्ति के रूप में, त्याग के सम्पूर्ण प्रत्यय की क्रम-बद्ध व्याख्या करने का प्रयत्न नही किया गया है। यद्यपि ईसा ने (रेगिस्तान में खिसकने, जो वह सुगमता से कर सकता था, की अपेक्षा, अपने दृढ विश्वासों के लिए क्रौस पर आत्म-बलि देना स्वीकार करना) आत्म-बलिदान किया था, मैं ऐसा समझता हू कि इसके इर्द-गिर्द नितान्त ही आधार-शून्य वाद विकसित हो गया है जो

दिया है, पाल और जेम्स के मतभेद के सम्बन्ध मे इसके विचार बिल्कुल स्पष्ट और निश्चय ही जेम्सवादी हैं। इसने शुभ कर्मों पर बल दिया है (पाप की ओर सकेत किये बिना ही पाप कर्मों को सुधारने के साधन के रूप मे) और एक ऐसे 'तुलनपत्र' को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है जिस पर पाप कर्मों और पुण्य कर्मो का लेखा-जोखा बीजगणित के रूप मे लिखा होता है। जैसाकि टिलिक (1959) ने पूर्वोद्धृत अपने धर्मोपदेश मे कहा है

> "हमारा नैतिक तुलन-पत्र इतना बुरा नही है जितना वह इन कर्मों के बिना होगा ? और क्या आपने अत्यन्त दुष्टतापूर्ण धर्मोपदेशक देखा है जो अपने ही आचरण मे धनात्मक नैतिक तुलन-पत्र का विश्वास नही रखता ? (पृ० 17)।"

लेकिन पाल के लेखो और प्रोटैस्टेण्ट धर्म-शास्त्र मे सामान्य रूप से, एक भिन्न प्रकार की टिप्पणी मिलती है जो यह है कि प्रतिनिधि के द्वारा किए गए प्रायश्चित्त (ईसा का क्रौस पर आत्म-बलिदान) के रूप मे ईश्वर ने सदा के लिए सभी व्यक्तियो के तुलन-पत्र को धो दिया है, इसके लिए आवश्यकता केवल इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति यह कहे, "मैं विश्वास करता हू—।" "ईसा को अपना व्यक्तिगत उद्धारक मानने से" हमारे जीवन से पाप तो समाप्त हो गया है और हम आगे के लिए "सुरक्षित" हैं। इसी बात को डीट्रिक बानहाफर ने अपनी पुस्तक 'शिष्यत्व का मूल्य' मे सस्ती अनुकम्पा के सिद्धान्त की, जो ईसाई जगत् के लिए अशोभनीय है और जो जन-वाद का विषय बन गया है, निन्दा की है। यह वह सिद्धान्त है जो यहूदी-ईसाई नीति के गम्भीर प्राकृतिक ज्ञान की निन्दा करता है—और जो अपने समय की सबसे गम्भीर वैयक्तिक समस्या—मानसिक रोग—का सफलतापूर्वक सामना करने से रोकता है।

IV विशेष भेद-सहित पाप-स्वीकृति की ओर

इस प्रकार वर्तमान कष्टावस्था की जड यह है कि प्रोटैस्टेण्टवाद ने ऐसा धर्म-शास्त्र अपनाया जिसने वैयक्तिक अपराध की समस्या को धर्म के क्षेत्र से बाहर रख दिया और इस प्रकार सामान्य रूप से धर्मनिरपेक्ष मनोविज्ञान को, और विशेष कर फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद को, प्रोत्साहित किया। लेकिन विश्लेष-

---

ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत करता है और कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में हमारे वर्तमान ज्ञान पर पर्दा डालता है। मगर यह विषय इतना जटिल, और महत्त्वपूर्ण है कि इसे मनोविकार-विज्ञान की एलन स्मारक सस्था मैकगिल विश्वविद्यालय मौन्ट्रैल में कुछ दिनों बाद दिए जाने वाले अपने भाषण के लिए सुरक्षित रखा है। बाद मे पृथक् रूप मे इसे प्रकाशित किया जाएगा।

णात्मक सिद्धान्त और व्यवहार ने हमारे शत्रुओ को कम करने की अपेक्षा उन्हे और प्रकुपित कर दिया है, और हम फिर धर्म की ओर एक नवीन आवश्यकता और आशा के अनुभव के साथ देखने लगे है। हमने यह स्वीकार करने का यत्न किया है कि व्यक्तित्व का विकार मूलत एक रोग—मानसिक रोग—है, लेकिन अब हम उत्तरोत्तर इस मत के पक्ष मे होते जा रहे हैं कि यह समस्या मूलत नैतिक है, और अपराध, जो मनोरोग-चिकित्सा का केन्द्रीभूत तत्त्व है, वास्तविक है, मिथ्या नही, और इस समस्या पर नैतिक दृष्टि से अभियान सफल हो सकता है। हमारी आशा थी कि हमे व्यक्तिगत बुराई का कोई सरल हल प्राप्त हो जाएगा, और हमने 'सस्ती अनुकम्पा' के सिद्धान्त (धर्म के क्षेत्र मे) और पाप और अपराध की वास्तविकता को अस्वीकार करने के सिद्धान्त (मनोविश्लेषण के क्षेत्र मे), दोनो का ही प्रयोग करके देख लिया है, लेकिन कोई भी कार्यकारी नही हुआ। और इसलिए आज इस निर्णय के पक्ष मे अधिकाधिक लोग होते जा रहे हैं कि 'चिकित्सा अथवा मुक्ति' तो भारी मूल्य चुका कर ही सम्भव हो सकती है। *और यह मूल्य आत्म-ज्ञान, गम्भीर पश्चात्ताप और आमूल परिवर्तित* जीवन-मार्ग के रूप मे चुकाना है।

गुरु के कान मे पाप स्वीकार करने का आदेश साधारण प्रार्थना के प्रोटैस्टेण्ट धर्म-ग्रन्थ मे मिल सकता है, और लूथरवाद के अनेक रूपो मे भी समान उपदेश मिलता है। लेकिन इन सस्थाओ मे पाप-स्वीकृति की प्रथा समाप्त होती जा रही है, और अति प्रतिक्रियावादी प्रोटैस्टेण्ट वर्ग मे पाप-स्वीकृति को पोप—कैथालिक पोप—का अनुशासन समझा जाता है और उससे प्लेग की तरह बचा जाता है। धर्माचार्य परामर्श के प्रचलन मे, पाप-स्वीकृति को रूपान्तर से कच्चे मन से स्वीकार किया गया है। मनोरोग-चिकित्सा के धर्म-निरपेक्ष रूपो से प्राप्त विचारो और तकनीक से यह प्रचलन इतना भरा-पूरा है कि इसके परिणाम नितान्त ही अस्पष्ट रहे है। मेरे विश्वास के अनुसार प्रोटैस्टेण्ट चर्च को इस दिशा मे अपने प्रयत्नो को फिर जीवित करना चाहिए।

हमे याद रखना चाहिए कि लूथर ने पाप-स्वीकृति की प्रथा का विरोध नही किया, लेकिन इसके दुरुपयोग का विरोध किया था। मगर वर्षो से यह मान्यता रही है कि इस दुरुपयोग को दूर करने का एकमात्र उपाय इस प्रथा को समाप्त करना ही है। यह तर्क तो ऐसा है जैसे यह तर्क देना कि अयोग्य और अविवेकी व्यक्तियो के हाथ मे शल्य-क्रिया का दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए शल्य-क्रिया को ही समाप्त कर देना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि कोई ऐसा साधन तलाश करना चाहिए जिससे मानव वर्तमान मे प्राप्त साधनो की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक ढग से व्यक्तिगत अपराध की समस्या का हल पा सके। और सकेत ये हैं कि नैतिक और धार्मिक सदर्भ मे पाप-स्वीकृति इस दिशा मे

प्रारम्भ करने का बिन्दु है। अपनी पुस्तक, "सह्-अस्तित्व" (Life Together) में डीट्रिक बानहाफर ने "पाप-स्वीकृति और एकीकरण" विषय के लिए अन्तिम अध्याय निर्धारित किया है। यहा वे कहते हैं

"एक-दूसरे के सामने अपने दोष स्वीकार करो" (Jas 5 16)। जो अपने पाप के साथ अकेला होता है, वह वास्तव मे अकेला होता है। यह हो सकता है कि ईसाई लोग, सामूहिक पूजा, सभागत प्रार्थना, और सेवा के क्षेत्र मे सहभाव के होने पर भी अपने-अपने एकान्त मे ही रहे। सहभाव के अन्तिम प्रादुर्भाव के उदित न होने का कारण यह है कि यद्यपि वे एक धर्म मे आस्था रखने वाले और एक जैसा भक्ति भाव रखने वाले हैं तो भी वे अभक्त और पापी के रूप मे सह-भाव नही रखते। पवित्र सह-भाव पापी होने की आज्ञा नही देता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने आपसे तथा अपने अन्य साथियो से अपने पापो को छिपाना चाहिए। हम पापी होने का साहस नही करते। जब सच्चरित्र समझे जाने वाले व्यक्तियो मे कोई पापी निकल आता है तो बहुत से ईसाई लोग आशा से अधिक घबरा जाते हैं। इस प्रकार हम अपने पाप के साथ अकेले ही रहते है और मिथ्या और दम्भ का व्यवहार करते रहते है। वास्तविकता यह है कि हम पापी है • (पृ० 110)।

पाप-स्वीकृति से सामुदायिक जीवन का प्रादुर्भाव होता है। पाप की मुख्य आवश्यकता यह है कि मनुष्य अपने आपमे ही रहे। यह उसे समाज से हटा देता है। जितना एक व्यक्ति एकाकी होगा, उस पर पाप का उतना ही विनाशकारी प्रभाव होगा, और वह उसमे जितना अधिक ग्रस्त होगा, उतना ही उसका एकान्त अधिक विनाशकारी होगा। पाप अज्ञात रहना चाहता है। यह प्रकाश से बचता है। अपने अव्यक्त रूप मे व्यक्ति के सम्पूर्ण अस्तित्व को यह विषाक्त कर देता है। यह पवित्र व्यक्तियो के समुदाय मे भी हो सकता है। पाप-स्वीकृति मे शुभ-वार्ता का प्रकाश हृदय के एकान्त अन्तस्तल और अन्धकार को वेध जाता है। पाप को प्रकाश मे लाना ही चाहिए। अव्यक्त पाप को सबके सामने व्यक्त करना चाहिए और स्वीकार करना चाहिए। जो भी कुछ रहस्य और गुप्त है उसे प्रकट करना चाहिए। जब तक पाप को खुल कर स्वीकार नही किया जाता, तब तक यह कठिन सघर्ष चलता ही रहता है। लेकिन परमात्मा पीतल के दरवाजो और लोहे की सलाखो को तोड देता है (Ps 107 16) (पृ० 112)।"

अपनी पुस्तक रोमन "कैथालिकवाद की पहेली" (The Riddle of Roman Catholicism) मे जारोस्लोव पैलिकन लिखता है

> "पश्चात्ताप, पाप-स्वीकृति और सतोष—इन तीन चरणो की व्यवस्था के द्वारा चर्च को अनुतापी की वास्तविक आवश्यकताओ के लिए शुभ वार्ता की शमनकारी शक्ति का प्रयोग करने का एक सुअवसर प्राप्त होता है। सच्चे धर्माचार्य के हाथो मे तप की पवित्रता ईश्वरीय अनुकम्पा को सार्थक बना देती है और साथ-साथ अपने पाप के प्रति व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी कम नहीं होता। यह "आत्माओ की चिकित्सा" का वास्तव मे उद्धारक उपाय है, इसके लाभो को प्रोटैस्टेण्टवाद ने बिना सोचे समझे त्याग दिया है और इसका स्थान एक धर्माचार्य के साथ मित्रतापूर्ण वार्ता नही ले सकती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अपने पापो की स्वीकृति उचित है इससे व्यक्ति की अपने भावो को स्वच्छ करने और यह जानने, कि उसने जो कुछ किया है उसके होने पर भी परमात्मा ने उसे क्षमा कर दिया है, का अवसर प्राप्त होता है। चिकित्सा के लिए इसका अत्यधिक मूल्याकन करना कठिन है (पृ० (120–121)।"

और मीहल एट अल० (1958) अपनी पुस्तक 'तो मानव क्या है ?' (What, Then, Is Man?) मे समान स्थिति अपनाते है। वे कहते है

> "पाप-स्वीकृति का एक पहलू जिसकी ओर धर्माचार्य कार्य-कलाप मे विशेष ध्यान नही दिया गया अथवा जिसकी उपेक्षा की गई है वास्तविक पापो की विस्तार-पूर्वक स्वीकृति है। लूथर-पन्थी बहुत से पादरी अपने चर्च के सदस्यो की आवश्यकताओ की ठीक-ठीक पूर्ति नही कर पाते क्योकि जब वे सामान्य रूप से पाप-स्वीकृति मे भाग लेते है तो इसी से सतुष्ट हो जाते है और जिस प्रकार लूथर की प्रश्नावली मे अथवा लूथर-पन्थी धर्म-शास्त्र मे निर्देशन किया गया है उसके अनुसार विशेष पाप-स्वीकृति के स्वास्थ्यप्रद अनुष्ठान मे भाग नही लेते। इसका परिणाम यह हुआ है कि पाप-स्वीकृति का कर्म धार्मिक अनुष्ठान नही रहा। पढे-लिखे व्यक्ति विशेष कर ऐसा अनुभव करते हैं कि उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति ईश्वर की वाणी की अपेक्षा मनोविश्लेषण से अधिक अच्छी तरह होती है। हमारे कर्म-काण्डी धर्माचार्यो को चाहिए कि वे शुभ वार्ता की शमनकारी शक्ति तथा अपने चर्च के सदस्यो की आत्म-निर्भरता की परीक्षा करें।

यदि हमारे समाज मे ईसाई-धर्म से असम्वद्ध मनोरोग-चिकित्सा का अधिक प्रचार हुआ और हमारे अपने लोगो मे इसकी अधिक मान्यता बढी है तो यह धर्माचार्य सुरक्षा कार्य को गम्भीरतापूर्वक न लेने का ही परिणाम है। इस पर आवश्यकता से अधिक बल तो नही देना चाहिए, क्योकि कही ऐसा न हो कि धर्माचार्य अपने आपको धर्म-सम्बन्धी नैयायिक आयोग का प्रधान समझ बैठें। लेकिन अनुतापी लोगो का भी एक अनुशासन होना चाहिए, जिसके सामने प्रत्येक ईसाई को झुकना चाहिए। आत्म-ज्ञान उसी सीमा तक होता है जिस सीमा तक व्यक्ति अपने मन की बात दूसरो को बताता है अथवा बता सकता है। इसलिए पाप-स्वीकृति की क्रिया को निश्चित अथवा विस्तृत करने का चिकित्सा की दृष्टि से बडा महत्त्व है (पृ० 68-69)।"

यह आकस्मिक बात है कि उपरि-उद्धृत तीनो लेखक लूथक-पन्थी है। लेकिन कुछ अन्य प्रोटैस्टेण्ट सस्थानो के लोगो ने भी ऐसी ही बाते कही है, कुछ तो उन लेखको से पहले के है जिनकी समीक्षा यहा की है। उदाहरण के तौर पर, एच० ई० फास्डिक की पुस्तक 'वास्तविक व्यक्ति बनने पर' (On Being a Real Person) की समीक्षा मे हालमैन (1943) ने लिखा है

"1927 मे डा० फास्डिक ने, जो उस समय पार्क एवेन्यू बैप्टिस्ट चर्च, न्यूयार्क शहर के धर्माचार्य थे, चर्चों के वृहत् न्यूयार्क सघ के सामने एक भाषण दिया। इसकी तत्काल प्रतिक्रिया मे देश के सभी भागो के प्रोटैस्टेण्ट धर्माचार्यों ने या तो रोष प्रकट किया या उसका सुखद समर्थन किया। डा० फास्डिक ने कहा

"हम अर्वाचीन प्रोटैस्टेण्टपन्थी कुछ बातो मे असफल रहे है। हमारे कैथालिक बन्धुओ ने पाप-स्वीकृति की परम्परा को बनाए रख कर मानव-सेवा के एक मच से हमे तो बिल्कुल ही हटा दिया है ।

'यद्यपि मैं बैप्टिस्ट हू, मैं छ वर्ष तक पाप-स्वीकृति का सस्कार कराता रहा। मेरा एक कार्यालय है जहा वे व्यक्ति जो अपने आपको आध्यात्मिक दृष्टि से रुग्ण और मानसिक दृष्टि से विक्षुब्ध समझते है, अपनी समस्या लेकर मेरे पास आ सकते हैं। मैं उनकी धार्मिक रीति से देखभाल क्यो न करू ? आगे भी ऐसे स्थान के बिना नही रहूगा जहा लोग एकान्त मे मेरे से मिल सकें। प्रति सप्ताह मैं इतने व्यक्तियो से मिलता हू जितनो मे एक पुजारी मिलता हो। वे असतुलित मन वाली रुग्ण आत्माए है जिन्हे धर्म के सरक्षण की आवश्यकता है' (पृ० 214)।"

यदि हमारे समाज मे ईसाई-धर्म से असम्बद्ध मनोरोग-चिकित्सा का अधिक प्रचार हुआ और हमारे अपने लोगो मे इसकी अधिक मान्यता बढी है तो यह धर्माचार्य सुरक्षा कार्य को गम्भीरतापूर्वक न लेने का ही परिणाम है। इस पर आवश्यकता से अधिक बल तो नही देना चाहिए, क्योकि कही ऐसा न हो कि धर्माचार्य अपने आपको धर्म-सम्बन्धी नैयायिक आयोग का प्रधान समझ बैठें। लेकिन अनुतापी लोगो का भी एक अनुशासन होना चाहिए, जिसके सामने प्रत्येक ईसाई को झुकना चाहिए। आत्म-ज्ञान उसी सीमा तक होता है जिस सीमा तक व्यक्ति अपने मन की बात दूसरो को बताता है अथवा बता सकता है। इसलिए पाप-स्वीकृति की क्रिया को निश्चित अथवा विस्तृत करने का चिकित्सा की दृष्टि से बडा महत्त्व है (पृ० 68-69)।"

यह आकस्मिक बात है कि उपरि-उद्धृत तीनो लेखक लूथक-पन्थी है। लेकिन कुछ अन्य प्रोटैस्टेण्ट सस्थानो के लोगो ने भी ऐसी ही बातें कही है, कुछ तो उन लेखको से पहले के है जिनकी समीक्षा यहा की है। उदाहरण के तौर पर, एच० ई० फास्डिक की पुस्तक 'वास्तविक व्यक्ति बनने पर' (On Being a Real Person) की समीक्षा मे हालमैन (1943) ने लिखा है

"1927 मे डा० फास्डिक ने, जो उस समय पार्क एवेन्यू बैप्टिस्ट चर्च, न्यूयार्क शहर के धर्माचार्य थे, चर्चों के वृहत् न्यूयार्क सघ के सामने एक भाषण दिया। इसकी तत्काल प्रतिक्रिया मे देश के सभी भागो के प्रोटैस्टेण्ट धर्माचार्यों ने या तो रोष प्रकट किया या उसका सुखद समर्थन किया। डा० फास्डिक ने कहा

"हम अर्वाचीन प्रोटैस्टेण्टपन्थी कुछ बातो मे असफल रहे है। हमारे कैथालिक बन्धुओ ने पाप-स्वीकृति की परम्परा को बनाए रख कर मानव-सेवा के एक मच से हमे तो बिल्कुल ही हटा दिया है ।

'यद्यपि मैं बैप्टिस्ट हू, मैं छ वर्ष तक पाप-स्वीकृति का सस्कार कराता रहा। मेरा एक कार्यालय है जहा वे व्यक्ति जो अपने आपको आध्यात्मिक दृष्टि से रुग्ण और मानसिक दृष्टि से विक्षुब्ध समझते हैं, अपनी समस्या लेकर मेरे पास आ सकते है। मैं उनकी धार्मिक रीति से देखभाल क्यो न करू ? आगे भी ऐसे स्थान के बिना नही रहूगा जहा लोग एकान्त मे मेरे से मिल सकें। प्रति सप्ताह मैं इतने व्यक्तियो से मिलता हू जितनो से एक पुजारी मिलता हो। वे असतुलित मन वाली रुग्ण आत्माए हैं जिन्हे धर्म के सरक्षण की आवश्यकता है' (पृ० 214)।"

प्रोटैस्टेण्ट चर्चो मे पाप-स्वीकृति के सस्कार की ओर पुनरागमन की आवश्यकता के प्रति जागरूक होने का क्या परिणाम हुआ है ? जैसाकि हम जानते है, फास्डिक की प्रारम्भिक रुचिया फ्रायडीय मनोविश्लेषण से लिए गए विचारो से और कार्ल रौजर्स की परामर्श-विधियो से अत्यधिक प्रभावित धर्माचार्य परामर्श-प्रचलन मे अत्यधिक समाहित थी। इस प्रचलन मे बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है। और यह बात भी महत्त्वहीन नही है कि अब बानहाफर, पैलिकन, और मीहल सरीखे व्यक्ति भी पाप-स्वीकृति की चिकित्साकारी और उद्धारक क्षमता मे विश्वास करके इस विषय मे चिन्ता प्रकट करने लगे हैं। मगर, इसके साथ कुछ गम्भीर तथा कुछ हद तक उचित आरक्षण भी है। हमने सदा ही अपने सामने यह तथ्य रखा है कि कैथालिक चर्च मे पाप-स्वीकृति का प्रयोग बहुत समय से होता रहा है, और अब भी होता है, जिसके परिणाम पूर्णत सतोप-प्रद नही है। अगले भागो मे हम इस समस्या पर अधिक विस्तार से बात करेंगे, यहा तो निम्नलिखित विचार हमारे सामने है।

व्यक्तिगत उद्धार के साधन के रूप मे पाप-स्वीकृति के विषय पर जब भी चर्चा होती है, यह प्रश्न जो असगत नही है अवश्य किया जाता है क्या अन्य धर्मानुयायिओ अथवा धर्म मे विश्वास न रखने वाले व्यक्तियो की अपेक्षा कैथालिक पन्थियो का अधिक अच्छा मानसिक स्वास्थ्य हाता है ? इस विषय पर मानसिक अस्पतालो के आकडे स्पष्ट नही हैं। यदि दाखिला लेने वाले किसी रोगी का कोई धर्म है तो उसे लिख लिया जाएगा लेकिन इस बात का कोई उल्लेख नही होगा कि वह धार्मिक दृष्टि से सक्रिय रहा है अथवा नही। इस प्रकार धर्म का श्रद्धापूर्वक पालन करने अथवा अवहेलना करने के परिणाम स्पष्ट नही हो पाते। लेकिन कुछ ऐसे स्वतत्र सकेत हैं—जैसे आत्म-हत्या, तलाक के उदाहरणो की कमी, समरागण की थकान सहने की अधिक क्षमता आदि—जिनसे पता चलता है कि इस सम्बन्ध मे कैथालिक लोगो को लाभ होता है। मगर, यह भेद नाटकीय नही है।[3] कैथोलिक लोगो, जन-साधारण और मठो के लोगो और पादरियो मे हल्के और गम्भीर मानसिक रोग होते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि पाप-स्वीकृति के सस्कार का उद्धारक अथवा रोग-निवारक प्रभाव नही होता जैसा कि इनके बारे मे कभी समझा जाता था। और यहा विशेप रुचि की एक और बात यह है कि जिस रीति से कैथालिक लोग पाप-स्वीकृति का सस्कार करते हैं, उसमे गम्भीर कमजोरिया हैं। इन कमजोरियो पर निम्नलिखित ढग से मैं प्रकाश डालता हू।

1 कैथालिक पाप-स्वीकृति को खाली, दिखावटी औपचारिकता से अधिक

---

3. मगर ऐसे भी सकेत हैं कि कैथालिक देशो मे बदनामी के भय के कारण आत्म-हत्याओं की घटनाओं की ठीक-ठीक रिपोर्ट नहीं होती।

जाती है। एक किसान गाव के पुरोहित के पास गया और कहा, "पिता मैंने पाप किया है", उत्तर मिला, "अच्छा पुत्र! तुम्हारा पाप क्या है?" "पिता", किसान ने कहा, "कल रात मैंने चारे का एक गट्ठर चुराया था। नही, दो गट्ठर समझो, मैं एक और गट्ठर आज रात को चुराना चाहता हू।"

जो लोग कोई गर्हित कर्म करते हुए पकडे जाते है अथवा जो अपने दूषित अन्त करण के कारण, उसके लिए दु खपूर्ण पाप-स्वीकृति करना चाहते है, वे यह जानते है कि उनके दोषो और असफलताओ का अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो को पता चलने से उनके व्यवहार के सुधार मे बहुत सहायता मिलती है। लेकिन यह तथ्य कि पाप-स्वीकृति की क्रिया पुरोहित तक ही सीमित रहती है, और इसमे तप का अश नाम-मात्र का ही होता है, पाप-शमनकारी तथा पाप-निरोधक दोनो ही रूपो मे इसका महत्त्व कम कर देता है, विशेष कर जब आन्तरिक सयम कमज़ोर हो।

4 **पापमुक्ति और क्षमा सदिग्ध विधिया हैं।** प्रोटैस्टेण्ट चर्चों मे वास्तव मे धर्मदूत परम्परा के अनुसार पापो को क्षमा करने की शक्ति के बारे मे बहुत दावे नही किए जाते, लेकिन वे भी परमात्मा द्वारा प्रदान की गई क्षमा और पाप-मुक्ति के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। आओ हम यहा इस प्रत्यय की मानवीय, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो के प्रकाश मे परीक्षा करें। कुछ महीने पहले, मैंने एक परिचित महिला से कुछ अनजाने तथा कुछ भावावेश मे एक दु खद बात कही। मैंने तत्काल महसूस किया कि वह महिला सहमी हुई थी और मैं अत्यधिक पश्चात्ताप मे डूबा हुआ था। लेकिन मैंने इसके लिए न तो स्वदोष स्वीकृति प्रकट की और न उसने "क्षमा" करने के रूप मे कुछ कहा। फिर भी, इस घटना के बाद, मेरे साथ व्यवहार करते हुए पहले की अपेक्षा वह अधिक विनम्र और मधुर रहने लगी। इसलिए, मैं समझ गया था कि वह न तो मेरे प्रति रोप प्रकट करने वाली थी और न गाली देने वाली। उसने स्वय ही उस घटना से ऊपर उठ कर मुझे क्षमा कर दिया था, लेकिन इससे मेरा अपराध और पश्चात्ताप और भी अधिक हो गया, कम नही हुआ था।

इस घटना ने मुझे क्षमा के तर्क और मनोविज्ञान पर विचार करने के लिए प्रेरित किया। किस प्रकार कोई अन्य व्यक्ति हमे, पारस्परिक अथवा धार्मिक सदर्भ मे, क्षमा कर सकता है? दुष्कर्म, पाप तो हमारा है, दूसरा ऐसा कौन होगा जो स्वय इस उत्तरदायित्व से हमे मुक्त करेगा अथवा जिससे हम ऐसा करने की प्रार्थना करेंगे? यदि हमने अपराध किया है, तो क्या हम यह अभिलाषा नही करते कि उसके लिए "क्षमा" किए जाने की अपेक्षा हम उसका प्रतिदान करें? मैं ऐसा समझता हू कि प्रचलित अर्थ मे क्षमा अत्यधिक प्रमाद का काम है, और इससे हमारा आत्म-सम्मान अथवा मानसिक शान्ति पुनर्स्थापित नही हो

सकती ।[4]

इसलिए मैं यह अभिलाषा करता हू कि तप और सार्थक प्रतिदान पर बल देने की परम्परा के साथ-साथ, प्रोटैस्टेण्ट चर्च जिस प्रकार पाप-स्वीकृति पर पुनर्विचार की बात करते हैं, उसी प्रकार वे प्रतिदान और सुधार पर अधिक बल दें, क्षमा पर नही। यदि कुकर्म करते समय हमारे अन्त करण मे पर्याप्त नैतिक भावना होती है तो वह हमारे कुकर्मों के सुधार के लिए किए गए हमारे प्रयत्नो का समर्थन भी करेगी।

जिस ढग से धार्मिक पाप-स्वीकृति और क्षमा के आश्वासन के कर्मों का प्रचलन है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके अपर्याप्त होने के विस्तृत लिखित प्रमाण उपलब्ध नही हैं। लेकिन पूर्व-उद्धृत पुस्तक मे मीह्ल एट अल० निम्नलिखित घटना सुनाते है

> "एक युवा स्त्री ने यह स्वीकार किया कि उसने एक स्टोर से कुछ रिबन और जुराबे चुरा कर सातवा आदेश (लूथरपन्थी सशोधित परम्परा मे आठवा आदेश) तोडा है। उसे इस अतिक्रमण का अनुताप था, और धर्माचार्यों ने उसे आश्वासन प्रदान किया कि परमात्मा उसकी त्रुटि को समझेगा और उसे क्षमा कर देगा। एक सप्ताह के पश्चात् फिर वह अध्ययन कक्ष मे आई और यह स्वीकार किया कि उसने चोरी फिर की है, लेकिन इस बार अपनी मा के बटुए मे से कुछ पैसे चुराए है। फिर उसे क्षमा प्रदान कर दी गई। जब, केवल कुछ ही दिनो के बाद, वह लडकी रोती हुई फिर आई, तो धर्माचार्य कुछ गम्भीर दिखाई दिया। उस लडकी की सहायता करने के लिए, (मनोरोग-चिकित्सा का) व्यवसाय करने वाले लोगो की सहायता मागी गई। इससे उसके घरेलू जीवन मे बहुत सी कमिया दीख पडी। स्पष्ट होगा कि उसके मन मे इस सम्बन्ध मे अव्यक्त सदेह था कि पहली बार पाप-स्वीकृति के बाद परमात्मा ने वास्तव मे उसे क्षमा कर दिया है। वह जहा अपने ज्ञात पापो के बारे मे पश्चात्ताप करती थी वहा उन्हे सीधा करने मे अपने आपको असमर्थ पाती थी। इससे उसे अपनी पाप-स्वीकृति के कर्म पर मन ही मन सदेह होता था। जैसे-जैसे इन भावनाओ को उभारा गया और वह उन्हे समझने लगी, वैसे-वैसे चोरी की उसकी प्रवृत्ति कम होने लगी—और फिर उसने क्षमा का कर्म स्वीकार कर लिया और उसमे वह विश्वास करने लगी (पृ०284)।"

4 हाल ही में मैंने जब अपने एक साथी के साथ इस विषय पर चर्चा की तो उसका यह विचार अति रुचिकर लगा कि क्षमा "मानवीय मामलों के सम्बन्ध में निरर्थक बात है।"

अविकसित जीवन की ओर है।"

वास्तव मे, यहा सकेत मैथ्यू 23 27 की ओर है, और अनेक अन्य अवसरो पर ईसा ने दम्भी व्यक्तियो को उनके प्रार्थना करने, दान देने और अन्य प्रकार से अपनी पवित्रता प्रकट करने पर तिरस्कृत किया है, "उन्हे अपना पुरस्कार मिल चुका है" इन शब्दो से उनका सक्षिप्त मूल्याकन हुआ है।

जो व्यक्ति शुभ कर्मों के सिद्धान्त के खण्डन की तलाश मे हैं उन्हे यहा इसका एक उदाहरण मिलेगा। लेकिन शुभ समारी (Good Samaritan) और नवीन सहिता मे वर्णित दर्जनो अन्य घटनाओ की कहानियो का अर्थ कैसे लगाएगे ? यह बात नही है, यहा जो आपत्ति हुई है वह शुभ कर्मों के प्रति नही, बल्कि वह सद्-वृत्त और उसके अपनाने के लिए श्रेय लेने के सम्बन्ध मे शेखी मारने और दिखावा करने के सम्बन्ध मे थी। लेकिन इस प्रकार की समस्या के लिए ईसा ने स्वय समाधान दिया है जब भी तुम दान करो, तो जितनी बार हो सके उतनी ही बार इसे गुप्त रख कर करो। "अपने बाँए हाथ को यह पता न होने दो कि तुम्हारा दायाँ हाथ क्या कर रहा है।" क्या इसे समझना और इस पर आचरण करना इतना कठिन है ?

"बाध्यता मूलक भव्य विचार" (Magnificent Obsession) और "डाक्टर हडसन की रहस्यात्मक पत्रिका" (Doctor Hudson's Secret Journal) मे लायड डगलस इस बात को नाटकीय रूप देकर यह समझाने का प्रयत्न करते है (मानो, उस विषय पर बाइबिल स्पष्ट न हो) कि वास्तविक शक्ति तभी प्राप्त होती है, जब हम चोरी-चोरी शुभ कर्म करते है। डा० हडसन (जो इन दोनो पुस्तको के मुख्य पात्र है) यह मानते है कि हम जो जीवन व्यतीत करते हैं, वह स्थायी असुरक्षा, सदेह और निराशा से इस कारण निष्फल रहता है कि हम अपने सद्वृत्तो और शुभ कर्मों को तो प्रकाशित करते रहते हैं और अपने पापो और कमजोरियो को छिपाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो हम निरन्तर ऋण और आतक की अवस्था मे हो। इस परिस्थिति का हम हल कैसे कर सकते है ? डा० हडसन कहते है कि यह तो स्पष्ट है "अपने पापो को प्रकट करो, उन्हे स्वीकार करो और अपने शुभ कर्मों को छिपाओ"। वह तर्क देते हैं कि इस विधि से हम चिंता, विषाद और अनिश्चितना की अवस्था को छोड धीरे-धीरे लेकिन विश्वासपूर्वक आत्म-विश्वास, आन्तरिक शक्ति, और आनन्द— अथवा "उनके शब्दो मे "वैल"—की ओर बढ सकते हैं।

इस सम्बन्ध मे हम जो एक और तर्क सुनते है वह यह है "लेकिन हमारे बहुत से पाप ऐसी प्रकृति के होते हैं कि हम उनके लिए प्रायश्चित्त नही कर सकते।" यह तो प्राय निश्चित रूप से ज्यो का त्यो सच होता है। लेकिन यदि

हम प्रयत्न करें—और यदि हम धैर्य रखें और दरवाजा खटखटाते रहे तो अन्तत दरवाजा खुल ही जाता है। पश्चात्ताप और प्रतिदान, वास्तव मे 'साक्षात्' होना आवश्यक नही है अर्थात् उसी व्यक्ति के प्रति जिसके प्रति अपराध किया गया है पश्चात्ताप करना अथवा मूल दुष्कर्म के सम्बन्ध मे ही ऐसा करना आवश्यक नही है। ससार मे अन्य प्रकार से सेवा करने की सदा आवश्यकता रहती है। और यह कौन कहेगा कि किसी शुभ उद्देश्य के लिए किया गया त्याग किसी विशेष क्षति-पूर्ति की अपेक्षा कम उपयोगी होता है ?

कभी-कभी मनोवैज्ञानिक तथा मनश्चिकित्सक जो धर्म-विद्यामन्दिरो और मिशन बोर्डो के लिए व्यक्तियो की परीक्षा करते है, किसी उम्मीदवार को इसलिए निन्दित बताते हैं कि वह "वैयक्तिक अपराध से प्रेरित है।" क्या ऐसा अवश्य बुरा है ? कोई यह सदेह कर सकता है कि ऐसे कितने स्त्री-पुरुष हैं जिन्हे इस विधि ने मानसिक रोगो अथवा उससे भी बुरी हालत से बचाया हो। मेरे विचार मे जो बात महत्त्व की है वह यह है कि व्यक्ति को यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि वह क्या कर रहा है और उसे क्यो कर रहा है। यदि ये बातें पूरी हो जाए तो मैं विपरीत परिणाम की अपेक्षा सफलता की प्रवृत्ति की आशा कर सकता हू। अन्य और किस प्रकार की प्रवृत्ति को हम अधिक स्वस्थ कहेगे ? अथवा वैयक्तिक अपराध की समस्या के साथ निर्वर्त्तन करने के लिए और कौन मे अधिक अच्छे उपाय काम मे ला सकते हैं ?

वास्तव मे, व्यक्तित्व के विक्षोभो के बारे मे प्रायश्चित्त का विचार मात्र ही आधुनिक चिन्तन के लिए नया है। हमे यह बताया गया है और बार-बार बताया गया है कि ऐसे विक्षोभो के कारण मिथ्या अपराध, अन्तर्दृष्टि की कमी और अत्यधिक सद्वृत्ति होते हैं, इसलिए ऐसा कौनसा अपराध है जिसे स्वीकार करने की आवश्यकता है और जिसके लिए प्रायश्चित्त करने की माग भी है ? रुग्णतन्त्रिक व्यक्तियो मे "दण्ड की आवश्यकता" को तो बहुत पहले समझ लिया गया था, लेकिन इसे आधि के आत्म-पीडन का पहलू ("masochistic" aspect of neurosis) कह कर टाल दिया गया था। दूसरे शब्दो मे इसे पूर्णता प्राप्ति की समझदारी की विधि न मान कर बुद्धि विरोधी, पागलपन का ही एक रूप समझा गया था।

लेकिन अब समय बदलता जा रहा है। हाल ही मे टेक्सास विश्वविद्यालय के मनोविकार-विज्ञान के एक पत्र मे "प्रतिदान और आधि" शीर्षक एक लेख छपा था जिसकी प्रस्तावना का अनुच्छेद इस प्रकार था

"अनेक प्रकार के मानसिक रोग अथवा कुसमजन मे अपराध, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे, दण्ड की मान्यता के साथ रहता है। कभी-कभी

किसी भी विकार की व्याख्या इसी प्रकार कर दी जाती है। रोगियो को यह महसूस होता है कि उनके भाग्य मे दु ख भोगना लिखा है अथवा वे ऐसे कर्म के लिए बाध्य हैं, जिसका अन्त भयावह है। अन्य कुछ लोग, अपने स्थायी रोग की व्याख्या कारण-कार्य रूप मे करते हैं अथवा केवल प्रतिशोध के रूप मे कोई क्रियापरक रोग अपना सकते हैं। इस विचार-धारा को प्रतिशोध-मूलक सिद्धान्त (talion principle) तथा प्रतिकार प्रत्यय (nemesis concept) इन दो रूपों मे प्रकट किया गया है (पृ० 16)।"

इसके पश्चात् प्रतिशोध-मूलक तथा प्रतिकार-मूलक सिद्धात की चर्चा की जाती है,जो मेरे विचार मे सर्वविदित है। लेकिन "चिकित्सा" (Treatment) शीर्षक के एक भाग मे दी गई एक टिप्पणी ध्यान आकर्षित करती है। यहा आधिमूलक काँटो के लिए मिथ्या अपराध को मूल कारण मानने वाले फ्रायडीय सिद्धान्त की ओर कोई सकेत नही है। इसके बदले वहा जो लिखा है वह इस प्रकार है

"उदाहरण के रूप मे रोगी चाहे, चिन्ताकुल, भयाक्रान्त अथवा बाध्यताविचार ग्रस्त हो, लेकिन उनका मूल भय ही उनके अपने अनिर्णीत अपराध के कारण पैदा हुई बेचैनी से निपटने की विधि है।"

और निष्कर्ष के रूप मे लेखक कहता है

"उन्नीसवी सदी के एक वैद्य अब्राहम कौल्स ने 'दुर्दान्त आन्तरिक प्रतिकार-भावना' के विषय मे लिखा है। वह अपराधी अन्त करण की बात कर रहा था। इस प्रकार व्यक्ति अपनी अपराध-भावना का पता चलाता है, इससे प्रतिशोध के विचार प्रबल हो सकते है। रोगियो को मनोरोग-चिकित्सा की आवश्यकता होती है, और यह आवश्यकता मन-शरीर सम्बन्धी कष्टो तथा जिन भयो को टाला जा सकता है, उनके अपशमन के सम्बन्ध मे महसूस होती है। बाध्यता-विचारग्रस्तता अथवा अतिकष्टसाध्य रोगो के उदाहरणो मे, जहा प्रतिकार का भाव रोगी के जीवन के सभी पहलुओ को प्रभावित कर चुका होता है, मनोविकार विज्ञान पर आधारित चिकित्सा के परामर्श की आवश्यकता होती है (पृ० 17)।"

पाठक को यदि यहा अस्पष्टता प्रतीत हो तो कोई आश्चर्य की बात नही

है। लेखक वास्तव मे यहा क्या कह रहा है ? एक ओर तो वह यह कहता है, या कम से कम उसका भाव यह है, कि आधि मे अपराध वास्तविक होता है (क्या सदा ?) और इसके साथ किसी प्रकार के दण्ड अथवा प्रतिकार के प्राप्त होने की आशा जुडी रहती है। लेकिन वह यह भी कह रहा है कि इस प्रकार के भयो को कभी-कभी टाला जा सकना है, और यदि नही टाला जा सकता तो मनोविकार-विज्ञान की प्रतिष्ठित विधियो के अनुसार उसके साथ निर्वर्तन किया जा सकता है। यह स्पष्ट नही है कि वास्तविक अपराध के साथ निर्वर्तन करने के लिए आधुनिक मनोविकार-विज्ञान के पास कौनसी विधिया है। लेकिन कम से कम लेख के शीर्षक से यह ध्वनित होता है कि आधिमूलक प्रवृत्तियो के साथ प्राय प्रतिकार का जो भाव सम्बन्धित रहता है उसका एक विकल्प प्रतिदान (retribution) है। यहा पर आधुनिक मनोविकार-विज्ञान के विचारो मे एक नवीन धारा दिखाई देती है, जिसका और अधिक स्पष्टीकरण लेखक द्वारा वायरन की "शिशु हरोल्ड की तीर्थ-यात्रा" (Childe Harold's Pilgrimage) से उद्धृत पक्तियो से हो सकता है

> "इस समय मैं सहानुभूति न मागता हू, न चाहता हू,
> जो काटे मैं काट रहा हू वे मेरे लगाए पेड के ही है,
> उन्होने मुझे क्षतविक्षत कर दिया है और मेरा रुधिर बहने लगा है,
> मुझे पहले सोचना चाहिए था कि ऐसे बीज का फल कैसा होगा।"

इससे यह प्रतीत होता है कि कम से कम कुछ मनश्चिकित्सक अपराध को गम्भीरतापूर्वक समझने लगे हैं। यह एक आशाप्रद तथा रचनात्मक चिह्न है।

VI पाप-स्वीकृति धार्मिक सस्कार अथवा चिकित्सा ?—कैथालिक मत

कैथालिक चर्च मे पाप-स्वीकृति और तत्सम्बन्धी अनुताप और तप का कर्म सर्वप्रथम सस्कार माना जाता है अर्थात् इसे अमर आत्मा को पाप की दशा से परमात्मा की अनुकम्पा की अवस्था मे लाने, जिससे नरक का भय टल सके, की विधि कहते हैं। लेकिन इस प्रश्न पर कि क्या पाप-स्वीकृति भावात्मक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस जीवन मे सहायक है, चर्च आधिकारिक रूप से मौन है। व्यक्तिगत कैथालिक लेखको के विचारो मे इतना अन्तर है कि जहा कुछ इसके पक्ष मे हैं तो कुछ स्पष्ट रूप से इसका विरोध करते हैं।

यदि वर्तमान मान्यताए ठीक हैं तो, कैथालिक व्यवस्था की सीमाओं के होने पर भी, पाप-स्वीकृति और तप का स्वास्थ्यप्रद प्रभाव होना चाहिए—और

"आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने इसका पुनरन्वेषरण किया है। उन्होने स्वय अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर यह ज्ञान प्राप्त किया है कि जिस पाप को किसी विश्वास-पात्र को नही बताया और जिसके लिए क्षमा प्राप्त नही की गई उसके कारण पैदा हुआ अपराध-भाव बहुत से उदाहरणो मे तन्त्रिका-भग का कारण होता है (पृ० 8)।"

"मैं ऐसा नही समझता कि कैथालिक लोग अधिक सख्या मे यह जानते है कि वे तप के पवित्र सस्कार के कितने ऋणी हैं। वियाना के एक महान् मनोवैज्ञानिक ने, जो कैथालिक-विरोधी था (सम्भवत फ्रायड), ईमानदारी के साथ यह स्वीकार किया कि उसके पास गम्भीर मानसिक विकार वाले जितने भी रोगी आए, उनमे कैथालिक मत का सच्चाई के साथ अनुसरण करने वाला एक भी व्यक्ति नही था (पृ० 10)।"

अब हम फादर रिचर्ड पी० वागन, एस० जे०, (Father Richard P Vaughn, S J) के "धार्मिक व्यक्तियो मे मानसिक रोग" शीर्षक के अभिनव लेख की ओर ध्यान देते हैं तो उसमे बिल्कुल विपरीत मत मिलता है। विल्सन ने पुस्तक मे अशोधित पाप और भावात्मक विक्षोभ के सम्बन्ध पर जो बल दिया है उसका यहा एकदम विरोध किया गया है

"गवेषणात्मक तथ्यो के विपरीत होने पर भी यह अस्पष्ट सदेह बना रहेगा कि मानसिक रोग किसी न किसी प्रकार से पापमय जीवन से सम्बन्ध रखते हैं अथवा कम से कम यह मानना पडेगा कि यदि एक व्यक्ति वास्तव मे धार्मिक पवित्र जीवन व्यतीत कर रहा है तो उसे ये रोग नही हो सकते।

पेट के फोडे अथवा जिगर की सूजन की तरह मनोविक्षिप्ति भी एक प्रकार का रोग है। मनोविक्षिप्ति की दशा का कारण मानसिक है अथवा शारीरिक है अथवा दोनो है (जो अधिक सम्भव है)—इसके सम्बन्ध मे अभी कोई निश्चित निर्णय नही है। मगर इतना तो नि शक होकर कहा जा सकता है कि मनोविक्षिप्ति (शायद उन दशाओ को छोड कर जिनका कारण शराब अथवा अन्य कोई और नशा हो) पाप-मय जीवन का परिणाम नही है। यह विचार कि यह पाप का परिणाम है उस पुरानी अभिवृत्ति का अवशेष है जो उस युग से चली आ रही है जब लोग मनोविकार-विज्ञान अथवा मनोविज्ञान के सम्बन्ध मे बहुत कम जानते थे। इसलिए, जब कोई धार्मिक व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता हो तो

इसका यह अर्थ नही होगा कि उसका आचरण भ्रष्ट रहा है। वे लोग धार्मिक[7] भले ही हो और वे जन-साधारण की अपेक्षा अधिक पवित्र जीवन व्यतीत करते हो लेकिन वे जन-साधारण की अपेक्षा मानसिक रोगो से बचने की अधिक क्षमता नही रखते (पृ० 27–28)।"

क्या अद्भुत प्रदर्शन है। इस पुरातन तथा व्यापक जन-विश्वास के होते हुए कि नैतिक चरित्रता और मनोवैज्ञानिक सगठन मे सम्बन्ध है तथा यदि यह सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सके कि पाप-स्वीकृति मानसिक दृष्टि से स्वास्थ्यप्रद (और धार्मिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है) है तो कैथालिक धर्म के पक्ष मे जो स्पष्ट लाभ दिखाई पडता है उसके होते हुए भी, यहा हमे एक ऐसा ईसा भक्त मिलता है जो इस स्थिति के विरोध मे तर्क दे रहा है। इस पराजय का कारण ढूढने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही है एक धार्मिक सस्कार के रूप मे पाप-स्वीकृति के प्रभावोत्पादक अथवा अप्रभावोत्पादक होने की परीक्षा करना असम्भव है, और चर्च इसके विषय मे तत्त्व-विद्या सम्बन्धी दावे करता रहता है और इस बात की चिन्ता नही करता कि इन दावो का अनुभव के आधार पर खण्डन किया जा सकता है, लेकिन ज्यो ही कोई पाप-स्वीकृति के सम्बन्ध मे यह दावा करता है कि इसमे रोग-निरोध अथवा रोग-निवारण की क्षमता है तो इस प्रकार के दावे तत्काल अनुभव की कसौटी पर परखे जा सकते है—और यह तो पहले ही विदित है कि इस सम्बन्ध मे तथ्य अस्पष्ट हैं। विल्सन, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह मानते हैं कि जिस रूप मे चर्च के अन्दर पाप-स्वीकृति का सिद्धान्त माना जाता है और जिस रूप मे इसे व्यवहार मे लागू किया जाता है, उस रूप मे यह भावात्मक तथा मनोवैज्ञानिक विक्षोभो के लिए महौषधि है, जबकि वागन समान दृढता और निरपेक्ष रूप से यह मानते है कि उनमे कोई सम्बन्ध नही है। शायद सत्य इन दोनो के बीच मे कही है। लेकिन जो चर्च कभी भी असत्य बात न कहने का दावा करता है उसे पूर्णत हा या न की स्थिति अपनानी चाहिए—यह बात मान्य नही है कि चर्च द्वारा अपनाए गए उपाय कुछ-कुछ प्रभावोत्पादक है। फिर भी, अपने वर्तमान रूप मे, पाप-स्वीकृति का मनोवैज्ञानिक दृष्टि मे जो स्तर है वह यह है यद्यपि उपयुक्त अवस्थाओ के होने पर यह मानसिक स्वास्थ्य के लिए निश्चय ही सहायक हो सकता है, केवल औपचारिक रूप मे उस सस्कार के करने से ही यह फल निश्चित नही है, और चर्च, जैसाकि कुछ लोग स्पष्ट रूप मे कहते है, किसी अपूर्ण शक्ति का दावा नही रखते।

---

7 जो व्यक्ति "पवित्र आदेशों" (Holy Orders) को ग्रहण करता है, उसे वैधानिक भाषा में "धार्मिक" कहते हैं।

यदि हम इस बात की ओर ध्यान दें कि धार्मिक भाव वाले साधारण व्यक्ति के सम्बन्ध मे लिखते समय, जैसाकि फादर विल्सन ने किया है, यह तर्क सदा दिया जा सकता है कि किसी कैथालिक के सामने गम्भीर भावात्मक सकट आने पर उसकी दृष्टि मे इसका कारण यह होता है कि वह कैथालिक के रूप मे किसी महत्त्वपूर्ण पहलू मे असफल रहा है तो वास्तविक स्थिति पर अधिक प्रकाश पडता एव मुझे स्वय इस तर्क मे सार दिखाई देता है। लेकिन एक बार जब कोई स्त्री अथवा पुरुष "पवित्र आदेश" (Holy Orders) ग्रहण कर लेता है तो स्थिति, कम से कम सिद्धान्त के अनुसार, महत्त्वपूर्ण रूप मे परिवर्तित हो जाती है। यहा वह सर्वोत्तम वर्ग, "धार्मिक वर्ग" एक विशिष्ट सरक्षक दल है, जिसमे सभी मानवीय कमजोरिया समाप्त नही हुई हैं, और मठो के लोगो मे (विशेष कर स्त्रियो मे) मानसिक विकारो का व्यापक होना पूर्णत निश्चित हो चुका है (मूर, 1936)। यह समस्या, वास्तव मे इतनी गम्भीर है कि फादर वागन को यह कहना पडा कि इस व्यवस्था मे प्रवेश करने वाले लोगो की मनोवैज्ञानिक आधार पर छँटनी होनी चाहिए

> "वहुत से वर्ग किसी एक व्यक्ति का अस्पताल मे इलाज कराने के लिए हजारो डॉलर खर्च करते है और यह सब उस वर्ग के अन्य लोगो के मूल्य पर होता है। और इतने व्यय के वाद भी प्राय परिणाम यही होता है कि धार्मिक व्यक्ति का रोग असाध्य ही बताया जाता है। इन उदाहरणो के सम्वन्ध मे कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यदि धार्मिक विक्षिप्त व्यक्ति को धार्मिक जीवन के सम्बन्ध मे भ्रम-निराकरण और मानसिक तनाव का कभी अनुभव न हुआ हो, तो क्या कभी ऐसा निदान हो सकता है (पृ० 29)।"

यहा अप्रत्यक्ष ढग से यह स्वीकार किया गया है कि जो इस विशेष व्यवस्था, कैथालिकवाद, मे प्रवेश करते हैं, वे दूसरो पर रोग-निवारक प्रभाव डालने की अपेक्षा विपरीत प्रभाव डालेंगे। इसलिए कोई आश्चर्य नही कि नीचे से लेकर ऊपर तक चर्च के लिए यह समस्या वहुत ही दु खद और सम्भ्रान्त वनी हुई है। स्थिति का सम्भ्रान्त रूप वहुत सुन्दर ढग से जोन आर० कौनरी, एस० जे०, द्वारा लिखित और पाठको के अपने विचार और विवादो की ईसाई पत्रिका 'अमेरिका' मे प्रकाशित "पाप, रोग और मनोविकार-विज्ञान" नामक लेख मे स्पष्ट किया गया है। भूमिका के रूप मे लेखक कहते है

> "इस द्वन्द्व के वहुत से पहलुओ का उदाहरण पाप और मानसिक

रोग के सम्बन्ध मे प्रकट किए गए भिन्न मतो मे मिलता है। इस मत से इतर कि पाप पापी के सकल्प का फल नही है, वल्कि एक रोग है, एक दूसरा मत भी है जो इस सम्बन्ध को विपरीत कर देता है। इस मत के अनुसार पाप मानसिक रोग का परिणाम न होकर उसका कारण है। एक तीसरा मत पाप को मानसिक रोग का कारण अथवा फल नही मानता वल्कि इसे उसका उपचार मानता है (पृ० 493)।"

वास्तव मे, यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि इस लेख का लेखक पहली और तीसरी उपकल्पना को न स्वीकार करता हो। यह तो स्पष्ट है कि चर्च न तो यह मान सकता है कि पाप मानसिक रोग का प्रकाशन है और न यह कि यह उसका उपचार है (सकेत "Have an affair!" "Act single!")। वास्तव मे यह दूसरा मत, अर्थात् यह मत कि जिस पाप की स्वीकृति नही हुई है और जिसका उद्धार नही हुआ है वह मनोरोग का कारण है, कैथालिक सिद्धान्त-वादियो के लिए कठिनाई पैदा करता है। कौनरी स्वीकार करता है कि .

"यह तो सच है कि अपने पापो को स्वीकार करने और पुरोहित और उसके धर्माचार्य परामर्श को स्वीकार करने का कुछ न कुछ चिकित्साकारी मूल्य है, लेकिन यह वह मुख्य उद्देश्य नही है जिसके लिए यह पवित्र सस्कार स्थापित किया गया। तप का सस्कार मूलत. क्षमा का सस्कार है (पृ० 493)।"

इसके बाद लेखक अपनी इस उपकल्पना को विशेष रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है कि "आधि का कारण पाप मे ढूढना चाहिए।" वह कहता है

"इस मत के अनुसार, एक रोगी आधि-ग्रस्त इसलिए नही होता कि उसने मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रवृत्तियो को दवा दिया है, वल्कि इसलिए होता है कि उसने अन्त करण को दवा दिया है। यद्यपि इस स्थिति का प्रतिपादन प्रथम श्रेणी के मनोवैज्ञानिक और मनश्चिकित्सको ने किया है किन्तु इन्ही क्षेत्रो के समान योग्यता वाले प्रतिनिधियो ने इसका घोर विरोध भी किया है। धार्मिक दृष्टि से इस मत मे वे दोष तो नही है जो ऊपर व्यक्त मतो मे हैं, लेकिन क्योंकि यह धार्मिक दृष्टि के अधिक अनुकूल है, इसीलिए आवश्यक रूप से सत्य नही वन जाता। वास्तव मे, इसकी प्रामाणिकता मे सदेह करने के समुचित कारण है। सर्वप्रथम, कुछ लोग आदतन

पापी होते हैं लेकिन देखने मे हर दृष्टि से उनका भावात्मक और मानसिक स्वास्थ्य सामान्य होता है। दूसरे, पाप-पुण्य की बहुत अधिक चिन्ता करने वाले अन्त करण का, जिसे कुछ सीमा तक पागलपन कह सकते है, मूल स्रोत साधारणत पाप नही होता। अधिकाश मे, पाप-पुण्य की चिंता करने वाला व्यक्ति पाप से इतनी दूर होता है जितनी दूर कोई हो सकता है (पृ० 495)।"

यह एक अमुक्त और अनुत्तरदायित्वपूर्ण कथन है। यह तर्क कि वे सभी व्यक्ति जो पापी है, मानसिक विक्षोभ से पीडित नही है, इसलिए पाप और उन्माद मे कोई सम्बन्ध नही है, विख्यात परिणाम के तार्किक दोप का उदाहरण है, जिसकी मैने अन्यत्र (अध्याय 13) चर्चा की है और इसी सम्बन्ध मे मैंने इस मत के पक्ष मे प्रमाण (और एक कैथालिक विशेषज्ञ—स्टैफोर्ड, 1950) उद्धृत किया है। पाप-पुण्य की चिन्ता करना आधि इसलिए बन जाता है कि ऐसा व्यक्ति अपने पापो की स्वीकृति करने की अपेक्षा ऐसे (आधिमूलक) लक्षणो को पसन्द करता है।

नही, स्पष्ट सत्य तो यह है कि बहुत से कैथालिक लेखक आधि को मूलत नैतिक और सामाजिक समस्या इसलिए नही मानते क्योकि इससे कैथालिक सिद्धान्त और व्यवहार की उपयुक्तता के सम्बन्ध मे अभिभूत करने वाले प्रश्न पैदा होते है और इस प्रकार मैंने भाग IV मे जो सीमाए और दोष बताए है उनका अवमूल्यन किया जाता है। अत यहा दूसरे धार्मिक वर्गों के लिए एक अद्भुत अवसर और चुनौती है व्यक्तिगत अपराध के साथ निर्वर्त्तन करने के लिए ऐसी विधि खोजने का अवसर जो यथार्थ मे मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टि से उपयुक्त हो और जो तत्त्व-विद्या-मूलक ऐसे दावे न करे, जिनका परीक्षण न हो सके। और यह कैथालिकवादियो के लिए भी अपना लेखा-जोखा पूरा करने की चुनौती और जिन सुधारो की बहुत दिनो से आवश्यकता रही है उन्हे प्रारम्भ करने का सुअवसर है।

फादर कौनरी (Connery) के लेख के साथ एक विचित्र चित्र जो अशिक्षाप्रद नही है दिया गया है और उसे यहाँ भी उद्धृत किया जाता है। इसका क्या अर्थ है ? मैं ऐसा समझता हू कि यह पाप और 'साइकोन्यूरोसिस' (मनस्ताप) की सम्पूर्ण समस्या के विपय मे वर्तमान कैथालिक अवस्था मे व्याप्त अस्पष्टता, सम्भ्रम और रोग को अभिव्यक्त करता है। यह चित्र स्पष्टत एक ईसाई साधु (monk) का है जो ऐसी स्थिति मे जकडा पडा है कि जो धार्मिक भी है और अन्तराबन्धी भी। चर्च, जिसका अन्त करण है, इसलिए दु खी है कि वह यह चिन्ताकुल और विक्षुब्ध व्यक्तियो की आवश्यकता की देखभाल करना इसलिए

आश्चर्यपूर्ण ढग से कम हो गए है, व्यक्तित्व के विकार निरन्तर बढते जा रहे है। 1934 और 1954 के बीच के दो दशको मे मृत्यु दर इस देश मे 13 6 प्रतिशत घट गई है (फैग्ले 1960, पृ० 29), लेकिन इसी अवधि मे एक व्यक्ति की मानसिक अस्पताल (जीवित रहते हुए भी मृत्युवत् लोगो का निवास-स्थान) मे अपने जीवन का कुछ भाग व्यतीत करने की सम्भावना 20 मे से एक से बढ कर 10 मे से एक हो गई है। इसलिए प्रचलित मतो और चिकित्सा विधिओ की अनुपयुक्तता के विषय मे उपलब्ध प्रमाण वास्तव मे बाध्य करने वाले है। और कम से कम छोटे-छोटे ऐसे सकेत प्राप्त हो रहे है जो अधिक प्रोत्साहित करने वाले विकल्पो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते है।

कुछ महीने पहले उत्तरी कैलिफोर्निया के एक शहर मे मेरे एक भाषण के बाद एक परास्त लेकिन बुद्धिमान अधेड अवस्था की महिला मेरे पास आई और बोली कि उसके विचार मे मैं शायद यह जानना चाहूगा कि आधुनिक सन्तो के चर्च ने शुभ कर्मों पर अधिक बल दिया था—जो धर्म-निष्ठा के द्वारा आत्मौचित्य स्थापित करने के पाल के सिद्धान्त के विपरीत था, और परिणामस्वरूप यह प्रोटैस्टेण्ट धर्म-शास्त्रियो की आलोचना का विषय रहा है। यह थोडी सी सूचना वास्तव मे मुझे रोचक लगी, और कुछ समय बाद मैंने यह बात एक समाज-सेवी को बताई जो स्वय मारमन (Mormon) था और उसने स्वय यह अतिरिक्त सूचना मुझे दी कि उसके धर्म मे प्रतिमास एक रविवार 'खुले आम' पाप-स्वीकृति के लिए रखा जाता है। तब उसने एक ऐसा जीवन-वृत्त सुनाया जो उसे एक अमार्मन नैदानिक मनोवैज्ञानिक ने जिससे हम दोनो परिचित थे, सुनाया था और जिस वृत्त से उन समस्याओ के सम्बन्ध मे उपचार की दृष्टि से मार्मन पद्धति का अधिक प्रभावोत्पादक होना लक्षित होता है। मैंने तत्काल ही विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए लिखा, और उस मनोवैज्ञानिक ने मेरे ऊपर अनुकम्पा करते हुए "समाज-सेवा सम्बन्ध" के रिकार्ड और उस पर "अपनी अन्तिम टिप्पणी" की एक प्रतिलिपि भेज दी। इनमे से प्रथम दस्तावेज़ इस प्रकार है

> "21 वर्षीया इस महिला को डा० ने मेरे पास भेजा क्योकि यह अपने पिता के साथ बहुत पुराने असतोषप्रद लैंगिक सम्बन्धो के कारण काम-सम्बन्धी समायोजन के विषय मे चिन्ताग्रस्त थी। यह कुछ बडी और मोटी लडकी है जो अपनी 7 वर्ष की अवस्था से ही अपने पिता के द्वारा प्रलोभनपूर्वक किए गए कामुक व्यवहार और दुर्व्यवहार की लम्बी कहानी लिए हुए है। यह विशेष बात-चीत करने वाली लडकी नही है और साक्षात्कार के समय भी उसने अपने आप अधिक बात नही बताई। वह लगभग छ महीने से एक लडके के साथ आती-जाती रही है, शादी की

बात भी सोची है, लेकिन वह लडका उसके शारीरिक दोषो के कारण घृणा करता है । वह यह बताती है कि उसके मन मे काम-वृत्ति का भाव पाप और दु ख के भाव से सम्बन्धित है और वह इस भावना से छुटकारा पाना चाहती है। साक्षात्कार के पूरे समय उसकी बातचीत सीधी, भावरहित थी और उसका चेहरा भी कुछ शान्त और भावरहित था।

यह रुग्णा अपने बाप के चार बच्चो मे से सबसे बडी है, इसकी एक सगी बहिन, एक सौतेली बहिन और एक सौतेला भाई है। इसकी मा इसे चार वर्ष की ही छोड कर चल बसी थी और चार वर्ष बाद इसके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। सौतेली मा के पहले विवाह मे एक लडकी है और वर्तमान मा-बाप से एक लडका है।

यह रोगी स्त्री बताती है कि जब वह सात वर्ष की ही थी, तभी से उसके पिता ने उसके साथ और उसकी दो बहिनो के साथ बलपूर्वक मैथुन करना प्रारम्भ कर दिया, केवल कामोत्तेजना के क्षणो को छोड कर वह उसके प्रति अत्यन्त क्रूरता का व्यवहार करता है। वह यह भी बताती है कि वह पुरुषो को ऐसे पाशविक व्यक्ति समझती है जिन्हे शारीरिक सतुष्टि के अतिरिक्त अपनी स्त्रियो से और कुछ नही चाहिए। वह इस बात से विशेषत दु खी होती थी कि उसका पिता औरो के साथ भी ऐसे सम्बन्ध रखता और प्राय उसकी उपस्थिति मे ही उसकी बहिनो के प्रति कामुक व्यवहार करता था। अपने एक युवक मित्र की सहायता से उसने अपनी इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया, लेकिन वह उसके प्रति जब भी प्रेम भाव दिखाता तो वह नितान्त रतिहीन हो जाती। काम-प्रवृत्ति के प्रति उसकी सामान्य अभिवृत्ति ऐसी है कि यह एक गन्दी प्रवृत्ति है। वह लडकों के साथ मेल-जोल बढाने मे बडी कठिनाई अनुभव करती है। प्राय अपनी सहेलियो के साथ वह अधिक सुखी रहती है।

हाल मे, उसका पिता मनोरोग अस्पताल मे मनोविकार का निदान करा रहा है, क्योंकि लडकियो ने उसके विरुद्ध प्रदेश मनोरोग आयोग से शिकायत की है।* रुग्णा की रिपोर्ट है कि उसका पिता अत्यधिक गाली देता है, सदेहशील और ईर्ष्यालु है और अपनी बेटियो मे अनुचित इच्छा रखता है। इस बसन्त ऋतु मे यह मामला उस समय अधिक बढ गया, जब रुग्णा अपने कालेज का तृतीय वर्ष समाप्त कर घर आई और उसने अपने पिता की कामुक चेष्टाओं के सामने झुकने से इन्कार कर दिया। हाल मे, उसकी सौतेली मा कानूनी तौर पर उसका बचाव करने का प्रयत्न

---

* इस निदान के बाद उसके पिता को बहुत लम्बी कैद की सजा हुई।

मनोरोग-चिकित्सा करने वाले व्यक्ति के प्रति मेरी के मन मे यह एक प्रबल भय था कि कही उसके साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध न हो जाए । इस कारण चिकित्सा के प्रारम्भ मे मेरे साथ भी उसके मन मे बडा तनाव रहा, उसने कई वार चिकित्सा समाप्त करने की बात कही और निश्चित किए गए समय पर पहुचने के उसने बहुत से बहाने बनाए । उसके प्रति मेरी रुचि का अर्थ प्रारम्भ मे उसने यह लगाया कि मैं उसके प्रति कामुक भाव से आकर्षित हू । उसके साथ धीरे-धीरे और सावधानी-पूर्वक कार्य करने का परिणाम, समस्या को ध्यान मे रखते हुए, कुछ ही साक्षात्कारो मे बहुत अच्छा रहा । मेरी ने स्वय चेष्टा करनी प्रारम्भ कर दी और उसका अत्यधिक दब्बूपन भी कम होने लगा, 'अत्यधिक निरुत्साह और असमर्थता' का भाव उसके मन मे बैठा हुआ था, वह निश्चित रूप से कम होने लगा, अव वह अनेक काम करने की चेष्टा करने लगी जबकि पहले किसी काम को आरम्भ करने से पहले ही उसे यह निश्चित लगता था कि वह उसे पूरा न कर पाएगी । अब सभी व्यक्तियो के साथ, जिनमे पुरुष भी शामिल है, सुखद भाव अनुभव करने लगी और काम के सम्बन्ध मे अपराध और पाप का भाव भी कम होने लगा । अब वह अपने जीवन मे पहले की अपेक्षा वजन मे हल्की भी होने लगी, जो शायद इस बात का सकेत है कि अब उसके मन मे पुरुष के लिए आकर्षित लगने का भय कम होने लगा ।

मगर, यद्यपि इस सम्बन्ध मे उसमे जो सुधार हुआ वह बहुत अच्छा था, तथापि यह अनुभव किया गया कि किसी व्यक्ति के साथ अति घनिष्ठ सम्बन्धो, यथा वैवाहिक सम्बन्धो, मे आनन्द अनुभव करने के लिए अभी उसे और अधिक मनश्चिकित्सा की आवश्यकता थी । हमने जब मेरी के अत्यधिक विक्षुब्ध काम-प्रवृत्तिपूर्ण क्षेत्र के विपय मे कार्य करना प्रारम्भ किया तो मेरी को जाने का, और उन व्यक्तियो के साथ, जिनके साथ वह अपने नए धर्म, आधुनिक सन्तो के धर्म (Latter-Day Saints) के अनुसार सुख अनुभव कर सकती थी, रहने का अवसर मिला ।

जब मेरी आती तो वह अपनी चिकित्सा की आवश्यकता को भावात्मक दृष्टि से अनुकूल समझ स्वीकार कर लेती । अन्य किसी और अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा जो बात उसे सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुई वह एक पुरुप मे उसके विश्वास का उदय था । मगर जो भी उसके मनोरोग की चिकित्सा करेगा उसे उससे तीव्र भावात्मक प्रतिक्रिया की आशा रखनी चाहिए, जिसमे ऐसी बातें सम्मिलित है, यथा, वह अनेक वार चिकित्सा को

समाप्त करना चाह सकती है और साक्षात्कार के लिए न आने के बहाने कर सकती है।

मेवा का स्वरूप   निदान और चिकित्सा

चिकित्सा निवृत्ति का आधार   सुधार

निदान   निष्क्रिय-आक्रामक व्यक्तित्व, निष्क्रिय-पराश्रित प्रकार के व्यक्तित्व मे भयात्मक प्रतिक्रिया (प्रत्येक व्यक्ति के घनिष्ठ सम्पर्क का तीव्र भय)।

निवृत्ति   रोगी स्वय निदानशाला की सेवा से हट गया। निदानशाला ने अधिसूचित किया। (चला गया)।

फलानुमान   पूर्ववर्णित लाभ की दृष्टि से चिकित्सा का चलते रहना अच्छा होता, उसके चले जाने के बाद उसके मनोरोग की चिकित्सा की आवश्यकता है।

, पी-एच० डी०
प्रधान मनोवैज्ञानिक"

जिम निदानशाला मे सहायता प्राप्त करने के लिए मेरी ने शरण ली उसके स्टाफ की मनोवृत्ति स्पष्टत फ्रायडवादी थी, और हम यह अनुमान लगा मकते है कि चिकित्सा काल मे उसे यह समझाने का प्रयत्न किया गया कि सभी पुरुष उसके पिता के समान नही है, इसलिए प्रत्येक से भयभीत होने—और काम-सम्बन्ध का भय अनुभव करने का कोई उचित कारण नही है। लेकिन यदि ऐसा मानते है, इसके लिए उचित कारण भी है कि मेरी की समस्या काम-प्रवृत्ति के विरुद्ध अभिघातज अनुकूलन की ही नही थी बल्कि एक विवाद-रहित व्यक्तिगत अपराध की थी, तो "पुरुषो का उमका भय" एक भिन्न अर्थ मे उचित था, और ऐसा सकेत मिलने पर कि चिकित्सा का सम्बन्ध उसकी आवश्यकता से नही था, मेरी का बेचैन असतुष्ट होना और अन्त मे चिकित्सा मे अपने को हटा लेना कोई आश्चर्य की बात नही थी। चिकित्सक का एक पत्र, जो पूर्ववर्णित सामग्री के साथ प्राप्त हुआ, विशेष तौर पर इस समस्या पर प्रकाश डालने वाला है। उसका एक भाग इस प्रकार है

"मैं आपको एक ऐसी युवती की समस्या से, जिसके साथ मैंने काम किया और जिसके लिए मार्मन चर्च की सदस्यता सहायक सिद्ध हुई, अवगत कराना चाहता हू। यह युवती परम्परावादी (fundamentalist) प्रोटैस्टेण्ट चर्च की सदस्या रही थी, जिसमे वह जब सेवा काल मे उपस्थित होती तो अपने आपको अत्यधिक अपराधी समझती। मेरा यह विश्वास है कि चिकित्सा के परिणामस्वरूप उसका आधिभूनक

अपराध बहुत कुछ कम हो गया, जिससे वह मार्मन सरीखे एक धर्म को, जो अपराध को कम करने वाला, पितृ-भाव रखने वाला और उपकारी था, अपनाने मे समर्थ हो सकी। तब, शायद मार्मन धर्म उसके आधिमूलक, अपराध-भाव को कम करने लगा और इस प्रकार सामान्य अपराध और सामान्य रूप से जीवन का निर्वर्त्तन अधिक रचनात्मक ढग से होने लगा।"

यह स्पष्ट नही है कि यहा "आधिमूलक अपराध" की ओर सकेत क्यो किया गया है। यह तो निश्चित है कि यहा यह मान्यता नही थी कि यह स्त्री अपनी परिस्थिति से निर्दोष सिद्ध होकर निकलती अथवा यह कि जो अपराध वह महसूस करती थी वह अनुचित और असतुलित था। उसकी परिस्थितिया निश्चय ही पाप मार्जन करने वाली थी, और यह उस लडकी के लिए श्रेय की बात थी कि उसने अपनी समस्या का स्वय निपटारा करने का बीडा उठा लिया। लेकिन ऐसा कैसे हो सकता था कि कोई लडकी जिसमे थोडी भी चारित्रिकता और सामाजिकता हो, इस लडकी जैसा आचरण करते हुये भी अधिक सामान्य और रोग-लक्षण रहित हो सके। यहा, अपराध एक तथ्य, एक दु खद अपरिहार्य वास्तविकता था और आधिमूलक अपराध भाव मात्र नही था। और यह भी कोई आकस्मिक बात नही थी कि धर्मनिरपेक्ष चिकित्सा मे यह देखा गया कि "वह अनेक बार चिकित्सा को समाप्त करना चाह सकती है और साक्षात्कार के लिए न आने के बहाने कर सकती है।" हमे यह अनुमान करना ही पडता है कि उसने यह समझ लिया था कि चिकित्सको ने उसकी समस्या को नही समझा है और उसे कोई वास्तविक सहायता नही मिल सकती।

यहा हमारे सामने एक और ऐसा उदाहरण है जिसके सम्बन्ध मे प्रोटैस्टेण्ट चर्च अपने सदस्यो के व्यक्तिगत अपराध की समस्या का हल करने मे असफल रहा है। इस बात का कोई सकेत नही है कि यह लडकी अपनी इस समस्या के सम्बन्ध मे अपने धर्माचार्य के पास गई हो, और यदि गई भी होती तो सम्भावना यह है कि वह या तो इससे भयाक्रान्त हो जाता और किसी न किसी प्रकार का क्रियारहित दृश्य उपस्थित कर देता, अथवा, यदि वह अधिक ही सहृदय होता तो "प्रार्थना करके ईश्वर से क्षमा याचना" का उपदेश देता। दूसरी ओर, यदि वह चर्च अत्यधिक उदार होता (परम्परावादी न होता) तो धर्माचार्य अधिक नवज्ञानसम्पन्न होने का दम्भभरता और उसे धर्म-निरपेक्ष दृष्टि से परामर्श देता, जिसकी प्रतिक्रिया वही होती जो निदानशाला मे हुई थी।

इस वृत्त मे प्राप्त होने वाली सीख स्पष्ट है घोर अपराधी व्यक्तियो की आवश्यकता पूर्ति के लिए न तो प्रोटैस्टेण्ट धर्म-शास्त्र समर्थ है और न फ्रायडीय मनोविज्ञान, और यह कि मानव-समाज और शुभ कर्मो की उपचार-शक्ति का

मूल्य रहते हैं, और जिस व्यक्ति का जीवन सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रियाओ और प्रभाव के लिए खुला हुआ है, उसे सामाजिक अवलम्ब और अनुमोदन का लाभ प्राप्त होता है। लेकिन जो व्यक्ति प्रच्छन्नता और गोपनीयता का मार्ग अपनाता है उसके लिए शक्ति का यह स्रोत उपलब्ध नही होता और वह शीघ्र ही आत्म-सयम खो देता है और प्रलोभनो तथा, जैसाकि वह स्वय अनुभव करेगा, निर्बल "सकल्प-शक्ति" का शिकार बन जाता है। ऊपर से देखने मे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका कष्ट काम-प्रवृत्ति और चेष्टाओ के क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है, लेकिन अधिक गहराई से देखने से पता चलता है कि यह समस्या मूलत सामाजिक सगठन अथवा इसके अभाव की है।

इस सदर्भ मे पाप-स्वीकृति और सामाजिकता का महत्त्व स्पष्ट ही है। कुछ वर्ष पूर्व मैं इस सामान्य समस्या की चर्चा एक ग्रीष्मकालीन स्कूल मे कर रहा था। वहा एक विद्यार्थी ने बताया कि शिकागो मे बैंक नियमित रूप से अपने कर्मचारियो की असत्य वचन का पता लगाने वाली परीक्षाए लेते है। इस टिप्पणी का महत्त्व मैं न समझ सका और क्षण भर के लिए भ्रात सा हो गया तो विद्यार्थी ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा, "इससे उन्हे ईमानदार बने रहने मे सहायता मिलती है।" तब मेरी समझ मे यह बात आई कि इस प्रक्रिया का उद्देश्य उस व्यक्ति को जानना नही है जो पहले ही अपराध कर चुका है बल्कि एक ऐसी भावना पैदा करना है कि यदि कोई बेईमानी का कर्म करेगा तो पकडा जाएगा। परिणामस्वरूप, यह भी एक प्रकार की सामयिक पाप-स्वीकृति ही है। और यदि एक व्यक्ति यह जानता है कि वह जो कुछ भी करता है उसका पता दूसरो को अवश्य चल जाएगा, तो देखने मे ऐसा आना है कि ऐसे व्यक्ति मे दुष्कर्म की प्रवृत्ति पर सयम पाने का आत्म-बल आ जाता है। पाप-स्वीकृति के विषय मे प्राय हम ऐसा समझते है कि यह कृत्य दुष्कर्म के अपराध से मुक्ति दिलाने की एक प्रक्रिया है। यदि "पाप-स्वीकृति" को अस्वाभाविक रूप मे सरल न किया जाए, तो मेरा विश्वास है कि इसका कार्य उद्धार करना ही नही बल्कि आरोग्य-वर्द्धन भी होगा।

वानहाफर ने युक्तिपूर्वक कहा है कि व्यक्ति एकाकीपन मे ही पाप की चाह करता है। जब तक एक व्यक्ति समाज मे है, अन्य व्यक्तियो के साथ स्वतन्त्र और खुले सम्बन्ध रखता है, उसे दुष्कर्मो के परिणामो का स्पष्ट अहसास रहेगा, जिससे उन्हे न करने की सुबुद्धि और बल उसमे बना रहेगा—और यदि वह ऐसा कर्म कर बैठता है तो उसके परिमार्जन की ओर तुरन्त ही अग्रसर होगा। लेकिन यदि वह दम्भ के मार्ग पर चलता है, दूसरो के साथ तो चल रहा है लेकिन उनका बन कर नही चलता, तो उसे यह लाभ उपलब्ध नही होगा और वह निश्चय ही किसी न किसी नैतिक सकट मे फँस जाएगा।

वास्तव मे, प्रोटैस्टेण्ट लोग जिस बात पर अधिक बल देते है वह मानव का मानव के साथ सम्बन्ध नही है बल्कि मानव का ईश्वर के साथ सम्बन्ध है। मध्यस्थ बनने वाले व्यक्तियो की उपेक्षा करो और प्रार्थनाकाल मे सीधे ही परमात्मा के सामने अपने पाप और चिन्ताओ को प्रकट करो, यही प्रोटैस्टेण्ट-वाद की एक मुख्य विधि रही है। जो व्यक्ति नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से विकसित है उसके लिए, मेरा विश्वास है, यह विधि प्राय पर्याप्त है। चरित्रवान व्यक्ति निर्मल अन्त करण और विभु तथा अपार शक्ति, जिसे ईश्वर कहते है, के साथ निर्बाध सम्पर्क का इतना महत्त्व समझता है कि इस बात की चिन्ता किए बिना ही कि उसका कर्म दूसरो को ज्ञात होगा अथवा नही वह अपने आचरणो के विषय मे बहुत ही सतर्क रहता है। लेकिन विकास-क्रम की लम्बी प्रक्रिया का यह तो साध्य है, साधन नही। परिवार मे बच्चो को स्पष्टता के आचरण और चरित्र का पाठ पढाया जाता है, और जब एक युवक मे चरित्र की कमी अथवा गिरावट आ जाती है तो, शुद्ध ऊर्ध्वोन्मुख आयाम की अपेक्षा क्षैतिज आयाम मे उसके व्यक्तित्व के पुनर्गठन की अधिक सम्भावना होती है।

नर-नारियो के जीवन मे चर्च मे साधारण रूप से उपस्थित होने और सामुदायिक पूजा का क्या मूल्य है ? यहा पर भी, धार्मिक तथा नैतिक वृत्ति वाले तथा भावात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति के सम्बन्ध मे, मुझे कोई सदेह नही है, सामूहिक पाप-स्वीकृति सहायक है और सामान्यत पर्याप्त है। लेकिन असाधारण परिस्थितियो मे, यह प्राय गम्भीर रूप से अपर्याप्त होती है और इसकी कमी को पूर्ण करने के लिए ऐसी विधियो की आवश्यकता है जिनका प्राय प्रोटैस्टेण्ट चर्च मे अभाव रहता है।

हमारे समय की बडी समस्याओ मे से एक समस्या यह है कि साधारण व्यक्ति यह नही "जानता कि वह कौन है"। यह रुग्ण-तन्त्रिकापन है। अत्यन्त विक्षुब्ध व्यक्तियो का यह विशेष अनुभव है कि वे व्यक्तित्वहीन तथा अस्तित्व-हीन अनुभव करते है। इसके विपरीत आशा भी हम क्या कर सकते है ? यदि हमारा सिद्धान्त ठीक है, तो मनोरोग का सार क्रमबद्ध ढग से अपने स्वरूप का निषेध करना है, और यदि हम अपना भ्रान्त रूप दूसरो के सामने रखते है, तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि हम स्वय अपने आपको विदेशी, विचित्र तथा "अपरिचित" लगने लगे। अपनी महान् धार्मिक कविता "स्वर्ग का पीछा करने वाला" (The Hound of Heaven) के प्रथम श्लोक का अन्त फ्रान्सिस थाम्पसन इस तीव्र विचार से करते है, "जो मुझे धोखा देता है उसे सभी वस्तुए धोखा देती है"। ऐसा प्रतीत होता है कि हम इस तथ्य से नही बच सकते कि कोई सभी अपने प्रति सच्चा होता है जब वह दूसरो के प्रति सच्चा हो। एक बहुत गम्भीर स्तर पर, शेक्सपियर यह कहते समय सच ही कहता था कि यदि हम

अपने प्रति सच्चे है तो हम किसी और के प्रति झूठे नही हो सकते। कहने का भाव यह है कि व्यक्ति का स्थायी हित उसके सामाजिक हित के साथ सगति रखता है। लेकिन दिन प्रतिदिन के आचरण मे यदि हम अपने वर्ग को अपनी कल्पना और उद्देश्यो के अनुसार ढालने का प्रयत्न करने की अपेक्षा वर्ग के जीवन मे अपना कोई स्थान प्राप्त करने की चेष्टा करें तो हमारा आधार अधिक दृढ होगा।

IX निष्कर्षात्मक टिप्पणी और सुझाव

उत्तरोत्तर यह बात प्रकट होती जा रही है कि व्यक्तित्व के विक्षोभ का केन्द्रीभूत तथ्य वास्तविक अपराध है और इसका आमूल समाधान सामाजिक रूप मे की गई पाप-स्वीकृति है। लेकिन जैसा कि हम देख चुके है (अध्याय, 4, 5, 8, और 13), ऐसा करने मे सदा घातक प्रतिक्रिया, जो मनो-विक्षिप्ति, आत्म-हत्या अथवा अन्य कोई ऐसा ही रूप ले सकती है, होती है। ऐसे सकट मे ईश्वर के प्रेम, अनुकम्पा और क्षमा के विश्वास दिलाने का कोई लाभ नही है। तो, इस प्रकार की समस्या सामने आने पर कोई पादरी क्या करे ? यहा मेरे कुछ अप्रमाणित सुझाव है, लेकिन इसमे मुझे कोई सदेह नही है कि यदि धार्मिक नेता और जन-सेवा के लिए समर्पित साधारण जन व्यक्तित्व के विक्षोभ के नैतिक आधार को गम्भीरतापूर्वक लें और जो उत्तरदायित्व वास्तव मे उन पर आता है उसे स्वीकार करें तो दृढ और प्रभावोत्पादक उपाय मिल सकते है और मिल जाएँगे। मेरे सुझाव, जो अव्यवस्थित ढग से गिनाए गए है, निम्नलिखित हैं

1 अत्यन्त विक्षोभयुक्त व्यक्तियो को निर्बाध सरक्षण और निरीक्षण प्रदान करने के लिए पादरियो और धर्माचार्य परामर्शदाताओ के पास पर्याप्त सुविधाए होनी चाहिए। यदि व्यक्तित्व के सकट की गम्भीर अवस्थाओ की इस प्रकार देखभाल की जाए तो, मेरा विश्वास है, बहुत लम्बे समय तक उन्हे सस्था मे रखने से बचाया जा सकता है। फिलडैलफिया (Philadelphia) के एक चर्च को मैं जानता हू जो ऐसी सुविधाए प्रदान करने का कार्यक्रम लागू कर रहा है, यदि आवश्यकता पडे तो वह स्थायी रूप से चर्च के सदस्यो, धर्माचार्यों और ईसाई डाक्टरो को भर्ती कर सकेगा।

2 जो व्यक्ति व्यक्तित्व के विक्षोभो से गुज़र कर स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त कर चुके है इस सम्बन्ध मे उनकी रुचि को जागृत करने और उनकी सहायता प्राप्त करने का विशेष प्रयास करना चाहिए। अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा उन्हे विक्षुब्ध व्यक्तियो से कम भय लगेगा, और प्राय इस सम्बन्ध मे उनकी अन्तर्दृष्टि अति गहन होती है और वे अत्यधिक प्रेरणापूर्ण होते है। दूसरो की देखभाल करना और दूसरो के लिए चिन्ता करना अपने आपमे रोग-निवारक है।

के नियम का उल्लघन करते है उन्हे परमात्मा का प्रेम प्रकोप के रूप मे ही प्राप्त होता है। सहृदयी मा-बाप द्वारा अपने उद्दण्ड बच्चे को ताडित करना इसकी ठीक उपमा है।

7 "रोगी" व्यक्ति की आत्म-ग्लानि और आत्म-प्रताडना की प्रवृत्तियो को बोध-गम्य, युक्ति-सम्मत, तथा एक अर्थ में उचित स्वीकार करते हुए भी इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वह प्रायश्चित्त की अवस्था से प्रतिदान, आत्म-विदारण की अवस्था से सेवा के प्रोग्राम, आत्मानुशासन, और सार्थक त्याग की ओर जल्दी अग्रसर हो। मेरे विचार मे बिजली के झटके "चिकित्सापरक" इसलिए होते हैं कि (विशेष कर विषादग्रस्त व्यक्ति को) इनसे आत्म-प्रताडना का कार्य त्वरित हो जाता है। पिछले भाषण मे हम बता चुके हैं कि किस सीमा तक दान धर्म-निरपेक्ष और व्यापारमूलक (जैसे विविध प्रकार के "बीमा") बन चुका है। जौरोस्की (Zborowski) और हरज़ोग (Herzog) की अभिनव पुस्तक 'जनता के साथ जीवन जीवन है' में परम्परागत यहूदी जीवन, जो अब पूर्वीय यूरोप के कुछ गावो मे शेप है, की एक रोचक कथा दी हुई है। वहा प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक तथा धार्मिक जीवन के प्रतिदिन के एक पहलू के रूप मे दान-क्रिया करता है। आधुनिक समाज मे दानशीलता प्रकट करने के बहुत से परम्परागत अवसर समाप्त हो चुके है, लेकिन सदा ही ऐसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बने ही रहते है जिनके लिए समय और धन का दान करना उचित होता है। इसलिए समाज की आधुनिकता के कारण दानशीलता के अवसर समाप्त नही हुए है। हा, दानशीलता को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है।

8 ईश्वर दूत पाल (The Apostle Paul) ने शुभ कर्मो के द्वारा अपना "औचित्य" सिद्ध करने के विरुद्ध चेतावनी दी है, "कही कोई व्यक्ति दम्भी न बन जाए।" तो आओ हम दम्भ तो न करें लेकिन प्रतिदान करें और विज्ञापन और आत्म-श्लाघा के बिना शुभ कर्म तो करें। प्रार्थना, विश्लेषण आदि के द्वारा पाप से छुटकारा पाने और मन को शान्ति प्रदान करने के हमारे प्रयत्न असफल रहे है। अब हमारे सामने "चिकित्सा" की सक्रिय विधि ही शेष रही है।

प्रासगिक रूप से मैं यह कहना चाहता हू कि मैं इस बात से अनभिज्ञ नही हू कि यहा जिस उपागम का सुझाव दिया गया है वह कम से कम देखने मे विरोधाभास-युक्त है व्यक्तित्व के विक्षोभ की समस्या के प्रति इसे हम अधर्मशील धार्मिक उपागम कह सकते है। यह कहना अधिक ठीक है कि यह उपागम सक्रिय रूप से धार्मिक है लेकिन परम्परागत अर्थ मे कम से कम धर्म-शास्त्र-सम्मत है। यह उपागम इस अर्थ मे धार्मिक है कि यह अस्वीकृत और असशोधित पाप को मनोरोग का केन्द्रीभूत कारण मानता है और स्वास्थ्य-लाभ के लिए पाप-स्वीकृति प्रतिदान को आवश्यक मानता है। लेकिन यह कम से कम इस अर्थ मे धर्म-शास्त्र

का अनुसरण करता है कि यह चिकित्सा की दृष्टि मे मानव-ईश्वर सम्बन्धो की अपेक्षा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो पर अधिक बल देता है क्योंकि ये पूर्वोक्त सम्बन्ध ही विघटित हुए होते हैं और अनेक उदाहरणो के अनुसार, व्यक्ति द्वारा अपने दिन प्रतिदिन के आचरण मे सुधार करने का घोर प्रयत्न करके ही इन्हे सघटित किया जा सकता है।

कुछ वर्ष पहले मैंने न्यूयार्क मे पार्क एविन्यु के एक धर्माचार्य को यह स्थिति अपनाते हुए सुना कि यदि ईश्वर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध बिगड जाते है तो अपने साथियो के साथ भी वह जल्दी ही सकट-ग्रस्त हो जाता है और जब यह घटित हो जाता है तो वह स्वभावत अपने साथ भी सकट मे फँस जाता है, इसलिए उपपत्ति के अनुसार, "चिकित्सा" अथवा उद्धार की क्रिया प्रारम्भ करने का स्थान ऊर्ध्वोन्मुखी आयाम, अर्थात् ईश्वर-मानव आयाम मे है। अनुभव के आधार पर यह मान्यता प्रमाणित नही होती। और यह मनोवैश्लेपिक मान्यता कि हमे अपने साथ सम्बन्ध सुधारने चाहिएँ निराशाजनक रही है। जो सम्भावना शेप रहती है वह अन्तर्वैयक्तिक उपागम की है, और इस उपागम की ओर इस समस्या के धर्म-निरपेक्ष विद्यार्थियो का ध्यान आकर्पित हो रहा है। और यही वह उपागम है जिसके द्वारा इस क्षेत्र मे विज्ञान और धर्म के सच्चे सम्बन्धो की आशा बँधती है। मैकोर्मिक धर्म-शास्त्रीय धर्म-विद्यामन्दिर के प्रधान (President of McCormick Theological Seminary) डा० गोर्डन मैके की "बहुत जल्दी-जल्दी प्रार्थना न करो" शीर्पक की एक वार्ता है जो वे कभी-कभी धर्माचार्यो को बताया करते हैं। मैंने स्वय तो यह वार्ता नही सुनी, लेकिन डा० मैके ने इसके सम्बन्ध मे निम्नलिखित ढग से लिखा है

> "इस वार्ता के पीछे सामान्य भाव यह है कि कर्म के विकल्प के रूप मे हम प्राय प्रार्थना का सहारा ले लिया करते है। इससे भी आगे सच्चाई यह है कि धर्माचार्य मे प्रार्थना की शरण लेना प्राय अपने अज्ञान और/अथवा नशे की आदत, वैवाहिक सम्बन्धो मे अशान्ति तथा मानसिक रोगो के कारण अन्धकारमय जीवन वाले नर-नारियो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सुलभ सामुदायिक उपायो को अपनाने की अपनी धर्मनिष्ठा को छिपाने का प्रयास है।
>
> मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाल के मुक्ति के प्रत्यय को समझने के लिए हमे यह याद करना चाहिए कि पाल धर्म-निष्ठा द्वारा औचित्य सिद्ध करने के उपदेश के साथ-साथ इस बात का भी उपदेश देना है कि हमे अपनी मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा भय तथा कम्पन के साथ करनी

चाहिए। पाल के प्रत्येक धर्मोपदेश के बाद एक अथवा दो अध्याय नैतिक शिक्षा पर है।"

और हाल मे मैंने कोलम्बस, ओह्यो में प्रथम सामुदायिक चर्च के डा० राय बुर्खार्त (Dr Roy Burkhart) को यह कहते सुना कि सवेदनशील और सुबुद्ध पादरियो मे इस पद्धति पर बल देने की प्रवृत्ति बढती जा रही है और यदि तत्त्व-विद्या सम्बन्धी मान्यताओ को कम से कम कुछ समय के लिए, भुला दे और अन्तर्वैयक्तिक आयाम पर फिर से बल दिया जाए तो मेरा विश्वास है कि कोई नया "प्रादुर्भाव" उपलब्ध हो सकता है।

(तथा सामाजिक) पुनर्निर्माण की नवीन तथा मूलत प्रभावोत्पादक विधियो के रूप मे सर्वाधिक आशाप्रद प्रतीत होता है। यहा उस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक पुन कथन करना न तो सम्भव होगा और न आवश्यक ही। इस अध्याय मे तो इस सिद्धान्त के सामान्य रूप के साथ परिचय मान कर चला जाएगा और पाद-टिप्पणी अथवा सीमान्त टिप्पणी के रूप मे कुछ नए विचारो से उसकी अभिवृद्धि की जाएगी।

I परिवर्तनशील दृष्टिकोण

पूर्वावलोकन करें तो मनोरोगचिकित्सा का वह सिद्धान्त जो दो-तीन दशक पूर्व सिद्धान्त और व्यवहार के क्षेत्र मे आच्छादित था, वास्तव मे कितना विचित्र लगता है। वास्तविक अपराध, तर्कसम्मत आत्मभर्त्सना और वास्तविक अन्त-र्वैयक्तिक बेचैनी का तथाकथित साइकोन्यूरोसिस की उत्पत्ति मे कोई हाथ नही समझा जाता था और मिथ्या नीतिपरायणता की भावना को कष्टोत्पाद के लिए सक्षम माना जाता था। दूसरे शब्दो मे बचपन के कठोर प्रशिक्षण के कारण उत्पन्न होने वाले और आगे के अनुभव तथा सामाजिक और कानूनी वास्तविकता से नितान्त अपरितोपित अति कठोर पराहम् को अधिक शक्तिशाली समझा जाता था और इसीलिए अपने अस्वीकृत तथा असशोधित दुराचरण के कारण प्रकुपित स्वस्थ, वास्तविक, सामान्य अन्त करण की अपेक्षा इसे अधिक मानसिक शान्ति भग करने वाला तत्त्व समझा जाता था। इस प्रकार का सिद्धान्त साधारण अनुभव और (सीखने का सिद्धान्त मे) प्रवलीकरण (reinforcement) तथा विलोप (extinction) के सिद्धान्तो के बारे मे हम जो जानते है, उसके विपरीत है और निदानशाला के सभी परिणामो से इसका विरोध परिलक्षित होता है, फिर भी इसे एक महान् वैज्ञानिक खोज और सास्कृतिक उपलब्धि माना जाता था।

अब, गत पाच या दस वर्षों मे स्थिति बहुत बदल गई है। अब यह नहीं माना जाता कि फ्रायड का सिद्धान्त सर्वत्र लागू होता है, बल्कि यह माना जाता है कि, यह सिद्धान्त, शायद कुछ ही उदाहरणो मे लागू हो सकता है। उदाहरण के रूप में, जोरार्ड (1958) वर्तमान स्थिति को निम्नलिखित रूप मे समझते है

> "नैदानिक अनुभव से यह सुझाव मिलता है कि न तो फ्रायड और न मोरर ही पूर्णत सच्चे है, यह देखा जा सकता है कि कुछ रुग्णतन्त्रिक रोगी ऐसे होते हैं जिनका अत करण वास्तव मे ही अति कठोर होता है, अपराध-मुक्त होने के लिए वे सभी सुखदायी क्रियाओ से, जिनमे समाज-सम्मत कर्म भी शामिल हैं, वचना आवश्यक समझते हैं। कुछ ऐसे रोगी भी मिल सकते हैं जिनकी मानसिक रचना ऐसी बन चुकी होती है जैसी मान

कब किसी व्यक्ति को (व्यावसायिक चिकित्सको के पास) भेजना है, अब अपनी सीमाए स्वीकार करते है और वे स्वय अपने रोगियो को परामर्श के लिए धर्माचार्यो के पास भेजते हैं ?

यहा इस प्रश्न का हल मिलने की आशा नही है कि क्या वास्तव मे ऐसे शेष व्यक्तियो का भी एक वर्ग है, जैसाकि फ्रायड ने कहा था, जो अन्त करण की न्यायोचित और वास्तविक वेदना से[1] दु खी होने की अपेक्षा नीति-परायणता की अति से दु खी हो। लेकिन यहा कुछ उन परिस्थितियो पर, जो स्थिति को फ्रायडीय दृष्टि से देखने का औचित्य प्रकट करती है, विचार करना निश्चय ही

---

1 इस समस्या का एक भिन्न उपागम डा०एच०जे० आइजैन्क ने अपनी पुस्तक "चिन्ता और हिस्टीरिया का गतिज्ञान" (The Dynamics of Anxiety and Hysteria) में प्रस्तुत किया है "(समाजीकरण और व्यक्तित्व पर) इस अध्याय की समाप्ति करते समय, दूसरे अध्याय में हमने मौरर और डालर्ड तथा मिलर (1950) के विचारों के जिस अन्तर की ओर ध्यान आकर्षित किया था, उस पर फिर चर्चा करना समुचित होगा। यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि इन लेखकों के सिद्धान्त विरोधी हैं, मोरर ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करता है जिसके अनुसार पराहम् की अपेक्षा 'इड' (Id) अत्यधिक शक्तिशाली है और डालर्ड और मिलर (फ्रायड से सहमत होते हुए) ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं जिसके अनुसार 'इड' की अपेक्षा पराहम् अत्यधिक शक्तिशाली था। हम अब यह देख सकते हैं कि इन सिद्धान्तों का औचित्य आधि के सम्बन्ध में ही नहीं है अपितु बहिर्मुखता-अन्तर्मुखता के सम्बन्ध में भी है। हम जिसे सबल अनुकूलन के फलस्वरूप होने वाले समाजीकरण की प्रगाढ़ता कहते हैं उसे ये लेखक पराहम् कहते हैं और जिसे कमजोर अनुकूलन के फलस्वरूप होने वाले समाजीकरण की हीनता कहते हैं उसे ये 'इड' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मौरर बहिर्मुखता के ही लक्षणों और सलक्षणों के विषय में लिखता है और डालर्ड तथा मिलर अन्तर्मुखता के ही लक्षणों और सलक्षणों के विषय में। यदि हमारे सिद्धान्त में कुछ भी सच्चाई है, तो ये दोनों ही पक्ष आधि, अथवा अत्यधिक भावुकता, अर्थात्, हिस्टीरिया और डिस्थीमिया के समान भाव की समस्या को समझने में असफल रहे हैं और जो आधिग्रस्तता के लम्बकोणीय सातत्यक हैं, उनके साथ वे जूझ रहे हैं। इस प्रकार हमारा सिद्धान्त इन लोगों के विरोधी विचारों को व्यापक रूप से समन्वित करता हुआ प्रतीत होता है। इससे 'इड' तथा पराहम् जैसी बातों को वस्तुरूप देने का जो दोष आता है उससे भी बच जाते हैं और इससे इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत भेद करने का ऐसा आधार भी सुलभ हो जाता है जिसका प्रयोगात्मक प्रमाण मिलता है और जिसके कार्य करने के नियम सर्व-विदित हैं। इन्हीं कारणों को ध्यान में रख कर हम इस सिद्धान्त को एक वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में ही प्रस्तुत नहीं करते अपितु मौरर और डालर्ड तथा मिलर के सिद्धान्तों में एक निश्चित सुधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं" (पृ० 221–222)। जौराई के समान, यहा आइजैन्क का यह सुझाव है कि जिसे वह

के कारण था जो एक घोर सत्य था। जो कैथालिक पन्थी बार-बार पाप-स्वीकृति का अनुष्ठान रचता रहता है और उससे उसे कोई लाभ नही होता उसके विषय मे क्या हम यह शक नही कर सकते (स्टैफोर्ड, 1950 से तुलना) कि यह बाध्यता-ग्रस्त-कर्म इसलिए ही चलता रहता है कि वह व्यक्ति सावधानी के साथ यह देखता है कि उसकी "पाप-स्वीकृति" से कभी समस्या हल नही होती और यह कभी समस्या की जड तक नही पहुचती ? वास्तव मे, स्थानान्तरित हुए और इसलिए देखने मे मिथ्या आधारहीन प्रतीत होने वाले अपराध के उदाहरणो की कमी नही है। इस स्थिति के केवल बाह्य अवलोकन को मूलभूत और अन्तिम न समझने के सम्बन्ध मे सावधान रहना चाहिए।

यहा प्रकट किए गए विचारो के प्रकाश मे हम यह प्रश्न कर सकते है लेकिन क्या यह सम्भव नही है कि अब स्थिति बदल चुकी है ? शायद यह सच है कि निदानशाला मे आने वाली समस्याओ मे से अधिकाश मे नैतिकता की हीनता अथवा गिरावट शामिल होती है। लेकिन तथाकथित स्वर्ण-युग मे जिसमे फ्रायड ने अपने मूल विचार बनाए और अपने सिद्धान्तो की रचना की, तो क्या तस्वीर के भिन्न होने की सम्भावना न थी ? हम, वास्तव मे, यह तो निरपेक्ष रूप से नही कह सकते कि इस प्रकार स्थिति का अर्थ लगाना असत्य है, लेकिन यह असम्भव अवश्य है। हमे याद करना चाहिए कि फ्रायड वियाना मे पैदा हुआ था और वही उसने काम किया और वियाना कभी काम-सम्बन्धी बातो मे अतिविनीतता अथवा सयम के लिए प्रसिद्ध न था। इसके साथ-साथ यह बात भी है जैसाकि प्रोग्रोफ (1956) ने हाल ही मे प्रकट किया है कि एडलर, युग और रैन्क (और स्टैकल तथा अन्य बहुत से व्यक्ति) फ्रायड से किन्ही वैयक्तिक कारणो से अलग नही हो गए, बल्कि इसलिए अलग हुए कि निदानशाला मे जो सामग्री उपलब्ध हुई उसके आधार पर उस अनुमान का औचित्य नही बनता था जोकि फ्रायड ने प्रस्तुत किया था। जो सामग्री इन्हे उपलब्ध थी वह वास्तव मे वही थी जो फ्रायड को उपलब्ध थी, लेकिन फिर भी ये लोग उसके साथ सहमत न हो सके (और भी देखिए इच्छीज़र, 1960)।

इस बात के सम्बन्ध मे तो, वास्तव मे कोई शक नही हैं कि आज की अपेक्षा आज से 60, 70 वर्ष पहले काम-सम्बन्धी नैतिकता का पालन अधिक कठोरता के साथ किया जाता था लेकिन प्रश्न यह है क्या यह उस समय बहुत ही ऊची थी अथवा यह इस समय बहुत ही नीची है ? वर्तमान स्थिति का अवलोकन करने वाले बहुत से कुशाग्र बुद्धि लोगो (लापीरे, 1959, फिट्श, 1960) का यह विचार है कि दूसरी मान्यता सच्चाई के अधिक नज़दीक है।

यह तो स्पष्ट है कि जब मानव का अपना नैतिक स्तर नीचा हो अथवा हो ही नहीं, तब की अपेक्षा जब उसका नैतिक स्तर ऊँचा हो तब उसके आत्म-

प्रताडन और इसलिए "आधिग्रस्त" होने की अधिक सम्भावना रहती है (यदि वह अपने अपराध का निर्वर्त्तन बुरी तरह करता हो)। और जैसाकि मैंने अन्यत्र कहा है (अध्याय 9) फ्रायड का "मिशन" उसके विचार के अनुसार, (देखिए फ्राम, 1959), "मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता का नया युग" प्रारम्भ करना था (वकन, 1958)। हम इस युग मे इतनी दूरी तक प्रवेश कर चुके है कि अब हम इसके भूत और भविष्य का अवलोकन भी कर सकते है, जो सम्भवत हमे पसन्द नही है। सरलतम शब्दो मे इसकी नैतिकता और उत्तरदायित्व का जो स्तर है वह जगल के पशुओं की नैतिकता का स्तर है, जिनमे से प्रत्येक अपने बारे मे और अपनी ही "प्राकृतिक आवश्यकताओ" के बारे मे सोचता है और उसे सामाजिकता का कम से कम ध्यान होता है।

हाल ही मे एक बुद्धिमती महिला ने मुझे अपनी वह बातचीत बताई जो उसने मनोविश्लेपणोन्मुख बच्चो के एक परामर्शदाता से की थी। उसने बताया कि उसका एक किशोरावस्था का लडका घर के आसपास रखी टोकरिया खाली करने का काम करता रहता है। उस क्रिया मे कभी-कभी बहुत समय लगाता है और जिद्द के साथ ऐसा करता रहता है। अब मा ने प्रश्न किया, "क्या हम उससे यह काम करवाए अथवा इस मामले मे जैसा वह चाहता है उसे वैसा करने दें ?" इसका उत्तर यह मिला, "लेकिन यदि लडका इसे नही चाहता तो उससे यह काम क्यो लिया जाए। उसने तुम्हारे परिवार मे पैदा होने की तो माग नही की थी।" मनुष्यो के आन्तरिक द्वन्द्वो की उपेक्षा करने, बच्चो को केवल "गोलमोल" रूप मे (रावर्ट फिट्श की भाषा मे) विकसित होने देने की यह एक विधि है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से और आगे चल कर, व्यक्तिगत दृष्टि से भी, (देखो, निक्स, 1937), "चिकित्सा" की यह विधि मूल "रोग" से अधिक बुरी है।

जो नए सिद्धान्त विकसित हुए है और जिनका यहा सदर्भ दिया गया है, उनके प्रकाश मे, स्वदोष स्वीकार करने वाले मनोविश्लेपक तथा समान सिद्धान्त के अनुयायी चिकित्सक अब यह कहने लगे हैं "हा, निश्चय ही, फ्रायड के मूल सिद्धान्त और उनकी बनाई हुई उपचार विधि मे दोष थे। लेकिन फ्रायड के बाद हमारे इस विज्ञान मे बहुत उन्नति हो चुकी है।" मगर, ध्यान से देखने पर, यह तथाकथित प्रगति अवगति ही दिखाई देती है। मनोविश्लेषण मे जो प्रगति बताई जाती है उसमे से एक प्रगति अचेतन मनोविज्ञान पर मूल रूप मे जो बल दिया जाता था उसे छोड़ कर "अहं मनोविज्ञान" पर, जिसमे [illegible], चरित्र-बल अथवा "अहम् शक्ति" पर बल दिया जाता था, बल देना प्रारम्भ करना है। फ्रायड के सिद्धान्त का एक केन्द्रीय लक्षण यह था कि इसमे 'अचेतन' पर बल दिया जाता था और अब इसे छोड़ दिया गया है और इसके स्थान मे "अहं मनोविज्ञान" पर बल दिया जाने लगा है, लेकिन इसके विपरीत

मे विश्लेपक स्पप्टत यह स्वीकार करते है कि वे इसके विषय मे बहुत ही कम जानते हैं क्योकि "यह इतना नवीन है और हमने अभी इसके सम्बन्ध मे खोज करना प्रारम्भ ही किया है।" साधारण जन इन समस्याओ से वहुत दिनो से सम्वन्धित रहे हैं।

इस शताब्दी मे अमरीकी मनोरोग-विज्ञान मे बीजारोपण करने वाली स्वदेशी विचारधारा हैरी स्टैक सुलीवन (जो अडोल्फ मेयर के पथ का अनुसरण करती है) की है, जिसमे मनोरोग की समस्याओ की अन्तर्वैयक्तिक प्रकृति पर वल दिया है, जो वल, लगभग सभी नव्य फ्रायडवादियो, जिनमे ऐरिक फ्राम और फ्रीड फ्रोम-रीछमन भी शामिल है, से प्रतिध्वनित होता है। लेकिन क्या यह नवीन है? ऐतिहासिक दृप्टि से पूरे ससार भर मे यह माना जाता रहा है कि "पाप" और "रोग" के वीच अर्थात् एक व्यक्ति जो दूसरो के साथ करता है और जो उसके साथ होता है, उनके वीच, निकट सम्बन्ध है। ईश्वरदूत पाल ने इसे ईसाई रूप तव प्रदान किया जव उन्होने यह घोपणा की कि "पाप का मूल्य मौत है," मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक मौत है (यह उस सम्पन्न जीवन के विपरीत है जो पापरहित जीवन से प्राप्त होता है), लेकिन यह सिद्धान्त अब विश्वव्यापी है, केवल ईसाइयो तक ही सीमित नही।[2]

नही, फ्रायड के अनुयायी अपने सिद्धान्तो और व्यवहार-प्रक्रिया मे जो परिवर्तन और सशोधन करना चाहते हैं वे फ्रायड के सिद्धान्त की मूल दिशा मे उस का विस्तार प्रकट नही करते, वल्कि "पीछे की दिशा मे गति" को प्रकट करते

---

2 इस पत्र को लिखने के बाद, डा० पैरी लन्दन और मैंने "अपराध की प्रकृति और उसकी व्यवस्था" पर स्नातक स्तर की एक विचार-गोष्ठी की। प्रतिक्रिया स्वरूप फ्रायडवादी विद्यार्थियों ने यह टिप्पणी की (1) मनोविश्लेपणवाद अभी "नवजात विज्ञान" है और इसे अपनी क्षमता प्रकट करने का समुचित अवसर नहीं मिला। इस पत्र में जो सकेत दिए हैं उनका अनुसरण करने वाले को इस आशावादिता का (यदि इसे कोई ऐसा कहे) आधारहीन होना स्पष्ट हो जाएगा। और (2) एक सम्बन्धित विचार यह स्वीकार करने पर भी कि मनोविश्लेपणवाद हमारे साथ लगभग आधी शताब्दी से है, और ससार में विशेष सुधार नहीं हुआ, क्या इसके लिए अन्य तत्त्व जैसे बड़े नगरों का विकसित होना, मूल वर्ग सम्पर्कों की समाप्ति, मोटर गाड़ी, टलीविजन, दो विश्व-युद्ध आदि उत्तरदायी नहीं हैं? दूसरे शब्दों में हमारे सभी रोगों के लिए मनोविश्लेपणवाद (फ्रायडीय नीति) को ही दोषी क्यों बताते हो? ऐतिहासिक प्रगति अथवा अधोगति, वास्तव में, सदा ही जटिल और बहुमुखी होती है, और कोई भी यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि हमारे समाज की व्यापक रुग्णावस्था के लिए केवल मनोविश्लेपण ही उत्तरदायी है। लेकिन विविध प्रकार के जो प्रमाण रूप उपलब्ध हैं उनके प्रकाश में हमें इस मान्यता को, कि मनोविश्लेपण ही एकमात्र उपचार है, अधिक सावधानी से अपनाना चाहिए।

है। वे वास्तव मे पुनरावर्तन है, जिन्हे रुचिकर शब्दो—भ्रामक शब्दो—मे "प्रगति" कह दिया गया है।

II यदि सभी व अ है तो क्या सभी अ व है ?— अथवा "ईश्वर अपना प्रकोप प्रकट करने मे विलम्ब करता है"

अनेक अवसरो पर इस परिकल्पना की, कि नैतिक गिरावट और मनोरोग मे कोई सम्बन्ध है, ऐसी घातक समझी जाने वाली आलोचना प्रस्तुत की जाती है। विविध रूपो मे प्रकट की जाने वाली इस आलोचना का स्वरूप यह है यदि सभी आधिग्रस्त और क्रियापरक विक्षिप्त व्यक्तियो का अस्वीकृत एव असशोधित वास्तविक अपराध का इतिहास होता है, तो क्या सभी पापी, अपराधी व्यक्ति आधिग्रस्त अथवा विक्षिप्त होते है ? स्पष्ट ही उत्तरोक्त कथन सच नही है। इसमे विख्यात सोपाधिक दोप का सहारा लेकर जो यह तर्क दिया गया है उससे मानसिक रोगो के कारण के रूप मे नैतिक विचारो पर जो बल दिया जाता है, उसकी निन्दा का प्रयास किया गया है। अन्यत्र (अध्याय 3) मैंने उन व्यक्तियो के वर्ग की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है जिनका आचरण पूर्णत पापमय और समाज-विरुद्ध होता है, लेकिन उनमे इतना चरित्र,अथवा "साधारण भद्रता" ही नही होती कि वे विक्षिप्त बन जाए। गम्भीरता के साथ "विक्षुब्ध" होने के लिए पर्याप्त स्तर का व्यक्तित्व चाहिए, वास्तव मे आधि और विक्षिप्तता के दौरो का वेग उनके चरित्र-बल को प्रमाणित करता है।

और यह बात भी है कि कुछ लोगो मे अपनी त्रुटियो को शीघ्र ही सुधारने की सद्वृत्ति होती है और इस प्रकार वे पाप, कलक, "आधि" की स्थायी अवस्था मे गिरने से अपने आपको बचा लेते है। लेकिन इन विचारो के अतिरिक्त (अध्याय 10) एक और तथ्य है जिसके बारे मे मैं विस्तारपूर्वक कहना चाहूगा।

यदि आप कर सके, तो एक ऐसे झूमा-झूमी खेल (teeter-totter) की कल्पना करें, जैसा कि चित्र 1 मे दिया गया है। हम मान लेते है कि एक बच्चा सामान्य अवस्था मे इसकी बाईं ओर पैदा होता है। उसे पहले ही अपने आपको "सिद्ध" करने की आवश्यकता नही होती। उसे प्यार किया जाता है, अपनाया जाता है, उसका "आदर किया जाता है" क्योंकि वह हमारा बच्चा होता है—और प्रारम्भ मे कोई अपराध नही कर सकता। लेकिन फिर, जैसे ही महीने और वर्ष बीतते जाते है हम उससे "अच्छा बनने" की माग करने लगते है। उसके लिए अब हमारी स्वीकृति स्वाभाविक और निरपेक्ष नही होती। एक शब्द मे, बच्चे का समाजीकरण प्रारम्भ हो चुका होता है। यह मान लेते है कि इस सम्बन्ध मे सब ठीक हो रहा है, कभी-कभी शरारत (पाप का छोटा रूप) करने के अतिरिक्त, यह बच्चा मूलत अच्छा रहता है, अर्थात् लोगो की प्रशसा, सम्मान

मे विश्लेपक स्पष्टत यह स्वीकार करते हैं कि वे इसके विषय मे बहुत ही कम जानते हैं क्योकि "यह इतना नवीन है और हमने अभी इसके सम्बन्ध मे खोज करना प्रारम्भ ही किया है।" साधारण जन इन समस्याओ से बहुत दिनो से सम्वन्धित रहे हैं।

इस शताब्दी मे अमरीकी मनोरोग-विज्ञान मे वीजारोपण करने वाली स्वदेशी विचारधारा हैरी स्टैक सुलीवन (जो अडोल्फ मेयर के पथ का अनुसरण करती है) की है, जिसमे मनोरोग की समस्याओ की अन्तर्वैयक्तिक प्रकृति पर वल दिया है, जो वल, लगभग सभी नव्य फ्रायडवादियो, जिनमे ऐरिक फ्राम और फ्रीड फ्रोम-रीछमन भी शामिल है, से प्रतिध्वनित होता है। लेकिन क्या यह नवीन है? ऐतिहासिक दृष्टि से पूरे ससार भर मे यह माना जाता रहा है कि "पाप" और "रोग" के वीच अर्थात् एक व्यक्ति जो दूसरो के साथ करता है और जो उसके साथ होता है, उनके वीच, निकट सम्वन्ध है। ईश्वरदूत पाल ने इसे ईसाई रूप तव प्रदान किया जव उन्होने यह घोषणा की कि "पाप का मूल्य मौत है," मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक मौत है (यह उस सम्पन्न जीवन के विपरीत है जो पापरहित जीवन से प्राप्त होता है), लेकिन यह सिद्धान्त अव विश्वव्यापी है, केवल ईसाइयो तक ही सीमित नही।[2]

नही, फ्रायड के अनुयायी अपने सिद्धान्तो और व्यवहार-प्रक्रिया मे जो परिवर्तन और सशोधन करना चाहते हैं वे फ्रायड के सिद्धान्त की मूल दिशा मे उस का विस्तार प्रकट नही करते, वल्कि "पीछे की दिशा मे गति" को प्रकट करते

---

2 इस पत्र को लिखने के वाद, डा० पैरी लन्दन और मैंने "अपराध की प्रकृति और उसकी व्यवस्था" पर स्नातक स्तर की एक विचार-गोष्ठी की। प्रतिक्रिया स्वरूप फ्रायडवादी विद्यार्थियों ने यह टिप्पणी की (1) मनोविश्लेषणवाद अभी "नवजात विज्ञान" है और इसे अपनी क्षमता प्रकट करने का समुचित अवसर नहीं मिला। इस पत्र में जो सकेत दिए हैं उनका अनुसरण करने वाले को इस आशावादिता का (यदि इसे कोई ऐसा कहे) आधारहीन होना स्पष्ट हो जाएगा। और (2) एक सम्वन्धित विचार यह स्वीकार करने पर भी कि मनोविश्लेषणवाद हमारे साथ लगभग आधी शताब्दी से है, और ससार में विशेष सुधार नहीं हुआ, क्या इसके लिए अन्य तत्व जैसे वडे नगरों का विकसित होना, मूल वर्ग सम्पर्कों की समाप्ति, मोटर गाडी, टेलीविजन, दो विश्व-युद्ध आदि उत्तरदायी नहीं हैं? दूसरे शब्दों में हमारे सभी रोगों के लिए मनोविश्लेषणवाद (फ्रायडीय नीति) को ही दोषी क्यों बनाते हो? ऐतिहासिक प्रगति अथवा अधोगति, वास्तव में, सदा ही जटिल और बहुमुखी होती है, और कोई भी यह प्रमाणित नहीं कर सकता कि हमारे समाज की व्यापक रुग्णावस्था के लिए केवल मनोविश्लेषण ही उत्तरदायी है। लेकिन विविध प्रकार के जो प्रमाण अब उपलब्ध हैं उनके प्रकाश में हमें इस मान्यता को, कि मनोविश्लेषण ही एकमात्र उपचार है, अधिक सावधानीपूर्वक अपनाना चाहिए।

और विश्वास प्राप्त करना सीखता जाता है। हम कहते है कि बच्चे का विकास ठीक हो रहा है और इसके लिए वह हमारी "श्लाघा" का पात्र है जिसे झूमा-झूमक (tecter-totter) के बाए सिरे के "डिब्बे" से प्रकट किया गया है।
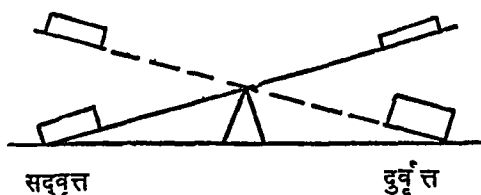
चित्र 1 चित्र यह प्रदर्शित करता है कि आत्म-सम्मान की निरन्तर बढती हुई क्षति (लगातार पापाचरण के फल स्वरूप) का परिणाम किस प्रकार अचानक भावात्मक "असतुलन" अथवा "भावात्मक विघटन" हो सकता है। फिर अपने जीवन में 'सद्वृत्त' की इतनी अधिक वृद्धि करके कि वह दुर्वृत्त को दबा सके "सतुलन ठीक किया जा सकता" अथवा पुनर्स्थापित किया जा सकता है।

वर्ष बीतते जाते है। यह बच्चा किशोर बन जाता है और अब अपने मा-बाप के निकट सरक्षण और दिग्दर्शन मे नही रहता। अब वह (लडकी अथवा लडका) अपने पखो की परीक्षा वास्तविकता के सदर्भ मे करने लगता है। हमारे युवक प्रश्न करते हैं, कि यदि वह "निषिद्ध फल" चख लेता है तो क्या होगा। और मान लीजिए कि वह झूमा-झूमक (tecter-totter) के बुरे सिरे की ओर कुछ चहल कदमी करता है और फिर अच्छे सिरे की ओर वापिस आ जाता है। हमारे इस साहसिक को बाद मे थोडा सा भय अथवा "अपराध" अनुभव हो सकता है। और यदि वह "सावधान" है और अपने "उपद्रव" का "प्रचार" नही करता, तो उसे आदम और ईव की तरह यह अनुभव हो सकता है कि कुछ नही होता। तब वह और भी विचरण करने लगता है शायद उसे उसके मा-बाप ने, समाज ने प्रवचित किया है। शायद, जैसा कि हम 1920 के दशक मे कहा करते थे, नैतिकता तो "कूडेदान" (bunk) है और इसका पालन करने पर एक व्यक्ति सभी अच्छी बातो मे हाथ धो बैठना है।

रोग कथा परिचित लिपि का अनुसरण करती है। हमारा काल्पनिक युवक जीवन के ऊँच-नीच के झूले के बुरे सिरे पर मुड कर बार-बार आ जाता है और अन्त मे 'अपने दिल मे' उसी पर रहने का निश्चय कर लेता है, लेकिन बाहर से

इसे स्वीकार नही करता। अब दूसरे सिरे का डिब्बा भरता रहता है। और अन्त मे एक दिन ऐसा आता है—शायद अपेक्षाकृत शीघ्र,शायद कुछ वर्षो के ही बाद—जब बहुत ही "रहस्यपूर्ण" घटना घटती है 'ऊच-नीच का झूला' ऐसी स्थिति मे झुक जाता है जिसे टूटी हुई रेखा से प्रकट किया है, और हम छोटी आयु के (जो शायद अब इतनी छोटी आयु का नही रहता) अपने मित्र के विषय मे चर्चा करते हैं कि उसे तन्त्रिका-भग हो गया है, वह अपना सतुलन खो बैठा है, वह अस्थिर हो गया है।

अब, ऐसे सकट मे ग्रस्त व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए क्या कर सकता है? हमारे समय मे समान रूप से भ्रामक दो उत्तर इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रोटैस्टेण्ट धर्म-शास्त्री "निष्ठा के आधार पर औचित्य स्थापित करने" का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। हमसे कहा जाता है कि परमात्मा मे निष्ठा रखो और ईसा मसीह मे विश्वास करो और आपके सब पाप क्षमा कर दिए जाएगे। और उन लोगो के लिए, जो "धार्मिक" पद्धति की अपेक्षा वैज्ञानिक उपागम अधिक पसद करते है, "अन्तर्दृष्टि द्वारा औचित्य स्थापित करने का सिद्धान्त" है। दूसरे सुकार्य मे, व्यक्ति यह समझता है कि उसके पाप वास्तविक नही हैं और उसे क्षमा की आवश्यकता नही है। यह निश्चित करना तो कठिन है कि इन दोनो सिद्धान्तो मे से कौनसा सिद्धान्त अधिक घातक है। अपनी पुस्तक-"शिष्यत्व का मूल्य" (The Cost of Discipleship, 1958) मे बानहाफर ने व्यक्तिगत उद्धार और परिवर्तन के लिए प्रोटैस्टेण्ट उपागम को "सस्ती अनुकम्पा" का सिद्धान्त बता कर उसकी बडे प्रभावोत्पादक ढग से निन्दा की है। और यद्यपि आर्थिक दृष्टि से मनोविश्लेषण को तो "सस्ता" नही कहा जा सकता, इसके प्रधान परामर्श का आधार यह मान्यता रही है कि एक व्यक्ति बिना किसी परेशानी अथवा कष्ट के अपने नरक से निकलने का मार्ग खरीद सकता है।

जो लोग "मुक्ति" के इन दोनो सरल उपायो के विषय मे निर्भ्रान्त हो चुके हैं, उन्हे यह स्पष्ट होने लगा है कि "मार्ग" वास्तव मे कठिन है और उसका दरवाज़ा सकुचित है। भावनात्मक दृष्टि से विक्षुब्ध व्यक्ति अपने कष्टो की बात नही कहते, वे दुष्कर्म, दुराचरण कर चुके होते हैं, और बहुत से लोग अब इस मत के बनते जा रहे हैं कि केवल बातचीत (अथवा प्रार्थना) के द्वारा वे अपने कष्टो से बाहर नही निकल सकते। जिन दुष्कर्मों के लिए हम न कोई पश्चात्ताप करते हैं और जिनका उद्धार भी नही हुआ होता, वे ही हमारे आत्म-सम्मान और नैतिक निधि का क्षय करते हैं, और हम इस निष्कर्ष से कैसे बच सकते है कि शुभ कर्मो के द्वारा इनके लिए प्रतिदान किए बिना हम उन्हे और किसी उपाय से नही प्राप्त कर सकते (अध्याय 12)।

देकर उसे ठीक कराया जा सकता है तब तक दुराचरण के फलस्वरूप होने वाले (जिसके कारण वास्तव मे इसे दुराचरण कहा जाता है) उस खतरे को स्वीकार नही किया जाएगा जिसे स्वीकार किया जाना चाहिए। लेकिन इन सम्बन्धो के विचार को इस सीमा तक तिलाजलि दी जा चुकी है कि अब यह समझना कठिन हो गया है कि भावी चिकित्सा-पद्धति अथवा जिसे सामान्य रूप से "मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान" कहते है उसमे परिवर्तन लाने के लिए क्या करना चाहिए।

समाप्त करते हुए यहा यह ध्यान मे रखना चाहिए कि आजकल बहुत से धार्मिक नेताओ के मन मे परिवर्तन के प्रत्यय मे रुचि जागृत हुई है। लेकिन इसमे परम्परागत "पुनर्जागृति" की परम्परागत सभा के भावात्मक पहलू शामिल नही है।

III जब मनोविश्लेपण असफल हो जाता है तो क्या होता है ?

बहुत से अध्ययनो (औसुवेल, 1960, कार्टराइट, 1959, डौलार्ड, 1945, आइजेन्क, 1952, मैसरमन और मोरेनो, 1959, उवैल, 1958) से यह सकेत प्राप्त हो चुका है कि धर्म-निरपेक्ष चिकित्सा का कोई भी वह रूप जो बहुत से वर्षों मे प्रचलन मे रहा है और जिसका प्रयोग बहुत से चिकित्सक करते रहे हैं यह दावा नही कर सकता कि उसकी कोई स्थायी उपलब्धि हुई है (देखो अध्याय 1)। और जब स्वत ही होने वाले उद्धार की सम्भावना को ध्यान मे रखते है तो इसकी उपलब्धि बिल्कुल शून्य ही दिखाई देती है। दूसरे शब्दो मे, जिन बन्धनो की चिकित्सा नही की गई वे भी वैसे ही निकलते हैं जैसे कि वे बन्धन जिनकी चिकित्सा की गई है।

व्यावसायिक क्षेत्रो मे (उदाहरणार्थ देखो फ्रोम-रीशमन और मोरेनो, 1956)

से विपरीत दिशा मे रहा है—और केवल कुछ ही ऐसे उदाहरण जिनमे यह वास्तव मे ही लाभप्रद रहा है प्रस्तुत कर सकता है।

जैसा कि बकन (1958) ने कहा था—मनोविश्लेषणवाद का सर्वाधिक प्रभाव, व्यक्तिगत चिकित्सा के रूप मे नही रहा (हा यह प्रभाव महान् तो था ही), बल्कि एक व्यापक सामाजिक विचारधारा और व्यक्तिगत जीवन-दर्शन के रूप मे रहा है। स्टैनफार्ड समाज-शास्त्री, प्रोफैसर रिचार्ड लापीरे ने अपनी पुस्तक 'फ्रायडीय नीति-शास्त्र' (1959) मे इस विचार के पक्ष मे अनेक उपयुक्त तर्क दिए हैं कि व्यक्तिगत चिकित्सा के अपने रूप की अपेक्षा सामाजिक विचारधारा और दर्शन के अपने रूप मे मनोविश्लेषण अधिक शरारतपूर्ण रहा है क्योकि अपने इस रूप मे इसने अधिक व्यक्तियो को प्रभावित किया है।
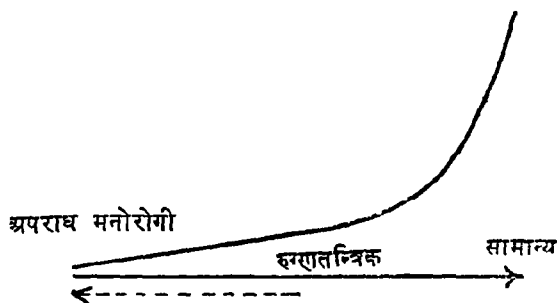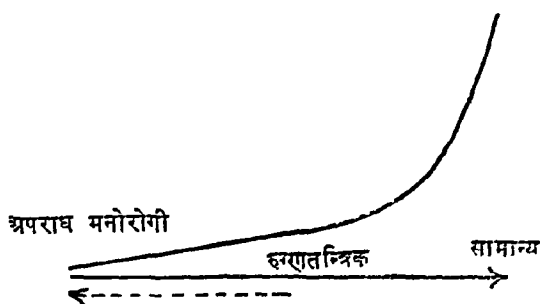
चित्र 3 चरित्र प्रकारों का अधिक यथार्थ परिचायक वक्र। यहा यह स्पष्ट हो जाता है कि "चिकित्सा" की जो पद्धति रुग्णतन्त्रिक व्यक्ति को "बाइ ओर" अग्रेषित करती है वह यदि सफल हो जाती है, तो रोगी अपराध-मनोरोगी बन जाता है न कि सामान्य व्यक्ति।

IV पैरेनौइया और सामाजिक-अपराध रोग

यदि एक व्यक्ति यह मत अपनाता है कि आधि के उत्पन्न होने का कारण व्यक्तिगत उत्तरदायित्वहीनता अथवा अपरिपक्वता (देखो चित्र 3) नही है बल्कि वे अति उच्च नैतिक मानदण्ड है जो अति कठोर और विवेक-शून्य मा-बाप (और समाजीकरण करने वाले अन्य व्यक्ति) व्यक्ति के मन मे उस समय बिठा देते हैं जब वह बच्चा ही होता है (देखो चित्र 2), तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस व्यक्ति को उसके आधिमूलक कष्टो के लिए दोष नही देना चाहिए। यह व्यक्ति उसका पिता, माता, भाई-बहिन, अध्यापक, धर्माचार्य अथवा अन्य कोई और हो सकता है, लेकिन वह स्वय नही हो सकता। और शीघ्र ही विश्लेषित व्यक्ति को पता चलता है कि वह इस घातक सरक्षण मे आत्म-ग्लानि

से विपरीत दिशा मे रहा है—और केवल कुछ ही ऐसे उदाहरण जिनमे यह वास्तव मे ही लाभप्रद रहा है प्रस्तुत कर सकता है।

जैसा कि वकन (1958) ने कहा था—मनोविश्लेपणवाद का सर्वाधिक प्रभाव, व्यक्तिगत चिकित्सा के रूप मे नही रहा (हा यह प्रभाव महान् तो था ही), वल्कि एक व्यापक सामाजिक विचारधारा और व्यक्तिगत जीवन-दर्शन के रूप मे रहा है। स्टैनफार्ड समाज-शास्त्री, प्रोफैसर रिचार्ड लापीरे ने अपनी पुस्तक 'फ्रायडीय नीति-शास्त्र' (1959) मे इस विचार के पक्ष मे अनेक उपयुक्त तर्क दिए है कि व्यक्तिगत चिकित्सा के अपने रूप की अपेक्षा सामाजिक विचारधारा और दर्शन के अपने रूप मे मनोविश्लेपण अधिक शरारतपूर्ण रहा है क्योकि अपने इस रूप मे इसने अधिक व्यक्तियो को प्रभावित किया है।

चित्र 3 चरित्र प्रकारों का अधिक यथार्थ परिनायक वक्र। यहा यह स्पष्ट हो जाता है कि "चिकित्सा" की जो पद्धति रुग्णतन्त्रिक व्यक्ति को "बाइ' ओर" अग्रेषित करती है वह यदि सफल हो जाती है, तो रोगी अपराध-मनोरोगी वन जाता है न कि सामान्य व्यक्ति।

IV पैरेनौइया और सामाजिक-अपराध रोग

यदि एक व्यक्ति यह मत अपनाता है कि आधि के उत्पन्न होने का कारण व्यक्तिगत उत्तरदायित्वहीनता अथवा अपरिपक्वता (देखो चित्र 3) नही है वल्कि वे अति उच्च नैतिक मानदण्ड है जो अति कठोर और विवेक-शून्य मा-वाप (और समाजीकरण करने वाले अन्य व्यक्ति) व्यक्ति के मन मे उस समय विठा देते है जव वह बच्चा ही होता है (देखो चित्र 2), तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस व्यक्ति को उसके आधिमूलक कष्टो के लिए दोप नही देना चाहिए। यह व्यक्ति उसका पिता, माता, भाई-वहिन, अध्यापक, धर्माचार्य अथवा अन्य कोई और हो सकता है, लेकिन वह स्वय नही हो सकता। और शीघ्र ही विश्लेपित व्यक्ति को पता चलता है कि वह इस घातक सरक्षण मे आत्म-ग्लानि

और कैसे करना चाहिए। लेकिन कठिनाई यह है कि हम इस प्रकार अपने बच्चो को चरित्रहीन बना कर विकसित करते है।

एक दूसरे राज्य मे मेरे एक भाषण के बाद एक प्रौढावस्था की महिला आँखो मे आँसू भरे हुए अपने युवा लडके के विषय मे बोली वह स्वय एक सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप मे प्रशिक्षित है और बहुत वर्षो तक "अपना विश्लेषण" कराता रहा है और अब भी करा रहा है। और अपनी चिकित्सा के भाग के रूप में उसे अपने सभी कष्टो के लिए अपनी मा को दोषी समझने के लिए और उससे कोई सम्बन्ध न रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने दृष्टिकोणो मे दिन प्रतिदिन 'पैरेनौइड' और विद्वेषपूर्ण होता जा रहा है। हाल ही मे एक मनोवैज्ञानिक ने मुझे (दुर्भाग्य से सकेत कही रख कर भूल गया हू) एक घटक-विश्लेषण के सम्बन्ध मे किए गए अध्ययन के विषय मे बताया जिसमे पैरेनौइड और समाज-अपराधमूलक (सोश्योपैथ) लक्षण एक ही घटक से निकले है। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है क्योकि दोनो प्रकार के व्यक्ति अपने कष्टो को "बाहर" देखते है जैसाकि यथार्थ मे समाज-अपराधी (सोश्यो-पैथ) के सम्बन्ध मे है, और यद्यपि पैरेनौइड व्यक्ति ने समाज-अपराधी (सोश्यो-पैथ) की अपेक्षा अपनी सस्कृति के नीति-मानो को अधिक आत्मसात् किया होता है वह उनका इतनी सबलता के साथ परित्याग करता है कि वह केवल प्रक्षिप्त रूप मे ही उनका अनुभव कर सकता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि हमने एक ऐसी विचार-धारा, और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो की योजना को "चिकित्सा-पद्धति" के रूप मे अपनाया है जिसके विषय मे हम अब यह देख रहे है कि वह हमे व्यक्तित्व के कष्टो के अधिक भद्र रूपो (विषाद, चिंता आदि) से सामान्य अवस्था की ओर नही ले जाती बल्कि मनुष्य को ज्ञात व्यक्तित्व के विचलन के दो सर्वाधिक अभद्र रूपो की ओर ले जाती है।[3]

---

3 यहा मैं उस प्रश्न पर भी टिप्पणी करना चाहता हू, जो इस पत्र के मूल तर्क के सम्बन्ध में किया जाता है। जैसाकि हम जानते हैं, कम से कम चिकित्सा की वर्तमान विधि से विषाद की चिकित्सा की तो सम्भावना है लेकिन अन्तराबन्ध (शिझोनिया) की कम है। ऐसा क्यों है? इस समस्या के बहुत से समकालीन विचार्थी इस बात से सहमत हैं कि विषाद प्रधानत "मानसिक" होता है अर्थात् इसमें व्यक्तिगत समस्याओं पर सोचना शामिल होता है और अधिक दिनों तक ऐसा करने के कारण ऐसा रूप बन जाता है, लेकिन अन्तराबन्ध का आधार शरीर-रचना होता है अर्थात् वे अन्तर्जन्य होते हैं। 1936 की अपनी पुस्तक "आन्तरिक जगत् का मन्थन" में एन्टन बौइसन ने कौतुहल उत्पन्न करने वाली एक ऐसी परिकल्पना प्रस्तुत की है जिसकी ओर कम ध्यान दिया गया है वह यह है कि अन्तराबन्ध स्थायी होता जाता है और "आगे की ओर बढता जाता है" क्योंकि जो व्यक्ति इस विकार को प्रदर्शित करता है, अपना अपराध स्वीकार करने से मना करता है और उसके

Bakan, D (1958a) *Sigmund Fieud and the Jewish Mystical Tradition* Princeton, N J D Van Nostrand Co [125, 127, 128, 129, 136, 253, 263] —(1958b) Moses in the Thought of Freud *Commentary*, 26, 322-331 [127]

Barth, K (*See* Niebuhr, (1960) [204]

Berg, C (1948) *The Case Book af a Medical Psychologist* New York W W Norton [135]

Berg, R H (1960) Psychiatry, the Troubled Science *Look Magazine*, 24, 33-60 [157]

Blake, J A (1955) Happiness Versus Reality *Understanding the Child*, 24, 44-45 and 59 [1]

Boder D P (Personal communication) [180]

Boisen, A T (1926) Chal lenge to our Seminaries *Christian Work*, 120, 110-112, [66, 67, 79] —(1936) *The Exploration of the Inner World* New York Harper & Bros [26, 27, 28, 40, 42, 69, 79, 92, 112, 141, 143, 180, 265] —(1944) Niebuhr and Fosdick on Sin *Chicago Seminary Register*, 34, 12-14 [73] —(1945) *Churches of Crisis and Custom* New York. Harper & Bros [156] —(19 52) The Genesis and Significance of Mystical Identification in Cases of Mental Disorder *Psychiatry*, 15, 287-296 [35] —(1958) Religious Experience and Psychological Conflict *Amer Psychol*, 13, 568-570 [108, 110, 116] — (Personal communication) [70, 71, 72] —[69, 70, 75, 78, 80, 87, 142, 143]

Bonhoeffer, D (1948) *The Cost of Discipleship* New York The Macmillan Co (original German edition published in 1937) [111, 120, 165, 210, 257] —(1954) *Life Together* New York Harper & Bros [119, 164, 212, 215, 240]

Boring, E G (1950) The Influence of Evolutionary Theory upon American Psychological Thought In *Evolutionary Thought in America* (Stow Persons, ed) New Haven, Conn Yale University Press [4, 5, 6]

Brengle, S L (1948) *Helps to Holiness* London Salvationist Publishing & Supplies, Ltd [135]

Bridgman, P W (*See* Boring, 1950) [6]

Brower, D and Abt, L E (Eds) (1960) *Progress in Clinical Psychology* New York Grune & Stratton [247]

Buber, M (1938) What is man, in *Between Man and Man*

Daniel, The Prophet [31]
Darwin, C (*See* Boring, [1950) [6] —[8, 124, 137]
deGrazia, S (1952) *Errors of Psychotherapy* Garden City, N Y Doubleday & Co [133]
Descartes, R [6]
Dewar, L (1959) *The Holy Spirit and Modern Thought* London Mowbray & Co [139]
Dewey, J (*See* Boring, 1950) [4, 5, 73]
DeWire, H (1958) Personal Communication [124]
Dollard, J (1945) The Acquisition of New Social Habits In *The Science of Man in World Crisis* (R Linton, ed) New York Columbia University Press [165, 260] —[165]
Dollard, J and Miller, N E (1950) *Personality and Psychotherapy* New York McGraw-Hill Book Co [250] —(*See* Eysenck, 1957) [250]
Douglas, L C (1929) *Magnificent Obsession* Boston Houghton-Mifflin [155, 220] —(1939) *Dr Hudson's Secret Journal* Boston Houghton-Mifflin [155, 220] —[15, 155, 208]
Edwards, J (*See* Niebuhr, 1960) [204]
Eglash, A (1958) Offenders' Comments on Creative Restitution *J Social Therapy*, *4*, [185] —(1960) *Creative Restitution Guidance and Rehabilitation of Offenders* (in preparation) [113]
Eglash, A , and Papenek, E (1959) Creative Restitution A Correctional Technique and a Theory *J Indiv Psychol* , 15, 226-232 [185]
Eliot, T S (1959) *The Elder Statesman*, a play New York Farrar, Straus & Cudahy [83]
Ellis, H [27, 164]
Eysenck, H J (1952) The Effects of Psychotherapy An Evalution *J Consult Psychol* , 16, 319 324 [260] —(1957) *The Dynamics of Anxiety and Hysteria* New York F A Praeger [250-251] — (1960) What's the Truth about Psychoanalysis? *Reader's Digest*, 76, 38-43 [148]
Fagley, R M (1960) *The Population Explosion and Christian Responsibility* New York Oxford University Press [232]
Federn, P (1952) *Ego Psychology and the Psychoses* New York Basic Books [37]

Hocking, W E [73]

Hollingshead, A Redlich, F. (1958) *Social Class and Mental Illness* New York John Wiley & Sons [165]

Holman, C T (1943) On Being A Real Person (by H E Fosdick) A Review *J Religion*, *23*, 214-215 [85, 211 215]

Hordern, W (1955) *A Layman's Guide to Protestant Theology* New York The Macmillan Co [202]

Huss, M [10]

Ichheiser, G (1960) On Freud's Blind Spots Concerning Some Obvious Facts *J, Indiv Psychol*, *16*, 45-55 [252]

James, The Apostle [121, 210]

Jellinek, A (*See* Bakan, 1958a) [126]

Joint Committee on Relations between Psychology and Psychiatry (1960) Report on Relations between Psychiatry and Psychology *Amer Psychol*, *15*, 198-200 [243]

Jones, E (1953-57) *The Life and Work of Sigmund Freud, Vols 1-3* New York Basic Books 21 [53]

Jones, E S [155]

Jourard, S M (1958) *Personal Adjustment—An Approach Through The Study of Healthy Personality* New York The Macmillan Co [29, 30, 38, 141, 248,250]

Jung, C G (1938) *Psychology and Religion* New Haven Yale University Press [29] —[23, 26, 252]

Kant, E [138]

Kierkegaard, S A (1849) *Sickness Unto Death* (W Lowrie-Trans , 1941) London Oxford University Press [177] —(1855) *Attack Upon Christendom* (W Lowrie, trans , (1956) Princeton, N J Princeton University Press [160] --[187, 267]

Kirkendall, L A (1960) A View point on Morality (Mimeographed Corvallis, Oregon) [164] —[239]

Kubie, L S (1956) Some Unsolved Problems of Psychoanalytic Psychotherapy In *Progress in Psychotherapy* (Fromm-Reichmann & Moreno, eds) New York Grune & Stratton [48, 76, 136] —(*See* Fromm-Reichmann & Moreno, (1956) [3]

LaPiere, R (1959a) *The Freudian Ethic* New York Duell, Sloan & Pearce [148, 150, 152, 154, 174, 252, 263] —(1959b) The Apathetic Ethic *Sat Rev*, August 1, 40-45

[148-150]
Lee, Katie [56, 77]
Levitsky, A (1960) *An Approach to the Theory of Psychotherapy* Unpublished [30]
Levy, D (Personal Communication) [168]
Lifton, W M (1953) Counseling and the Religious View of Man *Personnel & Guide J*, *31*, 366-367 [1]
Lin, Yutang (1948) *The Wisdom of Laotse* New York Random House [201]
Link, H C (1936) *Return To Religion* New York Macmillan Co [12, 253]
London, P [254]
Lowy, S, and Gutheil, E A (1956) Active Analytic Psychotherapy In *Progress In Psychotherapy* (Fromm-Reichmann & Moreno, eds) New York Grunne & Statton [24]
Luther, M [10, 117, 118, 121, 205-207, 211]
McCann, R V (1957) *Delinquency Sickness or Sin?* New York Harper & Bros [55-56]
McKay, A R (1960) Personal Communication [245-246]
Macalpine, Ida, and Hunter, R A (1956) *Schizophrenia, 1677 A Psychiatric Study of an Illustrated Autobiographical Record of Demoniacal Possession* London W Dawson [129]
Marx, K [190]
Marzolf, S S (*See* Shoben, 1957) [42]
Maslow, A H (1956) Defense and Growth *Merrill-Palmer Quart*, *3*, 36-47 [1]
Masserman, J H and Moreno, J L (1960) *Progress in Psychotherapy IV Social Psychotherapy* New York Grune & Stratton [260]
Maurice, F D (*See* Van Dusen, 1958) [143] —[204]
Maves, P B (ed) (1953) *The Church and Mental Health* New York Chasles Scribner's Sons [4]
May, R (1953) Historical and Philosophical Presuppositions for Understanding Therapy In *Psychotherapy, Theory and Research* (O H Mowrer, ed) New York, Ronald Press [154] —(1955) *Toward A Science of Man* (Unpublished manuscript) [14]
Mead, G H (1934) *Mind, Self and Society* (Charles W.

Morris, ed and intro) Chicago University of Chicago Press [14, 155, 167] —[73, 167]
Meehl, P E , et al (1958) *What, Then, Is Man?* St Louis Concordia Publishing House [119, 213, 215, 218]
Menninger, K (1958) Personal Communication [99, 141]
Mesmer F A (*See* Steiner, 1958) [77]
Meyer, A [254]
Michalson, C (1959) *Faith for Personal Crises* London Epworth [56, 73]
Michelango [128]
Milans, H F (1945) *God At the Scrap Heaps* Chicago Salvation Army, Inc [151]
Miller, A (1949) *Death of a Salesman* New York Viking Press [56]
Miller, A(1955) In *The Renewal of Man* (R Niebuhr ed) New York Doubleday [15]
Mills C W (1959) *The Sociological Imagination* New York Oxford University Press [150]
Montague, M F A (1955) Man—and Human Nature *Am J Psychiat*, 112, 401, 410 [147]
Moore, T V (1936) Insanity in Priests and Religious *Amer Ecclesiastical Rev* , 95, 485-496 [228]
Moses [127, 128]
Mowrer, O H (1947) The Problem of Anxiety In *Learning Theorv and personalitv Dynamics* (1950), pp 531-561 New York Ronald Press [28] — (1950) *Learning Theory and Personality Dynamics* New York Ronald Press Co [91, 141] — (1951) Anxiety Theory as a Basis for Distinguishing between Counseling and Psychotherapy In *Concepts and Porgrams of counseling* (R F Berdie, ed) Minneapolis University of Minnesota Press [28-30] —(1953) *Psychotherapy—Theory and Research* New York Ronald Press Co [113, 141] —(1959) Religion as Thesis and Science as Antithesis *The Hanover Forum*, Hanover, Indiana, Vol, V, No 1, 37-46 [159] —(1960a) *Learning Theory and Behavior* New York Wiley & Sons [6] — (1960b) *Learning Theory and The Symbolic Processes* New York Wiley & Sons [9, 34] —(1961) Guilt in the Social Sciences, or The Conflicting Doctrines of Determinism and Personal Accountability In *The Effect of*

Psychiatric Theories on Modern Society (J W Wiggins & H Schoeck, eds) In Press [34, 45, 62, 205] —*See* Eysenck, 1957) [250] —[28, 249]
Muenzinger, K [34]
Nebuchadnezzar, King [34]
Niebuhr, H R (1955) Introduction to Alexander Miller's *The Renewal of Man* (1955) [15] —1960) Reformation Continuing Imperative *Christian Century*, 77, 248-251 [190-191 203]
Niebuhr, H R, Williams, D D, and Gustafson, J M (1957) *The Advancement of Theological Education* New York Harper & Bros [67, 80, 81]
Nietzsche, F (1887) *The Genealogy of Morals* (F Golffing, trans, 1956) Garden City, N Y Doubleday & Co [187] —[267]
Packard, V, (1957) *The Hidden Persuaders* New York D McKay Co [163]
Pauch, W (1960) The Christian Faith and Historical Thinking Earl Lectures, Pacific School of Religion [189, 190, 191, 195]
Paul, The Apostle [15, 121, 187, 207, 208-210, 244, 254]
Pelikan, J (1959) *Riddle of Roman Catholicism* Nashville, Tenn Abingdon Press [213]
Perkins, Sara E (1956) My 4½ Years in a Chinese Communist Prison *Presbyterian Life*, Feb 18, pp 8-12 [12]
Pfeutze, P E (1954) *The Social Self* New York Bookman Associates [167]
Pfister, O (*See* Bakan, 1958b) [127]
Pike, J A (1954) *Beyond Anxiety* New York Charles Scribner's Sons [14,15]
Pirandello, L [198]
Progoff, I (1956) *The Death and Rebirth of Psychology* New York Julian Press [22, 26, 252] —(1957) *The Cloud of Unknowing* New York Julian Press [205]
Rank, O [23, 26, 252]
Richards, I A [166]
Riese, W (*See* Shoben, 1957) [42]
Roberts, W H (1956) Psychologists Are Getting Religion *The Dalhousie Rev* (Nova Scotia), 36, 14-?? [1, 13]

Robinson, H W (1928) *The Christian Experience of The Holy Spirit.* New York Harper & Bros [88]

Rogers, C R (1951) *Client-Centered Therapy* Boston Houghton-Mifflin Co [181] —[57, 181, 182, 215]

Runestam, A (1932, republished in 1958) *Psychoanalysis and Christianity* Rock Island, Ill Augustana Press [92, 141]

Russell, Anna [56]

Schiller, J C F [181, 187]

Schleiermacher, F E D (*See* Niebuhr, 1960) [204]

Schneiderman, L (1954) Anxiety and Social Sensitivity, *J Psychol*, 37, 271-277 [1]

Shakespeare, W [97, 241, 251]

Shinn, R L (1959) *The Existentialist Posture* New York, Association Press [267]

Shoben, E J, Jr (1965) Anxiety vs. Immaturity in Neurosis and its Treatment *Amer J Orthopsychiat*, 25, 71-80 [1] —(1956) Work, Love, and Maturity *Personal & Guild J 34*, 326-332 [1] —(1957) Toward a Concept of the Normal Personality *Am Psychologist* 12, 183, 189 [37, 42]

Shrader, W (1956) Why Ministers Are Breaking Down *Life* (August 20 pp 95-104) See also *Readers Digest*, 1956, November issue, Pp 55-58, and *Christian Century*, 1956, November 7 and 28 [175]

Smith, H (1960) Toward a Socially Responsible University Curriculum Faculty Forum Address, University of Illinois YMCA, March 11 [174]

Solomon, H C (1958) The American Psychiatric Association in Relation to American Psychiatry *Amer J Psychiat*, 115, 1-9 [84]

Stafford, J W (1950) Psychology and Moral Problems *Homiletic Rev*, 57, 118-124 [113, 230, 252]

Standal, S W, and Corsini, R J (1959) *Critical Incidents in Psychotherapy* New York Prentice-Hall [101, 108, 116]

Steiner, L R (1945) *Where Do People Take Their Troubles?* Boston Houghton-Mifflin Co [76] —(1958) Are Psychoanalysis and Religious Counseling Compatible? (Paper read to Society For The Scientific Study of

Religion, Harvard University, November meeting) [76]

Stekel, W (1938) *Technique of Analytical Psychotherapy* (1950) New York Liveright [21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28, 32, 40, 75, 92, 141] —(1950) *Autobiography of Wilhelm Stekel* New York Liveright (21) —(23, 252]

Stuber, S I (1952), *The Chisrtian Reader* New York · Association Press [10]

Sullivan, H S [167, 224]

Szasz, T S (1960) The Myth of Mental Illness *Amer Psychologist*, 15, 113-118 [54]

Temple, W [202]

Thompson, F (1922) *The Hound af Heaven.* Baltimore Norman, Remington Co [171, 241]

Tilich, P (1948) *The Protestant Era* (Abridged, 1957) Chicago University of Chicago Press (123, 191, 192, 193, 202] —(1959) The Good I Will, I Do Not *Union Seminary Quart Rev*, 14, 17-23 [187, 188,] —[158, 187, 196]

Tournier, P (1957) *The Meaning of Persons* New York, Harper & Bros [196, 197, 198, 200, 205]

Troeltsch, E, (*See* Niebuhr, 1960) [204]

Ubell, E (1958) Psychoanalysis—Report on 9,000 Case Histories *Chicago Sun-Times, Sunday* July 13 , Section 2, p 3 [260]

Van Dusen, H P (1958) *Spirit, Son and Father* New York Charles Scribner's Sons [138, 139, 140, 143]

Vaughn, R P (1959) Mental Illness among Religious *Rev for Religious*, 18, 25-26 [226, 227, 228]

Virgil [130]

Waelder, R (1960) *Basic Theory of Psychoanalysis* New York International Universities Press [37]

Walters, O S (1955) Freud, his Philosophy of Life *His—Magazine of Campus Christian Living* 16, 8-11 [15]

Watson, J B (*See* Boring 1950) [5]

Watts, A W (1959) *The Way of Zen* New York New American Library [266]

Weatherhead, L D (1929) *Psychology In The Service Of The Soul* London Epworth Press [225] —(1957) *Psychology, Religion, and Healing* Nashville, Tenn ,

Abingdon-Cokesbury Press [219]

West, R F (1959) *Light Beyond Shadows* New York The Macmillan Co [87]

White, E (1955) *Christian Life and the Unconscious* New York Harper & Bros [4 12]

White R W (1952) The Dangers of Social Adjustment *The Medical Pr* 228, July 2, pp 9 15 [1]

White, V (1956) Guilt Theological and Psychological In *Christian Essays in Psychiatry* New York Philosophical Library [120]

Whitehorn, J C (*See* Fromm-Reichmann & Moreno 1956) [3]

Williamson, E G (1956) Counseling in Developing Self-confidence *Personnel & Guid, J* 34 398-404 [1]

Wilson, A (1954) *Pardon and Peace* New York Sheed & Ward [121, 224, 225, 227]

Wortis, J (1954) *Fragments of an Analysis with Freud* New York Simon & Schuster [147]

Zborowski, M , and Herzog, Elizabeth (1953) *Life Is with People* New York International Universities Press [244]

Zilboorg G (*See* Fromm Reichmann & Moreno, 1956) [3]

विषय-अनुक्रमणिका